ISSN 0975-5217
अंक 9
वर्ष 2014

भैरवी

संगीत शोध पत्रिका

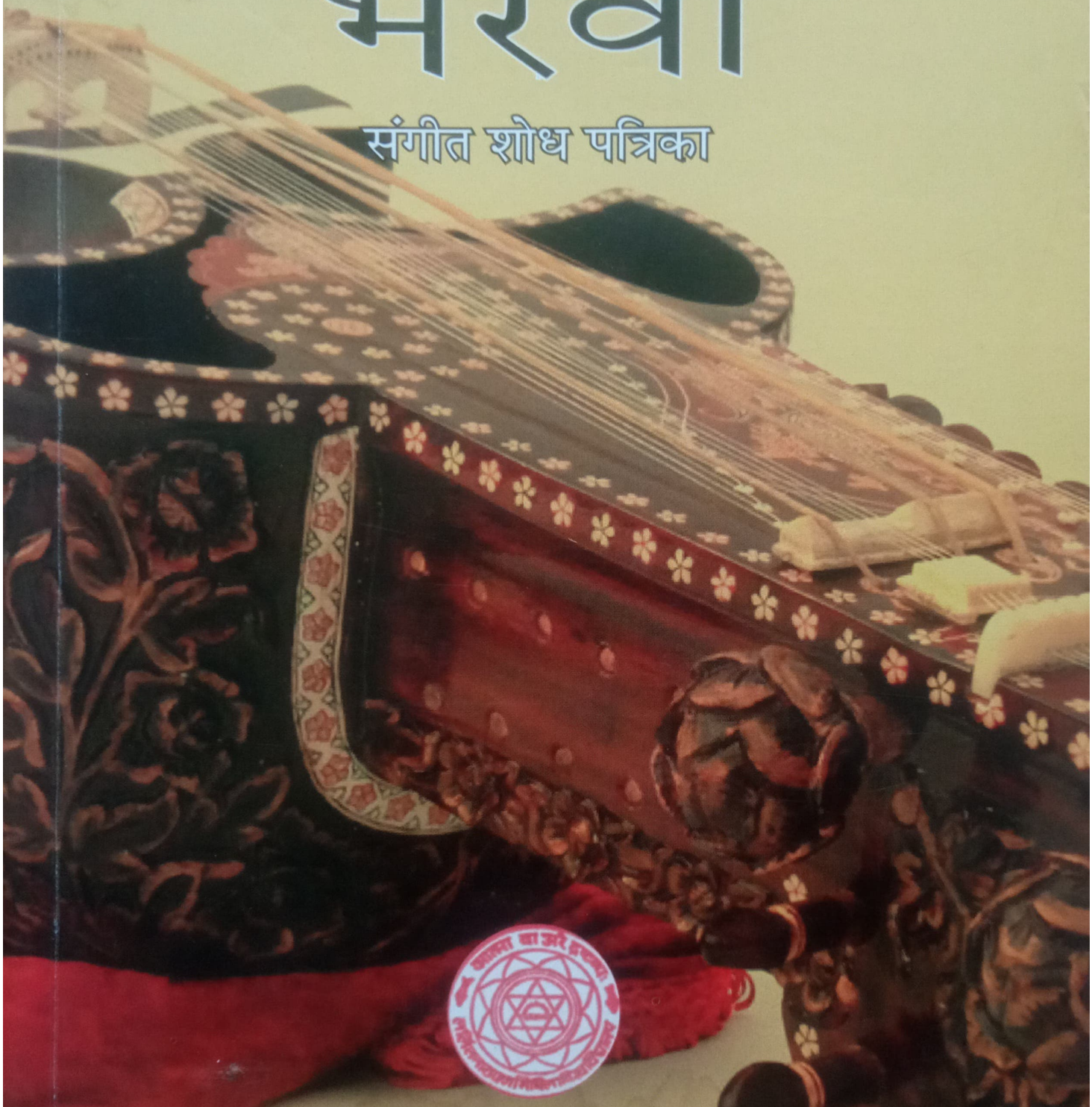

मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वरनगर, दरभंगा
(बिहार)

भैरवी

(संगीत शोध-पत्रिका)

(वर्ष 2014 अंक 9)

मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004

भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका)

वर्ष-2014, अंक : 9

प्रधान सम्पादक
डॉ. पुष्पम नारायण

प्रकाशक : मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004
दूरभाष - 06272 248340
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

मूल्य
इस अंक का मूल्य : 200/- रुपये

व्यक्तियों के लिए :

वार्षिक : 400/- रुपये / त्रैवार्षिक 1200/- रुपये

पंचवार्षिक 2000/- रुपये / आजीवन : 10000/- रुपये

संस्थाओं के लिए :

वार्षिक : 450/- रुपये / त्रैवार्षिक 1400/- रुपये

पंचवार्षिक 2300/- रुपये / आजीवन : 12000/- रुपये

(केवल मनी आर्डर / चेक / बैंक ड्राफ्ट से)
(दरभंगा से बाहर के चेक में 40 रुपये अधिक जोड़ें)

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक, प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है।
प्रकाशित रचनाओं के विचार से सम्पादक व प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं।
समस्त विवाद दरभंगा न्यायालय के अन्तर्गत विचारणीय।

मुद्रक
विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स
1/10753, गली नं. 3 सुभाष पार्क
नवीन शाहदरा, दिल्ली - 110032

प्रधान सम्पादक

डॉ. पुष्पम नारायण

एसोसिएट प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

सम्पादक मंडल

प्रो. चमनलाल वर्मा

अवकाश प्राप्त विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

प्रो. साहित्य कुमार नाहर

पूर्व विभागाध्यक्ष, संगीत एवं मंचकला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

डॉ. रवि कुमार पंडोले

प्रवक्ता, संगीत विभाग, राजकीय एम.एल.बी.जी. पी.जी. कॉलेज, भोपाल

डॉ. रामशंकर

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. संतोष दत्तात्रयराव परचुरे

प्रवक्ता, संगीत विभाग, एस.पी.एच. महिला महाविद्यालय, मालेगांव कैम्प, महाराष्ट्र

डॉ. अश्विनी कुमार सिंह

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला विभाग, एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा, गुजरात

डॉ. लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'

विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

डॉ. वेद प्रकाश

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

शिवनारायण महतो

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय

कामेश्वरनगर, दरभंगा - 846004 (बिहार)

प्रो० एस० कुशवाहा

कुलपति

सम्पर्क : 06272 - 222463 (T-F) - Office
222598 (T-F) - Resd.
222589 (T) - Resd.
मो०: 9546863462
ई-मेल vc@lnmu.in
vc-lnmu-bih@nic.in

पत्रांक VCS-2571/14

दिनांक 7/4/14

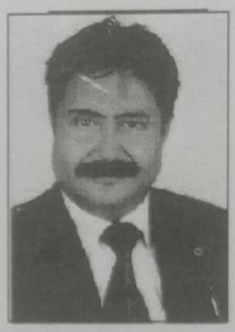

शुभकामना संदेश

यह जानकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई कि स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा (बिहार) अर्द्धवार्षिक संगीत शोध पत्रिका 'भैरवी' के नौवें अंक का प्रकाशन करने जा रहा है।

संगीत समग्र मानव जाति की भाषा होने के साथ-साथ भावनाओं के आदान-प्रदान, जीवन के परिस्कार, अलंकार और उत्कर्ष का साधन है। आज के तनाव और प्रदूषण भरे माहौल में संगीत और संगीत विषयक पत्रिकाओं की बहुत जरूरत है। यह पत्रिका सारगर्भित होगी, यह हमारा पूर्ण विश्वास है।

इस शोध पत्रिका का सफलतापूर्वक प्रकाशन एवं युवा पीढ़ी में संगीत एवं संस्कृति के प्रति प्रेम हो यह हमारी शुभकामना है।

(साकेत कुशवाहा)

कुलपति

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय

कामेश्वरनगर, दरभंगा – 846004 (बिहार)

प्रो० सैयद मुमताजुद्दीन
प्रति–कुलपति

दूर०+फैक्स : 06272 - 222186 (O)
मो० : 9835443413
ई–मेल s_mumtazuddin@rediffmail.com

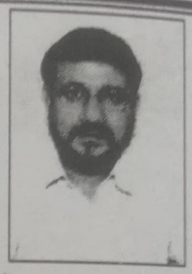

संदेश

यह जानकर अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल० ना० मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा के तत्वावधान में **'भैरवी संगीत शोध पत्रिका अंक –09''** का प्रकाशन होने जा रहा है। यह पत्रिका संगीत एवं नाट्य में रूचि रखने वाले व्यक्तियों साथ ही सभी छात्र–छात्राओं के लिए प्रेरणादायी सिद्ध होगा।

मैं इस पत्रिका की सफलता तथा संगीत एवं नाट्य विभाग के उत्तरोत्तर विकास एवं शिक्षकों, शिक्षकेत्तर कर्मचारियों, छात्र–छात्राओं के मंगलमय भविष्य की कामना करता हूँ।

25/11/14

(प्रो० सैयद मुमताजुद्दीन)

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय

कामेश्वरनगर, दरभंगा-846 004

डा0 दयानिधि प्र0 राय
कुलानुशासक

सचल दूरभाष–9431080255

शुभकामना संदेश

यह जानकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है कि स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0 ना0 मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा (बिहार) ने अर्द्धवार्षिक संगीत शोध पत्रिका "भैरवी" का वर्ष 2009 से ही प्रकाशन कर रहा है, जिसमें राष्ट्रीय स्तर के संगीत विद्वानों एवं शोध छात्रों के शोध आलेख प्रकाशित होते हैं। यह एक प्रशंसनीय विभागीय प्रयास है जो दूसरे विभागों एवं अकादमीय संस्थाओं के लिए अनुकरणीय एवं प्रोत्साहित करने वाला कदम है। इससे छात्र–छात्राओं के सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक एवं व्यक्तित्व के विकास में मदद मिलेगी, साथ–साथ छात्र–छात्राओं में शिक्षा, संगीत एवं कला के प्रति लगाव, प्रोत्साहन एवं ज्ञानवर्द्धन में एक (मानक) स्थापित करेगा।

दयानिधि
05/05/14

(डॉ0 दयानिधि प्रसाद राय)
कुलानुशासक
ल0 ना0 मिथिला विश्वविद्यालय
दरभंगा।

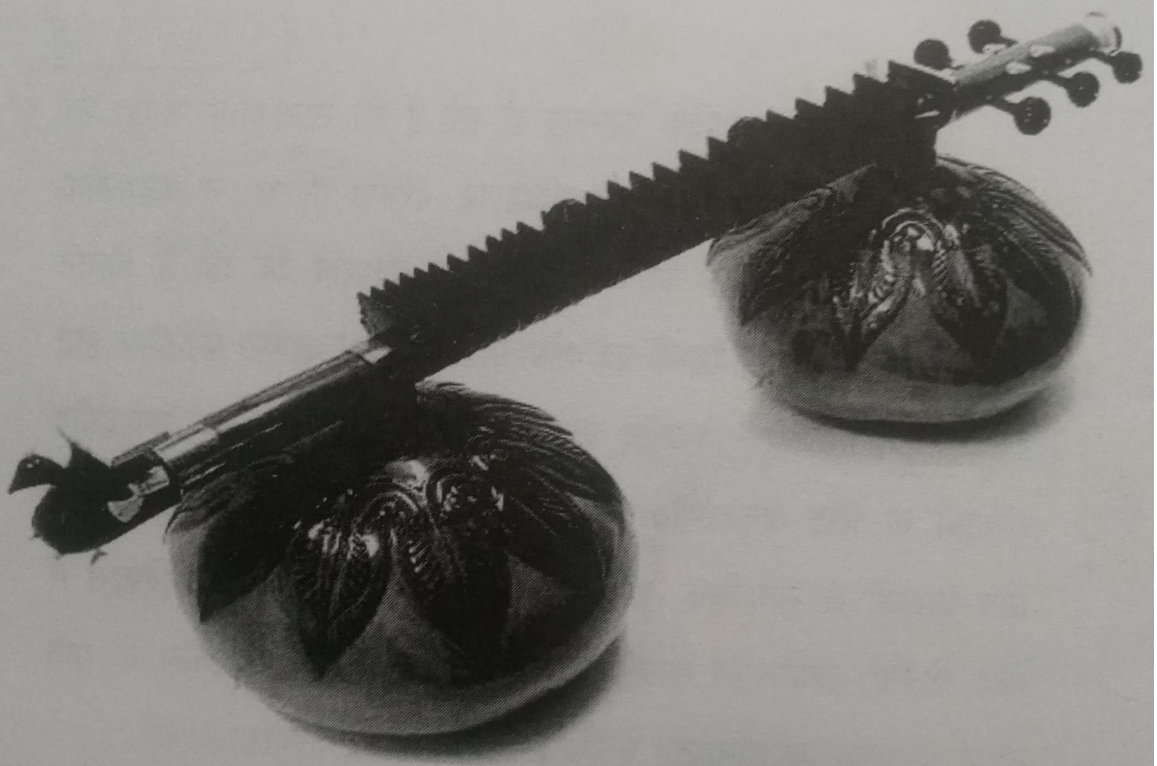

संपादक की कलम से ...

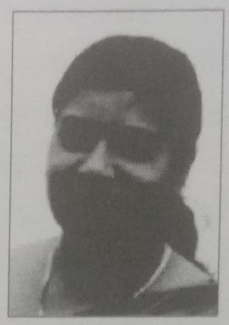

भारतीय संस्कृति उस समुद्र के समान है जिसमें सभी नदियों को अपने में समाहित करने की क्षमता है तथा उसके मूल में आज तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। मानसूनों की तरह इसने सदा सभ्यता और संस्कृति की वर्षा कर संसार भर को लाभान्वित किया है। यही कारण है कि शताब्दियों के संघर्ष के बाद भी यह जीवित है। संस्कृति के साथ-साथ ही पनपता हुआ भारतीय संगीत अपनी विकसित परम्परा के लिए लोकप्रिय है।

संगीत विश्व में सार्वभौम तत्व है। भारतीय संगीत विशेष रूप से हजारों साल पुरानी विरासत के साथ विश्व भर में अनोखी पहचान पा रहा है। वर्ल्ड म्यूजिक में सर्वोपरि स्थान भारतीय संगीत का ही है, जिसका कारण सम्भवतः यही है कि यह आत्मा को अपने मोहपाश में ले लेता है। संगीत सुनते हुए व्यक्ति के अंदर शरीर और मन का संबंध टूट जाता है और संगीत सुनकर वह समाधि अवस्था (Trance) में चला जाता है। युग परिवर्त्तन होते रहे हैं, समय परिवर्त्तन होते रहे हैं और आगे होते रहेंगे परन्तु भारतीय संस्कृति जब तक अपने मूल को लेकर लगातार विकसित हो रही है, भारतीय शास्त्रीय संगीत चाहे विश्व के किसी भी कोने में चला जाए, किसी और संस्कृति की छुअन उसके मूल को विनष्ट नहीं कर सकती। जिस प्रकार संसार का आदि और अनादि परमेश्वर है, उसी प्रकार संगीत का आदि एवं मूल तत्व भारतीय शास्त्रीय संगीत है। इस संगीत पर मनीषी साधकों की दिव्य साधना का संस्कार हो चुका है और इसकी मौलिकता ईश्वर के अस्तित्व के समान दिव्य है।

संगीत में वह एक तत्व जो सभी विधाओं को एक-दूसरे से अलग करता है वह, है उसके साथ जुड़ी देश-विदेश की संस्कृति। विश्व में भाषा-भेद या उच्चार-भेद की भाँति संगीत शैलियों में भी विविधता और विभिन्नता पाई जाती है। यह संस्कृति के कारण ही है। अर्थात् संगीत संस्कृति-वैशेषित है। विश्व भाषा होने के साथ-साथ संस्कृति का वैशिष्ट्य संगीत में वह विलक्षणता पैदा करता है, जो अन्य देशों से इसे अलग करता है।

इस सम्बन्ध में वेद का उद्घोष 'सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारः' नितान्त सत्य है। यह परिशीलन सांस्कृतिक महत्त्व के संवर्धन में सहायक है।1

पूरे विश्व में विचरण करने वाला संगीत मौलिक रूप से सात स्वरों के केन्द्र पर ही घूम रहा है। भाषा, संस्कृति, सभ्यता, जलवायु आदि की भिन्नता से संगीत का प्रतिपादन करने वाली शैलियां भिन्न हो जाती हैं। प्रदेश विशेष की विविधता से कला की भाव-भगिमाओं में भिन्नता आती है और संगीत कला का अभिव्यक्तिकरण भी भिन्न हो जाता है। एक महत्वपूर्ण बात जो हरके प्राणी के लिए सांझी है, वह है संगीत के द्वारा आनन्द की प्राप्ति।

जिस तरह से इस धरती पर पंच महाभूतों से बना प्राणी हर स्थान पर एक जैसा ही होता है परन्तु सौन्दर्य-भाव भिन्न होते हैं, उसी प्रकार विश्व में संगीत एक सा होते हुए भी शैलियों में भिन्नता पैदा हो जाती है और सौन्दर्य भाव आदि तत्त्वों में भेद हो जाता है।

आधुनिक युग में विश्व में भारतीय शास्त्रीय संगीत अत्यन्त प्रचार और प्रसार पा रहा है, उससे सांस्कृतिक अवगुठंन भी पैदा हो रहे है और सांस्कृतिक समीपता भी है। क्या विश्व एक सूत्रीय संस्कृति की ओर है! और उसके फलस्वरूप फिर मौलिकता की ओर आकर्षण एवं पुनः जागरण की चेतना है। जिस प्रकार भारतीय शास्त्रीय संगीत में 'स्थायी' का महत्व है, 'सम' से मिलने का महत्त्व है पुनः-पुनः लौटने की आकांक्षा और मिलन का संकेत है, उसी प्रकार सृष्टि के मूल सिद्धान्त के अनुसार ही पुनः जागरण की चेतना में बार-बार घर लौटने की तीव्र उत्कंठा है, सम्बन्धों से जुड़े रहने का संकेत है। पुनः जागरण की चेतना में अनेक सांस्कृतिक और धार्मिक संगठन एकजुट हो कर लगे हैं और भारतीय शास्त्रीय संगीत के अन्तर्राष्ट्रीयकरण को प्रमाणित करते हुए मूल से जुड़ने को विविक्षित हैं।

सृष्टि के विकास क्रम में हो रहे अनेक परिवर्तन एवं परिवर्धन जहां आकाश की ऊंचाईयों को छूते हैं, वहां धरती की गोद से अलग भी नहीं होना चाहते। यही भारतीय शास्त्रीय संगीत की दिव्यता का मूल है! हर साधक कलाकार का मन्तव्य है-

उठो, ले चलो, धरा से दूर आसमान में,
तारों को छू कर फिर लौट आओ हिन्दोस्तान में।

'भैरवी' संगीत शोध पत्रिका का नवम् सोपान अब आपके हाथ में है। संपादन क्रम में अमित, धैर्य और दृढ़संकल्प का अवलंब लेकर इस शोध पत्रिका को शास्त्र सम्मत, तर्कसंगत और मर्यादापूर्ण बनाने की यथासाध्य चेष्टा की गई है। मुद्रण संबंधी कठिनाईयों के कारण कभी-कभी अनेक त्रुटियां रह जाती है, प्रबुद्ध पाठकों से इस हेतु क्षमा चाहती हूँ।

—डॉ॰ पुष्पम नारायण
संपादक
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वर नगर, दरभंगा 846 004
दूरभाष - 06272 248340
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

अनुक्रम

	संपादक की कलम से ...		9
1.	वर्त्तमान संगीत शिक्षा में आदर्श शिक्षक की भूमिका	*डॉ. ईश्वरचन्द्र केदारनाथ*	13
2.	गुरु शिष्य परम्परा तथा संस्थागत शिक्षण प्रणाली : एक तुलनात्मक अध्ययन	*डॉ. रेनू जौहरी, मनीषा मिश्रा*	15
3.	शिक्षा के संदर्भ में संगीत के माध्यम से बालमनोवृत्तियों का विकास	*डॉ. रोज़ी श्रीवास्तव*	20
4.	ठुमरी : भारतीय संगीत की विशेष गेयविधा	*डा. हरजस कौर*	23
5.	प्रान्तीय लोकसंगीत में काकु	*डॉ. मधु शुक्ला*	26
6.	काशी में गायन के विविध घराने	*चित्रा चौरसिया*	30
7.	"संगीत" नई राहें नई दिशायें	*डॉ. वेणु वनिता*	33
8.	दैनिक जीवन में लोक संगीत	*निधि श्रीवास्तव*	36
9.	श्रीमती हीराबाई बड़ोदकर :- एक सिद्ध गायिका	*डॉ. संतोष दत्तात्रयराव परचुरे*	39
10.	मोहम्मद शाह रंगीले काल में संगीत में महिलाओं का योगदान	*डॉ. रामशंकर*	41
11.	कंठ ध्वनि एवं कंठ संगीत	*डॉ. पुष्पम नारायण*	44
12.	मिथिला की समृद्ध परम्परा में विद्यापति गीत	*डॉ. उदयशंकर कुमार*	49
13.	गैर सांगीतिक कार्यक्रमों में संगीत की भूमिका	*अल्पना*	52
14.	घराना : एक अध्ययन	*डॉ. अनिता रानी*	57
15.	दक्षिणात्य सप्त स्वर व उनके सोलह नामों की उपयोगिता एवं महत्ता	*श्वेता केसरी*	62
16.	धर्म एवं संगीत का अन्तःसम्बन्ध	*अनुराधा सिंह*	65
17.	आज के परिदृश्य में लोकसंगीत	*राजेश पंडित*	67
18.	घरानों की पहचान का अनोखा प्रतिबिम्ब-तानें (ख्याल गायन के विशिष्ट सन्दर्भ में)	*अमृता मिश्रा*	70
19.	नाट्यशास्त्र में ध्रुवा	*निधि श्रीवास्तव*	75
20.	प्रबंध की व्युत्पत्ति, अर्थ एवं उसके लक्षण	*आरती वाही*	78
21.	संगीत में ताल की उपादेयता	*डॉ. संजीव भण्डारी*	82
22.	भारतीय लोक संस्कृति व संगीत - परम्परा और प्रतिबिम्ब	*डॉ. प्रेम किशोर मिश्र*	84
23.	शास्त्रीय संगीत और वैज्ञानिकता (मानव - देह के सन्दर्भ में)	*गौरी खन्ना*	86
24.	भरतोक्त रस की अवधारणा : गीत (Melody) एवं छंद के संदर्भ में	*रजनीश*	90
25.	भारतीय संगीत में राग-रागिनियों के ध्यान-चित्र	*रितु सिंह*	93
26.	घराना संगीत के लिए है संगीत घराने के लिए नहीं	*डॉ. जितेन्द्र शुक्ला*	96
27.	भोजपुर क्षेत्र की प्रचलित गीत विधा कजरी	*डॉ. विजय कपूर*	98
28.	वाल्मीकि रामायण में छन्द प्रयोग	*डॉ. आशू गौतम*	101

29.	कथक नृत्य एवं भित्ति चित्रों और शैल चित्रों में संगीत एवं नृत्य की भूमिका	डॉ. संजय कुमार सिंह 104
30.	संगीत के माध्यम से मूल शिक्षा का विकास	डॉ. कुमारी बीभा 107
31.	साहित्य व संगीत	डॉ. कुमारी कंचन 110
32.	भारतीय लोक संगीत तथा उसके प्रकार	पूनम वर्मा 113
33.	संगीत में स्वर साधना (गायन के परिप्रेक्ष्य में)	श्रेया श्रीवास्तव 120
34.	संगीत और समाज	डॉ. नूतन कुमारी 123
35.	भारतीय संगीत के मौलिक चिन्तनों का दार्शनिक अनुशीलन	डॉ. राकेश रंजन 125
36.	संगीत और योग	रजनीश विश्वकर्मा 130
37.	संगीत-साधना में आध्यात्मिक पक्ष की भूमिका	शोभा कुमारी 132
38.	भक्ति आन्दोलन में संगीत के विकास के लिए आलवार के सन्तों का योगदान	डॉ. जितेन्द्र कौर 134
39.	संस्कृत नाटकों का अभिन्न अंग : पूर्वरंग	पी. मेदिनी होम्बल 137
40.	भोजपुरी लोकगीतों में लोक संस्कृति	डॉ. राजेश कुमार गुप्ता 142
41.	मगही लोकगीतों में श्रृंगार रस	राजीव कुमार चौबे 145
42.	संस्कृत नाटको में संगीत	श्रुति शाश्वत उपाध्याय 148
43.	वेदों में लोकसंगीत	चन्द्रजीत वर्मा 149
44.	"सिनेमा और साहित्य का रिश्ता 'वक्त के सांचे बदलने' की दास्तान है .....!'	डॉ. रावेन्द्र कुमार साहू 153
45.	मध्यकालीन संत कवियों की संगीत यात्रा	डॉ. अश्विनी कुमार सिंह 157
46.	Applied Ethnomusicology : A New Dimension to Indian Music	*Dr. Sudha Sahgal* 161
47.	Essence of Spirituality in the Ragas of Hindustani and Carnatic Music Systems	*Binathi.G* 168
48.	Pt. Vishwa Mohan Bhatt and Mohan Veena	*Garima Gupta* 174

वर्त्तमान संगीत शिक्षा में आदर्श शिक्षक की भूमिका

डॉ. ईश्वरचन्द्र केदारनाथ

सचराचर विश्व में कोई भी इन्सान कुछ न कुछ सीखे बिना नहीं जी सकता क्योंकि सीखने का दूसरा नाम जीवन है। पहले के जमाने में गुरूकुल परंपरा से शिक्षण दिया जाता था, आज वह स्थान विद्यालयों और महाविद्यालयों ने ले लिया है। सामान्यतः आर्ट्स, सायन्स, कॉमर्स, टेक्नोलोजी आदि विषयों के प्रशिक्षण संस्थान विश्व-विद्यालय तक ज्यादा मिलते है। इस सभी विषयों की अपेक्षा संगीत कला संस्थान कम देखने को मिलते हैं। ऐसा क्यों होता है? यह एक बहुत बड़ा सवाल हम सबके लिए है। देश में जितने भी संगीत संस्थान हैं और इसमें किस पद्धति से शिक्षा दी जाती है, वह भलीभांति जानना चाहिए। तत्पश्चात प्रवर्तमान शिक्षण शैली में क्या विशिष्टताएँ और मर्यादाएँ या खूबियाँ और त्रुटियाँ है वह जानना आवश्यक है।

अभी हम संगीत शिक्षा के बारे में विस्तार से बात करेंगे। सभी विषयों की उपाधि प्राप्त करने के बाद अर्थोपार्जन का साधन आसानी से मिल जाता है, जबकि संगीत शिक्षण में पारंगत होने के बावजूद भी अर्थोपार्जन की संभावनाएँ कम देखने को मिलता है। इसका कारण क्या है? कमी किस में है? सीखनेवाले में? सीखानेवाले में? या अपने शिक्षणशैली में? संगीत विद्या अवकाशी विद्या है, क्योंकि नादगुन आकाश ऐसा शास्त्रों कहा गया है किसी भी प्रकार की शिक्षा क्यों न हो, सभी में आदर्श शिक्षक या गुरू की महत्ता पाई जाती है। संगीत विद्या से किसी भी प्रकार की भौतिक जरूरते पूरी नहीं की जा सकती, लेकिन यह बात भी उतनी ही सही है की संगीत सुनकर जो आत्मिक आनंद या सुख मिलता है उसकी तुलना जगत की किसी भी उच्चतम भौतिकता से नहीं की जा सकती।

सर्वप्रथम संगीत सीखानेवाला अपने विषय में पारंगत हो यह जरूरी है। साथ-साथ धैर्यवान भी होना चाहिए। सीखनेवाले शिष्यों की विशेषताएँ या मर्यादाएँ क्या है, वह भी भलीभांति जानना आवश्यक है। संगीत कला में पारंगत होने के लिए निःशंक एक जीवन तो कम ही पड़ता है। वह सारी बातें जिज्ञासु विद्यार्थिओं को धैर्यवान एवं निष्ठावान शिक्षक ही बता सकता है। संगीतक्षेत्र के नवीन छात्र कभी शिक्षक से प्रश्न करते है कि क्या एक या दो साल में संगीत आ जाएगा? जहाँ एक जन्म कम पड़ता है, वहाँ यह कैसे संभव होगा? संभी संगीत महाविद्यालयों में संगीत सीखने की अवधि ज्यादा से ज्यादा चार या पाँच साल की होती है। तत्पश्चात् निर्धारित उपाधि दी जाती है। इतने कम समय में भी विद्यार्थियों को अच्छी से अच्छी शिक्षा प्रदान की जायें, यही मंत्र आदर्श शिक्षक या गुरू का होना चाहिए।

संगीत शिक्षा में गुरू प्रथमतः विद्यार्थियों को स्वर ज्ञान करवाता है फिर छोटे-छोटे स्वर समूहों को आरोह-अवरोह की रूप में लय के साथ गवाता है फिर बड़ा ख्याल या छोटा ख्याल सिखाता है इसमें आलाप तान इत्यादि सिखाता है। यह एक परंपरागत शिक्षण की बात हमने बताई। शिक्षक सीखता तो है सभी विद्यार्थी पर विद्यार्थिओं के दिलो दिमाग में विद्या का विनियोग होता है या नहीं यह जानना एक आदर्श शिक्षक के लिए ज्यादा उपयुक्त होगा।

---

* पूर्व संकायाध्यक्ष एवं अध्यक्ष, संगीत एवं मंच कला विभाग एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा, गुजरात

मेरे मतानुसार संगीत सीखने वाले जिज्ञासु विद्यार्थिओं को एक आदर्श शिक्षक सर्वप्रथम बैठक ग्रहण करना सिखाता है। गानक्रिया में प्राण की महत्तम् भूमिका रहती है क्योंकि जीवन प्राणमय है। प्राण का संचार शरीर में किस प्रकार से होता है यह सिखाना भी बहुत जरूरी बनता है इसीलिए बैठक पर ध्यान देना अति आवश्यक है। बैठक में सुखासन या पद्मासन में बैंठक चाहिए जिससे श्वासोश्वास की प्रक्रिया सही रूप से हो सकती है। दीर्ध सांस लेना और धीमी गति से सांस को छोड़ना यह एक प्राणायाम की अवस्था है। सांस को दीर्ध करने से स्वर ओजस्वी लगता है। नाद ब्रहम है, ऐसा हम सब कहते हैं लेकिन गाते समय इसका एहसास कराना यह शिक्षक के लिए चुनौती है। बसीना आमने सामने बैठकर ही सीखी जाती है। गुरूवाणी, चेहरे के भाव, आँखो के भाव पूरे शरीर में से प्रगट होनेवाली दिव्य प्रकाश और इसका ओजपूर्ण प्रभाव विद्यार्थिओं पर अवश्य पड़ता है।

आसनसिद्धि का भी बड़ा महत्व है। प्रारंभिक समय में विद्यार्थी एक आसन पर घंटों तक नहीं बैठ सकता शायद उम्र का भी प्रभाव हो सकता है। इस स्थिति में शिक्षक को स्वयं एक आसन में आरूढ़ होकर सीखाना पड़ेगा, तब ही शिष्य यह तरीका धीरे-धीरे सीख जाता है। विद्यार्थिओं के लिए गुरू ही प्रेरणा मूर्ति होता है और अक्सर विद्यार्थी गुरू की ही नकल करता है। इसीलिए आदर्श शिक्षक जिसे विद्या के प्रति असीम श्रद्धा हो, समर्पित हो और समय का पाबंद हो वही विद्यार्थिओं में यह संस्कार का सिंचन कर सकता है। निर्धारित अभ्यासक्रम सीखाना और सही रूप में संगीत सिखाना उसमें जमीन आसमान का फर्क है।

अन्य विषयों में अर्थोपार्जन सहज मिलता है तो संगीत में क्यों नहीं? संगीत सुननेवालों का एक खास और सीमित वर्ग है जो सच्चा संगीत सुनने के लिए तरसता है और यह तृष्णा संतृप्त करना कलाकार का धर्म है। जब सुननेवाला कलाकार का प्रसंशक बन जाता है तो बार-बार सुनने की कामना करता है और ऐसे सुशिष्यों को मंच पर आने की और अपनी कला प्रस्तुत करने की सुविधा प्रदान करता है।

शिष्य जितना गुरू के चरणों में समर्पित एवं सत्संग में रहेगा उतना ही वो अपनी विद्या में पारंगत होगा। वर्ग खंड में सिखाये जानेवाला अभ्यास क्रम निर्धारित समय में पूर्ण करना यह भी आदर्श शिक्षक का लक्षण है। एक राग जब पूर्ण रूप से विद्यार्थी नहीं सीख पाता तब तक दूसरा राग सिखाना नहीं चाहिए। वर्त्तमान संगीत शिक्षा में ख्याल गायन प्रमुख स्थान पर है। ख्याल यानी विचार, को स्वयं की कल्पना शक्ति से संगीत की विशिष्ट स्वराकृति में ताल के साथ गुंथकर इसका विस्तार करना यह ख्याल का अर्थ है।

ख्याल में प्रयुक्त होने वाला साहित्य और इसका अर्थ, भाव और रस का दर्शन एक आदर्श शिक्षक या गुरू ही करवा सकता है। संगीत में स्वर, शब्द और ताल का त्रिवेणी संगम होना चाहिए यह तीनों तत्व दिव्य संगीत निष्पन्न करने के साधन है। साधन जितना शुद्ध होगा उतना ही साध्य भी, शुद्ध और दिव्य होगा। ख्याल के साहित्य के अर्थ, भाव और रस को ठेस न पहुँचे इस प्रकार की लय चुननी चाहिए। वर्तमान समय में विलंबित ख्याल में ताल का उपयोग केवल मुखड़ा पकडने के लिए ही होता है। ऐसा प्रतीत होता है। बंदिश जिस ताल में निबंध की गई हो उस ताल की एक-एक मात्रा गायन में दिखनी चाहिए इसलिए मेरे मतानुसार वर्त्तमान समय में मध्य विलंबित यानि ताल लय में गाना श्रोताओं के और कलाकार के लिए ज्यादा उपयुक्त होगा।

संगीत क्षेत्र के सभी विद्यार्थी एवं कला गुरूओं जो संगीत को समर्पित हैं उन सभी का जीवन मंत्र यही होना चाहिए कि वर्तमान समय के अन्य सांगीतिक प्रकारों के बीच संगीत को जीवित रखना है, इतना ही नहीं बल्कि संगीत की दिव्यता और शाश्वत की ओर ले जानेवाले नादब्रहम रूपी स्वर विद्या का दर्शन सुज्ञ श्रोताजनों को भी करवाना है। संगीत विद्या में खुद की पहचान करवाना मुश्किल है पर सदगुरू की कृपा से यह भी आसान हो सकता है और साधक सदेहात्मक जीवन मुक्ति का आनंद ले सकता है।

गुरु शिष्य परम्परा तथा संस्थागत शिक्षण प्रणाली : एक तुलनात्मक अध्ययन

डॉ. रेनू जौहरी,
मनीषा मिश्रा

यदि संसार के प्रत्येक देश का सांस्कृतिक निरीक्षण किया जाय तो लगभगर हर देश में संगीत कला का महत्त्व दृष्टिगोचर होता है। मनुष्य अपने विकास काल के आरम्भ में जब वर्णात्मिका वाक् तथा अन्य साधनों से अपरिचित था, तब से अभिव्यक्ति के दो सशक्त साधन उसके पास रहे हैं- विभिन्न आंगिक संकेत और नादात्मिका वाक्। मतंग ने कहा है :-

नाद रूपः स्मृतो ब्रघ नाद रूपो जनार्दनः।
नाद रुपा पराशक्ति नाद रुपो महेश्वरः।।[1]

इस सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति का अपना एक इतिहास रहा है। हमारी कलाएं सदा से ही 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' से प्रेरित रही है। पाँच ललित कलाओं में संगीत को सर्वोत्तम उत्कृष्ट कला के रूप में जाना जाता है। प्रत्येक काल में संगीत की अपनी एक भूमिका रही है। आदिकाल से वर्त्तमान काल तक हमारा संगीत एक लम्बा सफर तय करते हुए कई पड़ावों से होकर गुजरा है तब उसका यह प्रतिष्ठित रुप निखर कर आज हमारे सामने आया है। संगीत के शास्त्रीय स्वरुप को बनाए रखने में संगीत के शैक्षिक पक्ष की महत्ता को नकारा नहीं जा सकता। शिक्षा की प्रक्रिया युग सापेक्ष होती है। युग की गति एवं उसके नए-नए परिवर्तन के आधार पर प्रत्येक युग में शिक्षा के साथ-साथ शिक्षण का स्वरुप एवं दृष्टिकोण भी बदलता रहता है। यदि हम संगीत शिक्षण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट दृश्य है कि संगीत शिक्षा की परम्परा वैदिक युग से ही रही है।

वैदिक युग में संगीत शिक्षा 'गुरु-शिष्य परम्परा' द्वारा दी जाती थी। जिस प्रकार समस्त साहित्य दर्शन, वेद आदि श्लोकों के रूप में मुखस्थ किए जाते थे। उसी प्रकार संगीत जो मुख्यतः मौखिक एवं प्रदर्शनात्मक कला है, गुरुमुख से ही सीखकर आत्मसात् की जाती थी।[2] गुरुकुल में रहकर गुरुमुख से निःसृत वाणी को कठोर अनुशासन, नियमित एवं संयत जीवन व्यतीत करते हुए अनवरत रुप से ग्रहण करते जाना ही शिक्षा का एकमात्र साधन था।

कालान्तर में 'गुरु-शिष्य परम्परा' ने धीरे-धीरे घरानों का स्वरूप ले लिया तथा 'घराना परम्परा' मुगलकाल संगीत शिक्षण की प्रमुख विशेषता के रूप में सजीव हो उठी। 'घराना-परम्परा' में संगीतज्ञ प्रायः अपने संगीत को अपने तक ही सीमित रख सीना-ब-सीना संगीत की तालीम मात्र अपने पुत्रों अथवा विशेष शिष्यों को ही प्रदान किया करते थे। किन्तु संगीतज्ञों में प्रतिस्पर्धा की भावना से तथा साधना के फलस्वरूप विषय कौशल की दृष्टि से इन संगीतज्ञों ने अपने संगीत में जो विशिष्ट सौन्दर्य निर्मित्त किया वही उनके गायन-वादन का वैशिष्टय बन गया। तीन-चार पीढ़ियों तक मौखिक रूप से प्रवाहित होने पर विशिष्ट गायन/वादन शैली में निहित सौन्दर्यात्मक तत्त्व उस मूल गायक/वादक के शिष्यों-प्रशिष्यों के कला प्रदर्शन पर रूढ़ हो जाते थे।

स. आचार्य (तबला) संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
शोध छात्रा, संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

शनैः शनैः घरानों की अंतिम कड़ी के रुप में विष्णुद्वय ने संगीत के पुनरुद्धार हेतु अथक परिश्रम किया और इसे सर्वजन सुलभ बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। संगीत जो सभ्य समाज से बहिष्कृत एवं तिरस्कृत हो चुका था, वह विष्णुद्वय के प्रयासों के फलस्वरूप एक अपूर्व चेतना का कारण बना तथा 1886 में मौलाबख्श द्वारा सर्वप्रथम संगीत विद्यालय 'बड़ौदा स्टेट म्यूजिक स्कूल' की स्थापना के साथ ही आविर्भाव हुआ संगीत की **'शालेय शिक्षण परम्परा'** का। यद्यपि संस्थागत शिक्षण प्रणाली का आरम्भ 6वीं व 7वीं शताब्दी में नालन्दा विश्वविद्यालय में संगीत शिक्षा की व्यवस्था, 10वीं शताब्दी में बीजापुर जिले के सलोरगी के मंदिर के एक कक्ष में संगीत विद्यालय की स्थापना, 11वीं शताब्दी में चिगलीपुट जिले में वेंकटेश्वर के मन्दिर में तथा 14वीं शताब्दी में तिरावोर्थिपुर व मुल्कापुरम् में विद्या मन्दिर की स्थापना के साथ ही हो चुका था।[3] परन्तु पूर्ण रुप से संस्थागत शिक्षण पद्धति के द्वारा भारतीय संगीत की सुर-सरिता को जन सामान्य के घरों तक पहुँचाने का सम्पूर्ण श्रेय विष्णुद्वय को ही जाता है। पं. भातखण्डे जी ने अपने इस स्वप्न का उल्लेख कुछ इस प्रकार किया है :-

"The mighty mansion of music should become accessible to all rich and poor, high and low, girls and boys irrespective of age and social status".[4]

पं. भातखण्डे व पं. विष्णुदिगम्बर द्वारा प्रतिपादित इस कार्य को उनके योग्य, कुशल गायक-वादक कलाकार शिष्यों ने आगे बढ़ाया तथा इस महायज्ञ में सामर्थ्यानुसार योगदान दिए। फलस्वरूप कालक्रम के साथ अन्यान्य क्षेत्रों में हुए विकास एवं परिवर्तन के समय में समाज में संगीत कला की प्रतिष्ठा है और यह विश्वविद्यालय-स्तरीय पाठ्य-विषय है व कतिपय प्रदेश में माध्यमिक स्तर पर संगीत के पठन-पाठन की व्यवस्था है।

जैसे-जैसे राज-दरबारों की प्राचीर को चीरकर संगीत बाहर आया और युग परिवर्तन के साथ-साथ विद्यालयों और विश्वविद्यालयों के प्रांगण में प्रविष्ट हुआ, तो इसके तथाकथित शास्त्रीय स्वरूप को रूढ़ियों के निविड़तम् कूप से निकालकर नया कलेवर प्रदान करने की ओर शिक्षाशास्त्रियों का ध्यान गया। शताब्दियों का बंदी मुक्त होकर विचरने लगा। प्रतिबंध हटा, किंतु प्रतिस्पर्धा बढ़ी। ज्यों-ज्यों चिकित्सा हुई, रोग बढ़ा, संभवतः इसलिए कि रोग का निदान निर्विवाद रूप से नहीं हो पाया। अर्वाचीन की तड़क-भड़क में प्राचीन को त्याज्य घोषित करने वालों की संख्या बढ़ी, अतः शिक्षा-शास्त्रियों के सन्मुख प्राचीन के संरक्षण और नवीन से सामंजस्य की एक विलक्षण वैषम्यपूर्ण स्थिति आई।[5] विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में संगीत शिक्षण प्रारम्भ होने से जहाँ एक ओर संगीत सीखना सर्वसुलभ हो गया वहीं संगीत शिक्षण से सम्बन्धित कई समस्याएं भी उठ खड़ी हुई। यद्यपि, संगीत आज सर्वसुलभ है किन्तु संगीत के आन्तरिक तत्त्वों को उभरने का अवसर नहीं मिल पा रहा है।[6]

परिणामस्वरूप आज की संगीत शिक्षण प्रणाली से जुड़े कुछ ज्वलन्त प्रश्न स्वतः ही हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं, यथा-

क्यों हो रही है संगीत शिक्षण के क्षेत्र में यह अवनति? क्या वर्तमान संगीत शिक्षा संगीत के प्रचार-प्रसार और संरक्षण का कार्य व्यापक स्तर पर करने में सफल है? कहीं वर्तमान समय में अन्य विषयों के साथ दौड़ और होड़ करते हुए संगीत शिक्षा का सूक्ष्म और साधनामय रूप खो तो नहीं रहा ? क्या विद्यार्थी और शिक्षक अपने-अपने दायित्वों का निर्वाह पूर्ण ईमानदारी से कर रहे हैं? क्या संगीत के दोनों पक्षों-क्रिया और शास्त्र की शिक्षा समान रूप से विद्यार्थियों को दी जा रही है?[7] यद्यपि पुरानी गुरु-शिष्य परम्परा नष्ट हो रही है, संस्थागत शिक्षा पद्धति में संगीत सीखने वाले छात्रों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है। सिखाने वाले शिक्षक, प्राध्यापक भी उच्च विद्या विभूषित है। पारम्परिक साधनों के साथ ही इलेक्टॉनिक वाद्यों की सहायता लेना आज सम्भव है। स्कूलों, महाविद्यालयों में अच्छे, खुले, हवादार कक्ष हैं। तथापि कुल मिलाकर शास्त्रीय, उपशास्त्रीय संगीत की प्रस्तुति का स्तर बढ़ता नहीं दीख पड़ता। गिने चुने उभरते कलाकार हर विद्या में अर्थात् गायन, स्वरवाद्य तालवाद्य एवं

नर्तन के क्षेत्र में दिखाई दे रहे हैं किन्तु संस्थागत प्रणाली में इतने अधिक विद्यार्थियों को एक साथ सिखाया जाता है कि उनमें से एक या दो प्रतिशत भी दुर्भाग्य से कलाकार नहीं बन पाते।[8] क्यों? संस्थागत शिक्षा आज चिंता का एक विषय बन गई है। गुरु-शिष्य परम्परा के स्थान पर संगीत शिक्षण संस्थाओं द्वारा संगीत शिक्षा की पद्धति का प्रादुर्भाव लगभग सौ वर्ष पूर्व की घटना है। इस नवीन पद्धति से संगीत शिक्षा के वर्त्तमान और भविष्य के सम्बन्ध में आज विचार होना समायोजित ही है।[9] इस समस्या के समाधान हेतु यद्यपि विगत कई वर्षों से निरन्तर प्रयत्न हो रहे हैं तथा गोष्ठियों इत्यादि में भी संगीत के विद्वजनों द्वारा इस विषय पर विचार-विनिमय होता आ रहा है किन्तु समस्या उचित समाधान के अभाव में ज्यों की त्यों बनी हुई है।

यदि हम प्राचीन गुरु-शिष्य परम्परा एवं अर्वाचीन शालेय शिक्षण परम्परा के तुलनात्मक स्वरुप पर दृष्टिपात करें तो दोनों ही शिक्षण पद्धतियाँ कुछ गुण एवं कुछ दोषों के साथ एक सफल शिक्षण पद्धति के मानक पर खरी नहीं उतरती। वास्तव में गुरुकुल पद्धति की कमियों को दूर करना ही संस्थागत संगीत शिक्षण के जन्म का मूल कारण रहा और यह कहना निश्चित रूप में गलत नहीं है कि इस कार्य में संस्थागत शिक्षण प्रणाली ने कुछ हद तक सफलता भी प्राप्त की है, लेकिन साथ ही अन्य ऐसी अनेक समस्याओं का उद्भव भी हो गया है, जिनसे आज का विद्यार्थी, शोधार्थी, शिक्षक और प्रशासन भी अनभिज्ञ है।[10] जहां तक इन शिक्षण संस्थाओं के योगदान की बात कही जाय तो वह अतुलनीय है। इन शिक्षण संस्थाओं ने संगीतकारों को समाज में उच्च स्थान दिलवाने, जनसाधारण को संगीत की सुलभता प्रदान करने में महती भूमिका निभाई है।[11] किंतु दूसरा पहलू यह भी है कि शिक्षण-संस्थाओं की जहां एक ओर असंख्य उपलब्धियां हैं वहाँ न्यूनताएं भी कम नहीं हैं। दो सौ वर्ष पूर्व के संगीत और आज के संगीत में पर्याप्त अन्तर आ चुका है।

गुरु-शिष्य परम्परा के अन्तर्गत शिष्य गुरु-गृह में रहकर गुरु सानिध्य में संगीत की शिक्षा ग्रहण करता था। जबकि आज शिष्य को स्कूलों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों के कक्ष में शिक्षा दी जाती है। शिक्षण स्थल के अन्तर के अतिरिक्त शिष्य चुनाव की कसौटी में भी अन्तर द्रष्टव्य है। गुरु-शिष्य परम्परा में गुरु शिष्यों को उनकी ग्रहण शक्ति अथवा योग्यता के आधार पर चुनते तथा शिक्षा दिया करते थे। आज शिष्यों का चुनाव प्रवेश परीक्षा में उनके प्राप्तांकों के आधार पर होता है। परिणामस्वरूप जहां गुरु-शिष्य परम्परा में शिष्यों की संख्या सीमित होती थी वहीं शालेय संगीत शिक्षण पद्धति में हर कक्षा में विद्यार्थियों की संख्या 15-35 या कभी-कभी इससे भी ज्यादा हो जाती है।

घरानों के माध्यम से शिक्षा प्राप्त गायकों का एक विशिष्ट स्तर रहता हैं। जबकि शिक्षा संस्थाओं की शिक्षा पद्धति में औपचारिकता की प्रधानता होने के कारण इनका मुख्य उद्देश्य परीक्षा पास कराना तथा प्रमाण-पत्र दिलवा देना मात्र रहता है। अतः इन विद्यालयों से निकले हुए छात्र प्रायः संगीत के व्यवहारिक पक्ष में स्तरीय नहीं रहते परन्तु अपवाद हर जगह होते हैं। संगीत का जो मुख्य लक्ष्य है स्वतः को तल्लीनता के साथ-साथ श्रोताओं को भी आन्तरिक आनन्द व तल्लीनता प्रदान करना, वह क्षमता अधिकांशतः घरानों से निकले हुए गायकों में ही होती है।[12]

गुरु-शिष्य परम्परा में प्रायः गुरु कोई निश्चित पाठ्यक्रम न होने के कारण एक ही राग/ताल को **'एक साधे सब सधे, सब साधे सब जाय'** की तर्ज पर वर्षों रियाज़ करवाते थे तथा शिष्य के पूर्ण रूप से पारंगत हो जाने के पश्चात ही उसे प्रदर्शन/प्रस्तुतीकरण की अनुमति प्राप्त होती थी। आज ऐसा नहीं है। संस्थागत शिक्षण प्रणाली में शिक्षक को एक निश्चित पाठ्यक्रम तैयार करवाना होता है। अतः रियाज़ पक्ष गौण उद्देश्य एवं पाठ्यक्रम पूरा करवाना प्राथमिक उद्देश्य हो गया है। प्रदर्शन/प्रस्तुतीकरण हेतु गुरु-अनुमति अति आवश्यक न होने से प्रस्तुतीकरण का स्तर भी निम्न स्तरीय होने की संभावना बनी रहती है।

प्राचीन शिक्षण पद्धति छात्रों के क्रियात्मक पक्ष पर अत्यधिक जोर देती थी फलस्वरूप विद्यार्थियों को क्रियात्मक पक्ष का प्रबल ज्ञान होता था किन्तु

शास्त्र पक्ष में वे प्रायः 'लकीर के फकीर' के समान थे। गुरु जिस नियम को जैसे बताते थे, शिष्य को वह उसी रूप में स्वीकारना होता था। प्रश्नोत्तर अथवा तर्क-वितर्क की अनुमति नहीं होती थी। फलस्वरूप इस अंधानुकरण की प्रवृति के कारण विद्यार्थी की अपनी कला का पूर्ण प्रस्फुटन नहीं हो पाता था। साथ ही शास्त्र की दृष्टि से कलाकार पूर्णतः कमजोर होता था। इस सन्दर्भ में परिस्थितियाँ आज पूर्णतः भिन्न हैं। आज की संगीत शिक्षण पद्धति में विद्यार्थियों को क्रियात्मक पक्ष के साथ-साथ शास्त्र पक्ष का भी पूर्ण ज्ञान दिया जाता है। फलतः आज के कलाकार को यह भली-भांति ज्ञात होता है कि यह क्या है और इसका रूप ऐसा क्यों है ? आज के विद्यार्थियों को शोधकार्य, संगोष्ठी, कार्यशालाएं एवं सेमिनार इत्यादि का भी लाभ शिक्षण संस्थाओं द्वारा उपलब्ध होने से उसका दृष्टिकोण भी विशाल है।

प्राचीन गुरु-शिष्य परम्परा में संगीत शिक्षण का ढंग मौखिक होने के कारण विद्यार्थी पूर्ण-रूपेण गुरु पर निर्भर रहते थे। यदि कोई शिष्य गुरु को याद कराया पाठ भूल जाए तो पुनः उसे याद करने का कोई तरीका नहीं था। परन्तु शालेय संगीत शिक्षण में विद्यार्थियों को 'स्वरलिपि पद्धति' टी.वी., टेप-रिकार्डर, वॉइस-रिकार्डर, सी.डी., वीडियो-कॉलिंग, श्रव्य-दृश्य पुस्तकालय जैसी अनेक प्रकार की वैज्ञानिक सुविधाएं प्राप्त हैं। वह जब चाहे तब इनका प्रयोग कर अपने पाठ को पुनःस्मरण कर सकता है।

संगीत-शिक्षण पद्धतियों के विभिन्न पक्षों पर विचार करने से जो निष्कर्ष समक्ष आता है उसके अनुसार यदि संगीत-शिक्षण का स्तर ऊँचा उठाना है, समाज में उच्च कोटि के संगीतकार पैदा करने हैं तो गुरु-शिष्य परम्परा और संस्थागत-शिक्षण दोनों प्रणालियों में सुधार करने होंगे।

यद्यपि संस्थागत शिक्षण प्रणाली वर्तमान प्रजातान्त्रिक शासन व्यवस्था का सच है किन्तु गुरु-शिष्य परम्परा भी पं. रातांजनकर जैसे शिक्षाविदों के अनुसार श्रेष्ठ शिक्षा है।[13] इनमें से कोई भी एक शिक्षण-प्रणाली दूसरी प्रणाली का प्रतिस्थापन नहीं है। एक युग की मांग गुरु-शिष्य परम्परा थी तो आज के युग और परिस्थितियों की मांग दूसरी संस्थागत-शिक्षण प्रणाली है। परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि दोनों में से किसी एक को अधिक उपयोगी और दूसरी प्रणाली को कम उपयोगी कहा जा सकता है। वास्तविकता यह है कि इन दोनों व्यवस्थाओं की अपनी-अपनी विशेषताएं और कमियां हैं। गुरु-शिष्य पद्धति का प्रभाव पैना और गहरा है तो संस्थागत-व्यवस्था का प्रभाव व्यापक है। इसी प्रकार पहली पद्धति श्रम और समय की दृष्टि से लम्बी है तो दूसरी खर्चीली और सतही है। ऐसी स्थिति में आवश्यकता इस बात की है कि उपलब्ध दोनों व्यवस्थाओं में समय के साथ-साथ जो कमियां आ गई हैं उन्हें दूर कर पुनः नई शक्ति और ऊर्जा के साथ क्रियान्वित किया जाए तो निश्चित रूप से अच्छे परिणाम सामने आयेंगे।[14] यद्यपि नये घरानों की निर्माण प्रक्रिया रूक गई है, किन्तु जो घराने हैं उनमें वंशजों एवं शिष्यों को तालीम दी जा रही है। देश-विदेश के विभिन्न प्रतिष्ठित समारोहों में प्रतिष्ठित मंचों पर उनकी कला प्रस्तुतियों का रसास्वादन आज भी किया जा रहा है। एक उल्लेखनीय बदलाव यह देखने को मिल रहा है कि बड़े-बड़े उस्ताद पंडित पद्मश्री, पद्मभूषण भी अपने वंशजों को शिक्षित कर रहे हैं व उच्च शिक्षण संस्थानों में उन्हें शिक्षक पदों पर आसीन देखने में रूचि प्रदर्शित कर रहे हैं वहीं शिक्षण संस्थानों से स्नातक/स्नातकोत्तर एवं शोध उपाधि धारक छात्र/छात्राएं एवं इन संस्थाओं के शिक्षक भी संगीत की गहन शिक्षा हेतु सम्मानित शैक्षिक उपाधियों को ग्रहण करने के पश्चात् घरानेदार गुरुओं के दर पर जा रहे हैं व अपनी शिक्षा को गुणवत्ता प्रयोग की दृष्टि से पूरक बनाकर उसका लाभ अपने छात्र/छात्राओं को दे रहे हैं। यह एक शुभ लक्षण है। वस्तुतः संगीत शिक्षण के जितने भी रूप हैं ये सभी संगीत के उन्नयन हेतु ही हैं।[15]

संदर्भ

[1] डॉ. राजश्री, सांस्कृतिक शिक्षा के उद्विकास में संगीत का योगदान, पृ. भूमिका

[2] (ले.) नेगी सरिता, (सं.) श्रीवास्तव डॉ. संगीता, वर्तमान संगीत शिक्षा की शिक्षण पद्धतियां एवं तकनीकियां पृ. 30

[3] नेगी सरिता, श्रीवास्तव डॉ. संगीता, वर्तमान संगीत शिक्षा की शिक्षण पद्धतियां एवं तकनीकियाँ पृ. 30
[4] सेबेस्टियन पर्ली, वर्तमान परिप्रेक्ष्य में शालेय संगीत शिक्षाः दशा एवं दिशा, संगीत पत्रिका (अगस्त 2010) पृ. 17
[5] मेहरा कु. प्रभा, संगीत शिक्षण की समस्याएं और उनका समाधान, संगीत पत्रिका (मार्च1976) पृ.28
[6] शर्मा प्रो. स्वतन्त्र, सौन्दर्य रस एवं संगीत, पृ. 288
[7] सक्सेना डॉ. गुलशन, संगीत शिक्षा के वर्त्तमान ढांचे में सुधार की आवश्यकता, संगीत पत्रिका (अप्रैल 2010) पृ. 28-29
[8] पटवर्धन डॉ. सुधा, संगीत कला : सिखाए न बने, संगीत पत्रिका (अप्रैल 2011), पृ. 47-48
[9] गोखले श्री रा.गो., संगीत शिक्षण संस्थाओं द्वारा संगीत शिक्षा 'वर्त्तमान और भविष्य' का संक्षिप्त सार, संगीत कला विहार पत्रिका (नवम्बर 1996) पृ. 25
[10] 'यमन' डॉ. अशोक कुमार, संगीत शिक्षण के कारण और निवारण, संगीत पत्रिका (सितम्बर 2011) पृ. 5
[11] रानी डॉ. भावना, शास्त्रीय संगीत की लोकप्रियता में सांगीतिक संस्थाओं का महत्व, पृ. 95-96
[12] (ले.) आठले मामा (सं.) पलनीटकर डॉ. अलकनन्दा, शास्त्रीय संगीत शिक्षाः समस्याएं एवं समाधान, पृ. 66
[13] पटवर्धन डॉ. सुधा, संगीत कला : सिखाए न बने, संगीत पत्रिका (अप्रैल 2011) पृ. 47
[14] कपूर डॉ. तृप्त, उत्तर भारत में संगीत शिक्षा, पृ. 159
[15] डॉ. रेनू जौहरी (शोध निर्देशिका)

शिक्षा के संदर्भ में संगीत के माध्यम से बालमनोवृत्तियों का विकास

डॉ. रोज़ी श्रीवास्तव

किसी भी देश में उन्नति के पायदानों पर चढ़ने से पहले वहां की कला, संस्कृति और सभ्यता तीनों की ही मुख्य भूमिका होती है तथा तीनों ही पहलुओं को आंकने से पहले यह बात हमें स्पष्ट रूप से जान लेनी चाहिये कि इसकी दो मुख्य कड़ियाँ हैं:- पहला शिक्षा जिसके माध्यम से एक सुनिश्चित दिशा मिलती है, दूसरा भावी राष्ट्र के निर्माता उस देश के बच्चे। प्रश्न यह उठता है कि दोनों के बीच अर्थात् शिक्षा एवम् बच्चों के बीच वो कौन सी कड़ी है? वो कौन सा सरल से सरल माध्यम है? जो बच्चों में सुसंस्कारों का बीजारोपण कर सके जिससे विशाल वट वृक्ष की छाया घनी हो, अतः उसे पल्लवित एवं पोषित कर सके। यही हमारे चिन्तन का विषय है कि बालकों के शिक्षण को किस प्रकार प्रभावशाली बनाया जाये ताकि बालक शीघ्रातिशीघ्र अपने को उस सांचे में ढाल सकें। गहराई से सोचें तो दो बातें उभर कर सामने आती हैं जिससे बालक हर पहलू को स्वयं आत्मसात् कर सकता है इसका पहला पक्ष खेल एवं दूसरा पक्ष संगीत है। शिक्षा के संदर्भ में मनोवैज्ञानिक पहलुओं को ध्यान में रखते हुए सांगीतिक धरातल पर बालक के व्यक्तित्व का विकास कैसे हो? इसी बिन्दु पर ध्यान दिलाना चाहती हूँ इसलिए शिक्षण की वो कौन सी प्रक्रिया अपनाई जाये जिससे बालक का चहुँमुखी विकास हो। इस बारे में यदि गहराई से सोचें तो कुछ बिन्दु सामने आते हैः- पहला शिक्षा पद्धति कैसी हो? दूसरा शिक्षण की क्या प्रक्रिया हो? यदि संगीत माध्यम हो तो क्या हमें सकारात्मक परिणाम मिलेगें? अतः यहाँ आवश्यक है कि संगीत की पृष्ठभूमि के बारे में संक्षेप में चर्चा करें, जो अतीत में भी हमारी कला संस्कृति का गौरव रहा है।

संगीत स्वयं आनन्द का अविर्भाव है। पुरूषार्थ चतुष्टयी का सबसे सरल माध्यम है। संगीत जीवन के ताने-बाने का वह धागा है जिसके बिना सत् चित् एवं आनन्द को हम प्राप्त नहीं कर सकते हैं। संसार की सभी कलाओं और विद्याओं में संगीत का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटों के अनुसार[1] संगीत आत्मा का सौन्दर्य है, यह मानसिक व्याधि की औषधि है और साथ ही आत्मा के लिए उत्तम भोज्य पदार्थ भी। मार्टन लूथर[2] के अनुसार संगीत विश्व का नैतिक विधान है। यह विश्व को दिव्य सौन्दर्य प्रदान करता है। मानव के मस्तिष्क में नवीन रंग भरता है और भावनाओं में रंगीन उड़ान की नयनाभिराम् सुषमा एवम् निराशा के प्रांगण में आनन्द का प्रपात प्रवाहित करता है। जीवन और उत्साह के अभिनव स्फुरणों को मुखरित करता है। निष्कर्ष यह है कि संगीत भौतिक जीवन में उपयोगी होने के साथ-साथ आध्यात्मिक जीवन में भी प्रेरणा का स्त्रोत है। यूं तो सीखने की प्रक्रिया मानव की जन्म से मृत्यु पर्यन्त तक चलती रहती है पर किसी भी बच्चे में औसतन पांच वर्ष के पूर्व तक बुद्धि-विवेक, ज्ञान या उसकी समझ धुंधली सी रहती है। पांच वर्ष के कुछ समय बाद तक उसकी कुछ आदतें, स्वभाव या कहें की व्यवहार सामने आता है। यह सही समय होता है जब हम उसमें छिपे अच्छे संस्कारों को विकसित कर सकते हैं और बुरी आदतों पर धीरे-धीरे अंकुश लगा सकते हैं। शिक्षा

*व्याख्याता गायन, राजकीय महारानी सुदर्शन महाविद्यालय, बीकानेर, राजस्थान

ही एक ऐसा माध्यम है जिससे अच्छे-बुरे, सही-गलत की समझ बच्चे में पैदा होती है। इस पहलू पर मनौवैज्ञानिकों ने बहुत परीक्षण एवं प्रयोग किये हैं। परोक्ष-अपरोक्ष रूप से हर बालक के मानस पटल पर अधिगम, तत्परता, रूचि, संवेग, स्मृति, सृजन, समायोजन, स्मरण-पुनःस्मरण, ग्राहता, एकाग्रता, कल्पना, अभिप्रेरणा, प्रोत्साहन आदि मनोवृतियाँ इस प्रकार एक दूसरे में गुंथी हुई रहती हैं कि किसी एक को अलग करके देखना या उसका विश्लेषण करना अत्यन्त पेचीदा कार्य होता है। यही सब संस्कार आगे जाकर, परिपोषित होकर अनुभूति, अभिव्यक्ति, आत्मविश्वास, आत्मविश्लेषण, अनुशासन यानि शारीरिक, मानसिक परिपक्वता को जन्म देते हैं तथा सौष्ठव व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। एक संतुलित व्यक्तित्व को परिभाषित करें तो इन सभी मनोवृतियों का समन्वय देखने को मिलता है। ऐसा माना गया है कि हर किसी बालक को खाना, गाना और रोना प्रकृति से मिले है। बालक के अन्तर्मन में कहीं न कहीं अभिव्यक्ति का भाव छिपा होता है जो जन्मजात है। प्रत्येक बच्चे में कुछ विशिष्टताएं निहित होती है किन्तु उन प्रतिभाओं को विकसित करने के लिए कोई एक ऐसी पगडण्डी की आवश्यकता होती है जो सही मार्गदर्शन दे, वातावरण दे, जिससे बालक स्वतंत्रता पूर्वक अपनी क्षमताओं को पल्लवित कर सके तथा सकारात्मक मानसिकता के द्वारा समाज एवम् देश में पहचान बना सके। संगीत हृदय से और मनोविज्ञान मन, बुद्धि से सम्बन्ध रखता है। अतः हृदय एवम् मन, बुद्धि का परस्पर सामंजस्य होना बहुत जरूरी है। बालक के विकास में इनकी अहम् भूमिका होती है। संगीत एक सूक्ष्मतम कला है। मानव मन में अंकित भावनाओं की कुशल अभिव्यक्ति में संगीत को सर्वोपरि माध्यम माना है। संगीत बालक के अबोध हृदय में मानवीयता का संचार करता है। अर्नेस्ट हंट[3] ने अपनी पुस्तक स्प्रिट ऑफ म्युज़िक में लिखा है-. संगीत केवल सामान्य ध्वनि नहीं है अपितु सूक्ष्म अंन्तवृत्तियों के उदघाटन का सबल साधन है। कुमारी हीवूलस योम[4] का कथन है. संगीत हमारे जीवन को अनुप्राणित करता है, हमारे जीवन की निर्जीव शक्तियों को विनष्ट करके एक ऐसी अभिनव पृष्ठभूमि का निर्माण करता है कि जिसमें संजीवन उत्साह के स्फुरण दीप्त होने लगते है और होने लगती है स्फूर्ति की उल्काएं, जो जीवन को मंगलमय एवम् स्वर्णिम बना देती हैं। लूथर ने कहा है[5]. संगीत मनुष्य को दयालु, गतिशील और बुद्धिमान बनाता है। संगीत खुदा की दी हुई कला है जो मनुष्य के कष्टों को दूर कर उन्हें शान्ति पहुंचाती है। मनोवृतियों के सकारात्मक एवम् नकारात्मक दो पक्ष होते हैं। संगीत के माध्यम से किसी भी व्यक्तित्व को सकारात्मकता, सोच या दिशा दी जा सकती है। संगीत द्वारा शिक्षण से कई पहलू जुड़े हैं इससे बालक स्वयं पढ़ने के लिए प्रेरित एवम् प्रवृत्त होता है। इससे अनुकरण, नेतृत्व, एकाग्रता सम्प्रेषणीय अभिव्यक्ति, अभ्यास की प्रवृत्ति, ऐन्द्रीय अनुभवों में सौन्दर्य बोध का संचार, सद्व्यवहार, भाईचारा एवम् सामूहिकता को बढ़ावा अवश्य मिलेगा। परस्पर सद्भावना, एकता, प्रेम, अनुशासन, धैर्य, संयम जैसे गुण परिपोषित होगें जो बालक के व्यक्तित्व को निखारेगें। यह बात सच भी है कि वृक्ष की जड़ें जितनी गहरी, हरी-भरी एवम् फैली होंगी उतनी ही पेड़ की छाया घनी होगी। ठीक वैसे ही बच्चे भविष्य में राष्ट्र प्रहरी के रूप में प्रतिष्ठित होगें। यूं तो निम्न प्राथमिक स्तर पर किन्डर गार्टेन, मॉन्टेसरी, नर्सरी, प्रोजेक्ट विधि जैसी कई पद्धतियां लागू की गई है किन्तु संगीत की स्थिति इसमें नगण्य ही रही है। प्रारम्भ में शैक्षणिक वातावरण बनाने के लिए मौखिक रूप से गीत, कविता, देशभक्ति गीत, दृश्य-श्रव्य साधनों को अपनाया जाये, जिससे बालक शिक्षा को बोझ न समझे उसे रूचि पूर्वक ग्रहण करे। आज के संदर्भ में यदि शिक्षा नीति की समीक्षा करें तो चाहे नर्सरी हो या तीसरी कक्षा या फिर दसवीं कक्षा ना ही संगीत शिक्षण का माध्यम है और ना ही विषय के रूप में इसका प्रावधान है। अर्थात् उसका स्थान नगण्य ही है। हम चाहे कितनी भी कला संस्कृति की बात करें, कितने ही विभाग या मंत्रालय खोल दें किन्तु अपने आप को पहली ही सीढ़ी पर खड़ा पाते हैं। आज के वैज्ञानिक एवम् प्रौद्यौगिकी युग में सामाजिक परिवेश बदला है, शिक्षण की काफी सुविधायें हैं आज सीखने-सिखाने, सुनने-सुनाने,

संरक्षण-संवर्धन, की कितनी सुविधायें हैं कितने साधन हैं, कितने वैज्ञानिक उपकरण हैं। सच पूछो तो आज स्वर्ण युग है आज हम परम्परावादी नीतियों के साथ-साथ प्रयोगात्मक दृष्टिकोणों को अपना सकते हैं। स्थिति विचारणीय है किन्तु निराशापूर्ण नहीं। हमें दशा एवम् दिशा दोनों का ही पुनरावलोकन करना होगा। वर्त्तमान युगीन कोलाहल में कहीं हम अपनी दिशा खो, दिशाहीनता की स्थिति में किसी दोराहे-चौराहे पर ना आ खड़ें हो यही सोच, यही चिन्ता इस लेख का केन्द्र बिन्दु रही है। यह कैसे हो? यही हमारी पीढ़ी के लिए चुनौती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. नाहर डॉ0 साहित्य कुमार, भारतीय शास्त्रीय संगीत मनोवैज्ञानिक आयाम-, पृष्ठ-4
2. नाहर डॉ0 साहित्य कुमार, भारतीय शास्त्रीय संगीत मनोवैज्ञानिक आयाम-, पृष्ठ-4
3. चक्रवर्ती डॉ0 कविता, संगीत की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि-, पृष्ठ-3
4. चक्रवर्ती डॉ0 कविता, संगीत की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि-, पृष्ठ-5
5. The New Dictionary of Thoughts - P - 314

ठुमरी : भारतीय संगीत की विशेष गेयविधा

डा. हरजस कौर

विश्व की समस्त जातियों में गान, नृत्य और अभिनय का अस्तित्व बहुत पुराने समय में मिलता है। विद्वान मानते हैं कि ठुमरी का प्रचलन दो सौ वर्ष से भारत में नृत्य और अभिनय से संबंधित माना जाता है। ठुमरी शब्द की व्युत्पति देखें तो सबसे पहले यह दसवीं शती में हिन्दी भाषा में प्रयोग हुआ माना जाता है और यह भी कहा जाता है कि थोड़े से रूपांतर के साथ यह उत्तर भारत की सभी भाषाओं में प्रचलित है। आरम्भ में ठुमरी शब्द को 'तँवरी' या 'तूँवेरी' शब्द के अपभ्रंश के रूप में पाया गया। परन्तु उच्चारण के लहजे से भ्रमपूर्ण लगा। इसके लिए संस्कृत में 'ठवणी' और हिन्दी भाषा में 'ठवनी'[1] शब्द भी प्रयोग हुए। ठुमरी शब्द ठुम और री दो शब्दों के योग से बना है। ठुम शब्द 'ठुमकत चाल' अर्थात 'राधा जी की चाल' और री शब्द 'रिझावत' अर्थात् 'भगवान कृष्ण के मन को रिझाने' की ओर संकेत करता है। अतः ठुमरी शब्द में 'राधा के ठुमक कर चलते हुए कृष्ण के मन को रिझाने की अभिव्यंजना है'।[2] प्रसिद्ध ठुमरी गायक स्वर्गीय गिरिजाशंकर चक्रवर्ती के अनुसार ठुमरी शब्द की व्युत्पत्ति 'ठुमक' और 'रिझाना' शब्दों से हुई है। ठुमक 'लय' का और रिझाना 'अर्थभाव' का घोतक होने के कारण ठुमरी शब्द 'लयकारी और भावाभिव्यंजना दोनों को व्यक्त करता है।[3] थोड़े- थोड़े कालांतर पर रूकावट के अर्थ की अभिव्यक्ति करने के कारण 'ठुमक' शब्द का संबंध विशेषकर 'चाल' से भी है। इस लिए शिशुओं या युवतियों के द्वारा उमंग सहित शीघ्रतापूर्वक थोड़े थोड़े अंतर पर पैरों को पटककर ठिठकते हुए चलने वाली लुभावनी चाल के लिए भी ठुमक शब्द का प्रयोग किया जाता है।[4] जैसे तुलसीदास जी ने लिखा ठुमकि चलत रामचन्द्र बाजत पैंजनियां। ठुमरी शब्द के दूसरे अंश 'री' की व्याख्या विद्वानों ने 'नायिका' के संबोधन के तौर पर की है और 'री' को राधा द्वारा कृष्ण के मन को रिझाने को भावमय अर्थ में ग्रहण किया है।

इस प्रकार ठुमरी शब्द हिंदी भाषा के अंतर्गत मूलतः ब्रजभाषा का संज्ञा स्त्रीलिंग शब्द है। व्युत्पति की दृष्टि से संस्कृत के 'स्तुम्भ् धातु से विकसित 'ठुम' के साथ मत्वथीर्य 'र' प्रत्यय के स्त्रीलिंग रूप 'री' रुई के संयोग से बना 'ठुमरी' साधयमान तद्भव श्रेणी का शब्द है जिसका अर्थ 'नृत्य के साथ गाई जाने वाली गेय रचना होती है। इस अर्थ से ठुमरी के मूलतः नृत्यगीत होने का आभास मिलता है। इसी तरह ठुमरी गाने के साथ उसके बोल भी नृत्य की अन्यतम विशेषता है जैसे कथक नृत्य में यह पदार्थाभिनय दो प्रकार से किया जाता है - खड़े होकर और बैठकर। खड़े होकर ठुमरी के भाव-प्रदर्शन में नृत्य भी सम्मिलित रहता है। बैठकर भाव बताने से गीताभिनय प्रधान होता है। वास्तव में ठुमरी स्त्रियोचित गीतभेद ही माना जाता है। नृत्य को बाद में इसके साथ जोड़ दिया गया। लेकिन ऐसे भी नहीं कहा जा सकता कि इसको नृत्य से अलग करके देखा जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि इसकी गान शैली नृत्य पर जँचती है या एक तरह ठुमरी को नृत्य गीत भी माना जाता रहा है। मूलत नृत्य से संबद्ध होने पर भी कालांतर में नृत्य से

एसोसिएट प्रोफेसर गायन विभाग, गवर्नमेन्ट कॉलेज, रोपड़

पृथक होकर गीत की विशेष विधा के रूप में ठुमरी का स्वतंत्र रीति से विकास हुआ और आगे चलकर यह गान की विशिष्ट विधा के रूप में प्रतिष्ठित हुई। ठुमरी प्रारम्भ से ही एक माधुर्य गुण संपन्न श्रृंगारिक गेय विधा रही है। इसीलिए आगे चलकर 'ठुमरी' शब्द का अर्थ श्रृंगारात्मक गेय विधा के रूप में प्रचलित हुआ। ठाकुर जयदेव सिंह का भी यही मत है कि ठुमरी को गेय विधा के रूप में प्रयोग करना कठिन है। वह लिखते हैं, 'ठुमरी के जिन भावों को एक नर्तक जैसे हाव भाव (श्रांगिकाभिनय) से अदा (अभिव्यक्त) करते हैं, उन्हीं भावों को हम वैसे ही गले से अदा (अभिव्यक्त) करते हैं, जो कि ज्यादा मुश्किल काम है।[5]

कई शताब्दियों के संगीत अध्ययन से पता चलता है कि ठुमरी लोक धुनों में प्रयोग होती रही है और कई गान-शैलियों का इस पर प्रभाव भी आया है। कहा जाता जाते है बरवा राग का स्वरूप विशेषकर काफी राग में गाए जाने वाले होली गीत की धुन से बहुत मिलता जुलता है। अतः इसे काफी अंग का राग माना जाता है।[6] आगे चलके इसे रागिनी के रूप और पहाड़ी काफी से मिलता जुलता भी माना गया है।

श्रृंगार की अभिव्यक्ति में सहायक हो सकने वाले राग ठुमरी के लिए अधिक प्रयोग होते है। इस लिए ठुमरी गान में प्रायः हल्के और चपल प्रकृति के रागों का अधिक व्यवहार होता है। इसमें ठुमरी की श्रृंगारिक प्रकृति के अनुकूल खटका, मुर्की, मींड आदि क्रियाओं का उपयोग किया जाता है। शब्दप्रधान गीत भेद होने के कारण ठुमरी में बोलों का बहुत महत्त्व है। ठुमरी गान के लिए ऐसे राग अधिक उपयुक्त होते हैं। जिनका स्वरूप इतना सुगम हो कि उसमें अन्य रागों का मिश्रण भी सरलता पूर्वक किया जा सके। आनन्द, उमंग और श्रृंगारपूर्ण लोकगीतों की धुनों में शास्त्रीय दृष्टि में प्रायः चपल और हल्के रागों का प्रयोग अधिक मिलता है। अधिकांश लोकधुनों में ऐसे रागों के तत्त्व प्रायः मिले-जुले रूप में पाए जाते हैं। अतः लोकधुनों में चपलता और संकीर्णत्व का होना स्वाभाविक ही है। अपने इन गुणों के कारण लोकधुनें ठुमरी की श्रृंगारिक प्रकृति के बहुत अनुकूल रही। समय-समय पर अनेक लोकधुनों और उनमें सन्निहित रागों का व्यवहार ठुमरी गान में होता रहा है। गायन के आधार पर मुख्य तौर पर हम ठुमरी गायन शैली को दो भागों में बांट सकते हैं - बोल बांट की ठुमरी, बोल बनाव की ठुमरी।

बोल बांट की ठुमरीः-बोल बांट की ठुमरी इटावा, फरूखाबाद, बरेली, रामपुर, मथुरा व दिल्ली इत्यादि स्थानों पर ज्यादा प्रचलित है, इसलिए पछावी ठुमरी के नाम पर भी जानी जाती है। इस शैली में गीत प्रधान हैं। इसमें बंदिश की रचना का चमत्कारिक प्रदर्शन से इसे बंदिशी ठुमरी या बंदिश की ठुमरी भी कहा जाता हैं। ठुमरी में ब्रज भाषा में कृष्ण की लीलायें या नर नारी की प्रेम कहानियों का वर्णन मिलता है।गंभीर रागों को छोड़कर सभी रागों में इसका गायन किया जाता है। इस शैली के अनुकूल ही त्रिताल, रूपक, झपताल, एकताल और आड़ा चौताल तालें प्रयोग में ली जाती है। मध्य या द्रुतलय में विभिन्न लयकारियों के अंतर्गत स्वरबद्ध बोल विस्तार किया जाता है। इसमें छोटी-छोटी तिहाई के साथ बोलबांट करते हुए अंत में बंदिश को द्रुत लय में बढ़ाकर गायन करने की प्रथा है। इन ठुमरियों में यहां होली, मल्हार, लेद, सावन इत्यादि लोक धुनों का प्रभाव है वहां राग संगीत का भी गहरा असर दिखाई देता है। इन ठुमरियों में ख्याल, तराना आदि शैलियों की झलक के साथ-साथ ध्रुपद की भांति लयकारियों का प्रयोग भी देखने को मिलता है। शब्दों की भावाभिव्यंजना और ताल, लय की कलात्मकता में संतुलन बनाए रखने के लिए ज्यादातर मध्य लय प्रयोग की जाती है। मध्य लय की ठुमरी और मध्य लय की ख्याल शैली में समानता रखते हुए भी ठुमरी ने अपनी पहचान स्थापित की है।

बोल बनाव की ठुमरीः-इस तरह की ठुमरी की गायकी का अधिक महत्त्व है। इसमें श्रृंगार रस के संयोग वियोग दोनों रूप दृष्टिगोचर होते हैं। यह अधिकतर भावप्रधान होती है। यह लोक धुनों के साथ-साथ प्रकृति के रागों में भी गायन की जाती है। उदाहरण के तौर पर खमाज, तिलंग, बिहाग, मांड, पीलू, भैरवी, जोगिया, पहाड़ी आदि। इसमें

भावाभिव्यकित को कायम रखने के लिए विंलबित ताल का ही प्रयोग किया जाता है। भाव के विशेष महत्व के अनुकूल ही दीपचंदी, पंजाबी इत्यादि तालें इसमें प्रयोग होती है। इसमें स्थाई के बोलों का बनाव कर मुखड़ा दिखाया जाता है। यही क्रिया फिर अंतरे के बोलों पर दुहरा कर अंतरे का मुखड़ा दिखाने की प्रथा है। इस उपरांत स्थाई की पहली पंक्ति को त्रिताल या कहरवा ताल के अन्तर्गत मध्य लय मे छोटी-छोटी बोल ताने लेकर गायन किया जाता है। इस क्रिया में तबले पर कहरवा ताल में ही एक विशिष्ट ठेका बजाकर संगति की जाती है और अंतः में तिहाई लगाकर, सम से आकर ठुमरी-गान की समाप्ति होती है। ठुमरी की इन दो मुख्य शैलियों के अलावा और भी कई शैलियां प्रचार में है।

लखनवी शैली :-लखनऊ में एक तरह से ठुमरी का आरम्भ माना जाता है। यह शैली सबसे अधिक पुरानी मानी जाती है। इसलिए इसे लखनवी शैली कहा जाता है। इसकी रचना में ब्रजभाषा के साथ-साथ अवधी बोली का भी प्रयोग होता है। इसको ठुमरीकारों ने 'कदर पिया' और 'भाखा' भी कहा है। कहीं कहीं इनमें टप्पा शैली की झलक भी मिलती है। लखनवी ठुमरी गान में विषयानुकूल उर्दू भाषा के शेर कहने का रिवाज़ भी मिलता है।

बनारसी शैली :- यह शैली उत्तर प्रदेश में स्थित बनारस नगर में प्रचलित हुई। इस पर चैती, कजरी, पूरबी, झूमर आदि लोकधुनों का प्रभाव भी देखने को मिलता है। इसलिए इसके लहजे में विशिष्ट उच्चारण की मिठास मिलती है। साथ ही बोलों में मनो-भावों की अभिव्यक्ति के लिए हूक, दर्द और पुकार का विशेष रूप से प्रयोग किया जाता है। बनारसी शैली के ठुमरी गान में दोहा, सोरठा, सवैया कवित्त आदि रचनाएँ बीच-बीच में कहने का भी प्रचलन है।

क्रियात्मक तौर पर ठुमरी की शैली, अंग और क्षेत्र के नाते ठुमरियों के भेद मिलते हैं जैसे पूरब अंग, पंजाब अंग। पूरब अंग के अनुसार ठुमरी गायन में बोलों व स्वरों का विस्तार या बढ़त की जाती है फिर बोलबनाव करते समय मुख्य राग की बढ़त के साथ-2 समप्राकृतिक रागों का आविर्भाव व तिरोभाव कर भावानुकूल पेशकारी की जाती है। पंजाबी अंग से पंजाब में ठुमरी का प्रचलन साठ वर्ष पूर्व हुआ था। वैसे तो पंजाब में कभी भी यह विशिष्ट शैली के रूप में विकसित नहीं हुई परन्तु बड़े गुलाम अली खां और बरकत अली खां गायकों ने ठुमरी गान को पंजाब की लोकधुनों में अपनी कल्पना सहित प्रयोग किया। पंजाब की हीर, माहिया, टप्पा, मुल्तानी काफी, पहाड़ी लोकगीतों की धुनों का इसमें समावेश मिलता है। पंजाब में दादरा या कहरवा ताल में गाई जाने वाली सभी रचनाओं को ठुमरी ही माना जाता है।

यही कारण है कि समय के बीतने के साथ ठुमरी-गान की लोकप्रियता बढ़ी है। लेकिन संगीत के गुणों सहित यह ठुमरी गान अपनी सारी शैलियों के प्रचलन के साथ एक गेय विधा के रूप में नई पहचान बनाए इसकी आवश्कता है और इसकी अभिव्यजना में इसका मूल गुण भी नष्ट न हो तभी इसकी स्वर प्रधानता निश्चित की जा सकती है।

संदर्भः-

1. रसाल डॉ. रमाशंकर शुक्ल, भाषा शब्दकोष, पृ. 683
2. Bose Sunil K, Thumari – the love lyrics on Radha & Krishna, P-1
3. Naina Devi, 'Thumari Gayaki' 'कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका (1965), पृं 65
4. मानक हिन्दी कोश, पृ. 456
5. Singh Thakur Jaideva Evolution of Thumari, 'कलाभारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिका, 1965, पृ. 38
6. भातखंडे पं. वि. ना. , क्रमिक पुस्तक मालिका, पृं 86 व 87

प्रान्तीय लोकसंगीत में काकु

डॉ. मधु शुक्ला

कलाओं में अभिव्यक्ति के माध्यम विविध होते है जैसे- चित्रकला में तुलिका तथा रंग, काव्य में शब्द, ध्वनि उसी प्रकार संगीत में अभिव्यक्ति का माध्यम ध्वनि है। मुक्त आलाप, वाद्यों के माध्यम से रसाभिव्यक्ति में समर्थ तत्व स्वर संयुक्त ध्वनि नाद रूप ही है, जो लय निर्मिति में सहायक है। नाद में ऐसी शक्ति सन्निहित है जो कि शब्द की अर्थ शक्ति के बिना अर्थात् निरर्थक शब्दों से भी अर्थ-भाव-रस प्रतीति करा देती है। ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन ने कहा स्वर ही जिसका प्राण है ऐसे संगीत का शब्दातीत होने में कोई संदेह नहीं रह जाता। संगीत की विश्वव्यापी भाषा चर-अचर समस्त जगत को मंत्र मुग्ध करने में समर्थ है। आचार्य वृहस्पति ने कहा है कि भाषा भले ही भावों को अभिव्यक्त करने में समर्थ न हो, चित्तवृत्तियों को व्यक्त करने वाले नाद रूप सार्वभौम हैं, भरत ने इस तत्त्व को 'काकु' संज्ञा प्रदान की है।

संगीत लक्ष्य-लक्षण परम्परा की अनिवार्य कड़ी के रूप में व्यवहृत 'काकु' अन्य विषयों में भी समृद्ध रहा है। नाट्य के वाचक अभिनय की आधार शिला के रूप में प्रतिष्ठित 'काकु' भाषा विज्ञान, साहित्य तथा काव्य का भी मुख्य कारक रहा है।

अभिव्यक्ति की सार्वभौंम प्रक्रिया में 'काकु' अविच्छिन्न घटक तत्त्व है। ध्वनि तथा स्वरों के अनुरणय को भाषागत स्वराघात तथा बलाघात के प्रयोग एवं स्वर लय गत वैशिष्ट्य तथा दैभिन्य से किया गया प्रयोग रस सृष्टि में समर्थ है।

'काकु' के ऐतिहासिक विवेचन की दृष्टि से देखें तो वैदिक कालीन पाठ्य तथा गान में स्तोम बीज रूप में व्याप्त है जो अंकुरित होकर नाट्य शास्त्रीय काकु रूप मे प्रतिष्ठित हुआ तथा साहित्य के गुनी भूत व्यंग्य तथा काकु वक्रोक्ति रूप में पल्लवित तथा संगीत में विविध रंगों में पुष्पित हुआ। 'काकु' शब्द की चर्चा सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र के 17 वें अध्याय में वाचिक अभिनय के अंतर्गत पाठ्य के अंक के रूप में प्राप्त होती है। महर्षि भरत ने 'काकु' को विशेष तथा व्यापक दोनों अर्थों में लिया है। समस्त पाठ्य गुणों को 'काकु' कहा है 'अभिनवगुप्त' ने विस्तार देते हुए कहा है कि पाठ्य गुण के 6 प्रकार हैं- सप्त स्वर, तीन स्थान, चार वर्ण, द्विविध काकु, षट् अलंकार, षट् अंग।

शारंगदेव ने स्वर काकु, राग काकु, देश काकु, क्षेत्र काकु, अन्य राग काकु, यंत्र काकु जो कि पहचान के रूप में लगने वाले 'स्वर वर्णो का समूह' राग काकु, किसी अन्य राग की छाया या तिरोभाव अन्य राग काकु, वाद्य यंत्रों का स्वर यंत्र नाद गुण यंत्र काकु के रूप में प्रतिष्ठित होता है।

भारतीय मनीषियों ने वेद तथा लोक दोनों को ही प्रमाण माना है। जहाँ वैदिक संगीत अनादि अपरोक्ष अपरिवर्तनशील, पवित्र, नियमबद्ध तथा व्यवस्थित कहा गया वही लोक संगीत मनुष्य द्वारा निर्मित परिवर्तनशील, भाँट चारणों द्वारा गेय माना गया। कालान्तर में शुद्ध तथा संसर्गजा जातियों के विभाजन को लोक से जोड़ा गया। इस वर्गीकरण में लोक में प्रचलित समस्त गान विधाएँ आ गयी। भरत के अनुसार लोक में गाये जाने वाले तत्व जातियों में स्थित हैं। लोक अनेक देशों में विभक्त है उसके वेष, भाषा, आचार-विचार भिन्न हैं। भरत ने

व्याख्याता, प्रयाग संगीत समिति, इलाहाबाद

निजी विशेषताओं के आधार पर आवन्ती, दक्षिणावात्या, पांचाली, और मागधी विभाजन किए हैं। यह विभाजन ही कालान्तर में प्रादेशिक लोक संगीत के बीज रूप में प्रतिष्ठित होता है।

लोक रूचि निरन्तर गतिशील है। इसके प्रवाह को बाँधना सम्भव नहीं। मानव जीवन में सुख-दुख दोनों परिस्थितियों का चक्र निरन्तर गतिमान है। कला इन दोनों ही परिस्थितियों का सजीव चित्रण कर आनन्दानुभूति कराती है। लोक संगीत में प्रेम, भक्ति, अनुराग, धर्म आदि मानव जीवन के समस्त भावों का सन्निवेश है जिसमें सात्विक भाव का निदर्शन होता है। लोकगीतों में हृदय का उद्‌गार है स्वर लहरियाँ अद्‌भुत स्वर वितान में मनुष्य के मर्म को छूती हैं। मनुष्य उसके प्रवाह में बहकर नाना प्रकार के रागात्मक तथा भावात्मक परिकल्पना करता है और सम्पूर्ण व्यक्तित्व को उसमें अभिव्यक्त करता है जो अनायास हृदय से निकलकर सहज रूप में उसे सृजनात्मक सुख प्रदान करती हैं। जनजीवन के सामान्य निर्वाह की स्वरात्मक तथा लयात्मक अभिव्यक्ति लोक संगीत है।

लोक धुनों की विशिष्टताः-

चार, पॉच, कतिपय छः स्वरों से सुसज्जित धुनें समान तथा क्लिष्ट लय विभाजन में पायी जाती है। समयानुकूल तथा प्रसंगानुकूल स्वर रचना इसका विशिष्ट गुण है। कुछ गीत प्रकारों की धुनें शाश्वत है, जो साहित्यिक वैविध्य के आधार पर पृथक् होती है। धुनों की स्वर रचना, लयों की अपरिवर्तनशीलता, प्रान्तीय लोक संगीत की विशिष्ट छाप है। शारंगदेव ने काकु के संदर्भ में विवेचन करते हुए लिखा हैः-

छायाकाकुः षट् प्रकारा, स्वररागान्यरागाजा।
स्याद्‌देश क्षेत्र यंत्रणां तत्‌ल्लक्षणमोच्यते।।

अर्थात् छायाकाकु छः प्रकार की है। स्वर काकु, राग काकु, अन्य राग काकु, क्षेत्र काकु, देश काकु, यंत्र काकु।

'छाया' शब्द जिसे परछाई के संदर्भ में ले सकते हैं। लोक गान विधा की स्वतंत्र 'छाप' (पहचान) को हम छाया से जोड़ सकते है। इसकी भाषा स्थानीय होती है जो सहज, समधुर, आडम्बरहीन, सरल, स्वाभाविक तथा मर्मस्पर्शी होती है। छाया एक चमक के समान है जो लोक संगीत में दिखायी देती है। इसी छाया को हम राग काकु समझ सकते है।

या रागस्य निजच्छाया रागकाकु तु तां विदुः
अर्थात् जिस राग की अपनी छाया होती है वह राग काकु है। अतः लोक धुनों के अपरिवर्तनशील, सनातन को हम 'राग काकु,' रूप में स्वीकार कर सकते है।

लोक धुनों को तीन भागों में विभक्त किया गया। प्रथम नियमबद्ध रागों से संबंध रखती है। महाराष्ट्र तथा दक्षिण भारतीय लोक संगीत इसी परम्परा के हैं। दूसरे वर्ग में हिमाचल तथा गढ़वाली गीत आते हैं, जो स्वर रचना, लयबद्धता तथा स्वरों के विशिष्ट उच्चार के साथ ही ध्वनि भेद (नाद वैशिष्टय) के आधार पर अपनी अलग पहचान रखते हैं। तृतीय भाग गौढ़, भील, संथाल, नागा आदिवासियों की स्वतंत्र महक है। ये पहचान मात्र 'स्वरलयगत' विशिष्टता के आधार पर ही नहीं है। यह प्रान्तीय विशिष्ट नाद गुण तथा Pitch के आधार पर भी होती है तथा राजस्थान के लोगों की आवाज में तीखापन, महाराष्ट्र की गायकी में गले का घुमाव, बंगाल में आवाज की मिठास के साथ दर्द का आभास, पहाड़ी इलाकों के आवाज में Modulation, पंजाब में खुली आवाज के लगाव के साथ ही मुरकियों का प्रयोग, दक्षिण भारत में कम्पित आवाज का लगाव पाया जाता है। यह ध्वनि भेद प्रदेश के भौगोलिक जलवायु, सामाजिक परिवेश, खान-पान आचार-विचार से निर्मित होता है जो कि शारंगदेव द्वारा निर्देशित 'देशकाकु' का विषय है।

'सा देशकाकुर्या रागे भवेद्‌देशस्वभावतः'
(सं रत्ना 3/123)

शारंगदेव ने व्यक्तिगत स्वरोच्चार विधि, विनम्रता, उत्साह, सहजता, सरलता, ओज, माधुर्य तथा प्रासाद गुणों से समन्वित गुणों को 'क्षेत्र काकु' कहा है।

शरीर क्षेत्रभियुक्त प्रीत क्षेत्रं निसर्गतः।
रागे नानाविधाकाकु क्षेत्रकाकुरिति स्मृता।।

अर्थात् प्रति शरीर से ही जो राग में नाना प्रकार के 'काकु' को ही क्षेत्र काकु कहा गया।

लोक संगीत यद्यपि धुनों तथा शैली के आधार पर विशिष्ट रूप में दिखायी देता है फिर भी स्थूल रूप से व्यक्तिगत नाद गुण के दर्शन की वास्तविकता से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

महर्षि भरत ने काकु को अत्यंत व्यापक स्वरूप प्रदान किया है। सप्त स्वर, तीन स्थान, द्विविध काकु, चार वर्ण, छः अलंकार, छः अंगों को काकु कहा है। इन सभी का प्रयोग नाट्य के संदर्भ में वाचिक अभिनय में पाठ्य गुण के अंतर्गत किया है। इन्हीं गुणों का प्रयोग शास्त्रीय, उपशास्त्रीय, फिल्म संगीत के साथ ही लोक विधा के गायन में स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। भरत द्वारा कहे गये सप्त स्वर, षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद अनुरणनमय रूप में लोक संगीत से अर्थकाकु तथा रसकाकु प्रदान करते हैं।

भरत मुनि ने उरः, शिरः, कण्ठः, तीन स्थानों की चर्चा की है। इनका प्रयोग 'स्थान भेद' (दूर-पास) के आधार पर कहा है-

आभाषर्ण च दूरस्थे शिरसा संप्रयोजयेत्।
नातिदूरे च कण्ठेन ह्युरसा चैंव पार्श्वतः।।
उरसोदाहतं वाक्यं शिरसा दीषयेदुधः।
कण्ठेन शमनं कुर्यात्पाठ्योगेषु सर्वदा।।

दूरस्थ व्यक्ति को शिर स्थान से निष्पन्न तार स्वर में, जो दूर नहीं उसे कण्ठ से निष्पन्न स्वर से तथा समीपस्थ के लिए उरः स्थानीय मन्द नाद का प्रयोग करें। ये सभी गुण देश के प्रचलित लोक संगीत में भी न्यूनाधिक परिवर्तन के साथ दिखायी देता है। स्थान भेद का प्रयोग बंगाल के माँझी गीतों में तथा राजस्थान के माँड गायकी में दिखायी देता है। अगर इनमें आवाज के मृदुत्व तथा ओज गुण (नाद की तीव्रता) का प्रयोग न करें तो वह प्रभावी न होगा। भरत द्वारा निर्देशित दीप्त तथा दैव्त भाव में भी ओज तथा मन्द नाद प्रयोग शौर्य भावयुक्त 'आल्हा' गायकी में तथा विदाई गीतों में दैन्य भाव दिखायी देता है।

महर्षि भरत ने चार प्रकार के वर्ण कहे हैं-

उदात्तश्वानुदात्तश्च स्वरितः कम्पितस्तथा।
वर्णश्चत्वार एव स्युः पाठ्ययोग तपोधनाः।।

उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, कम्पित इन वर्णों को प्रयोग रस निष्पत्ति के लिए कहा गया है यथा- हास्य, श्रृंगार में मध्यम-पंचम को स्वरित तथा उदात्त वर्णो से, वीर रौद्र, अद्भुत, में षड्ज, ऋषभ के अंश को लेकर उदात्त व कम्पित वर्णों में, वीभत्स धैवत का आधार लेकर स्वरित वर्ण से व भयानक धैवत को लेकर कम्पित वर्ण से पाठ करें।

लोक संगीत गान विधा पर विहंगम दृष्टि डाले तो अपरोक्ष रूप से इन तत्वों का समावेश होता है, जिसका प्रयोग सोच समझकर नहीं किया जाता वह तो स्वाभाविक रूप से उसमें समाया रहता है।

भरत ने काकु के व्यापक अर्थ के साथ ही 'काकु' शब्द को विशिष्ट रूप साकांक्ष तथा निराकांक्ष काकु के रूप में कहा है-

अनियुक्तार्थक वाक्यं साकांक्ष मिति संज्ञितम्।
नियुतार्थ तु यद्वाक्यं निराकांक्ष तदुच्यते।।

'साकांक्ष काकु' अनियुक्तार्थ अर्थात् वाक्य को पूरा न करके अधूरा छोड़ दिया जाता है। लोक गान में उत्तर प्रदेश का बिरहा, गायकी में इसका प्रयोग दिखाई देता है। इस भाव के विपरीत निराकांक्ष नियुक्तिार्थक भावयुक्त है। इसमें शिर स्थान में भी तारता का प्रतिष्ठा परक मन्द्रत्व है, जिसका प्रयोग विभिन्न प्रदेशों के विदाई गीतों, निर्गुण पदों में भी दिखाई देता है। पंजाब के गिद्धा आदि गीतों में भी साकांक्ष काकु को प्रयोग रूप से जोड़ा जा सकता है।

भरत ने छः अलंकारों की व्याख्या इस प्रकार की है-

उच्चो दीप्तश्च मन्द्रश्च नीचो द्रुताविलाम्बितौ।
पाठ्यत्वंत अलंकार लक्षणं च निबांधत।।

उच्च तथा दीप्त काकु का प्रयोग दूर से व्यक्ति को बुलाने, विस्मय, डराने-धमकाने, उत्तर-प्रत्युत्तर आदि में होता है। ये प्रयोग बंगाल के माँझी गीतों में उत्तर प्रदेश के कजली, दंगलों में आल्हा गायकी में, पंजाब के भाँगड़ा, गिद्धा आदि गीतों में दिखाई देता है।

मन्द्र तथा नीच काकु का प्रयोग दैन्य भाव के गीतों विदाई गीत, मृत्यु गीतों, कुछ विवाह के संस्कार

गीतों में मध्य प्रदेश तथा गढ़वाल के पारम्परिक गीतों में होता है।

'द्रुत काकु' का पंजाबी लोक गीतों, श्रमगीतों, फसल काटने के समय के उत्साह गीतों आदि में इसका प्रयोग दिखाई देता है।

'विलम्बित काकु' का प्रयोग श्रृंगारिक गीतों, विरह गीतों, विदाई गीतों में इसका प्रयोग दिखाई देता है।

भरत ने विच्छेछ, अर्पण, विसर्ग, अनुबंध, दीपन प्रशमन छः अंगों की चर्चा की है इन सभी का रसगत प्रयोग कहा गया है- हास्य, श्रृंगार सम्बंधी आकांक्षा में अर्पणा, विच्छेद, दीपन, प्रशमन से युक्त, करूण रूप में दीपन, प्रशमन, वीर, रौद्र, अद्‌भुत रस की प्रतीति के लिए विच्छेद दीपन प्रशमन युक्त स्वरों तीन सम्प्रकों में पाठ्य का विधान कहा है, जो कि लोक संगीत में स्वाभाविक रूप से समाया है।

रेगिस्तानी भागों में गीत लम्बी धुनों के गाये जाते हैं जिसमें स्वर- प्रस्तार अधिक है। धुमन्तू जातियों के निर्गुणी पदों में धुने शान्ति प्रदान करने वाली तथा उन्मुक्त भाव से गायी जाती है।

निर्वाण के मृत्यु गीतों में करूणा मानव के सती गीतों में जो विषाद है, कबीर पंथी धुन में वैरागियों की अटूट व्यंजना तथा साथ ही जागीड़ा भरथरी के पंथी गीतों में करूणा का आभास है, मरबा की धुनें कोमल है 'बंगाल के कुछ गातों, तथा निर्गुण पदों में गहन दार्शनिक चिन्तन जो अलंकरणों से सुसज्जित होकर प्रयोग के साथ ही श्रोताओं पर प्रभाव डालती है। समग्र रूप में 'काकु' की संज्ञा प्राप्त करते हैं। इन गीतों में जब पुनरावृत्ति होती है स्वर लय व्यंजन बदलने से अर्थ भेद भी दिखाई देता है जो काव्य शास्त्रीय काकु व्यंजना है।

अन्ततः 'काकु' वह शक्ति है जो किसी भी विधा के गायकी, वादन तथा नृत्य में व्याप्त है। जिसने प्रकृति का अनुभव किया है वह ही 'काकु' प्रकट कर सकता है और प्रकृति प्रेमी श्रोता ही उसे ग्रहण कर सकता है।

देश के किसी भी प्रान्त का लोक संगीत हो वहाँ के ऋतुकालीन गीत, श्रमगीत, भक्ति संगीत, देशभक्ति गीत, संस्कार गीत, आदि की गायकी में 'काकु' तत्त्व प्रत्यक्ष या परोक्ष दोनों रूपों में विद्यमान है। काकु हृदय के भावों की अभिव्यंजना का आधार तत्त्व है यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि लोक संगीत हृदय की भाषा है अतः दोनों के (भाव तथा व्यंजना) समुचित समन्वय ने ही लोक संगीत को हृदयस्पर्शी बनाया है।

काशी में गायन के विविध घराने

चित्रा चौरसिया

वेदों, पुरानों, विभिन्न आधुनिक एवं प्राचीन साहित्यों में काशी नगरी की प्राचीनता एवं साहित्यिक गतिविधियों का उल्लेख है। भारत में प्रत्येक मंदिरों में आराधना, मंत्रोचारण संगीत के आधार पर रहा है, और इसी संगीत से ओत-प्रोत मंदिरों की काशी नगरी संगीतमय है। काशी की संगीत परम्परा कई शताब्दी ई.पू. की रही है, परन्तु बनारस की वर्त्तमान संगीत परम्परा आज से लगभग तीन-चार सौ वर्ष पुरानी है। बनारस घराने की जो विशेषता है वह अन्य घरानों की परम्पराओं में शायद ही मिलती हो। वहॉ के ख्याल, ठुमरी, धमार, ध्रुपद, कजरी, चैती, बारहमासा, सोहर, सारंगी, शहनाई, तबले के बोल तथा नृत्य में घुंघरूओं के बोल रसिक श्रोताओं के चित्त को आनन्द से झकृत करती है। गायन, वादन एवं नृत्य की विभिन्न शैलियाँ अपनी लोकप्रियता से बनारस नगरी को और समृद्धशाली बनाती जा रही है।

संगीत कला एवं साहित्य की अनुपम नगरी काशी में कलाकारों का ऐसा भावात्मक लगाव है कि वह काशी नगरी से एक क्षण भी अलग नहीं रह पाते हैं। यहाँ के कलाकारों ने यहाँ की शैलियों को आत्मसात किया है, जिसके फलस्वरूप भारत के अन्य प्रदेशों से आये संगीत विद्वान ने भी काशी की संगीत परम्परा को नतमस्तक करते हुए अपनी मनमोहक संगीत को कलाकारों के मध्य सहज भाव से खोल दिया। काशी संगीत का नाम लेते ही संगीत की कोई भी शैली या विधा श्रोताओं के कानों में मिठास घोल देती है।

काशी में अनेक उच्चकोटि के विद्वान हुए जिन्होंने अपनी सांगीतिक शैली, गायकी से बनारस के संगीत को समृद्ध और विकसित बनाया। इन कलाकारों, साधकों, विद्वानों तथा मनीषियों द्वारा किया गया प्रयत्न ही काशी की संगीत परम्परा को लोकप्रिय व विश्वप्रसिद्ध बनाया है। यदि हम काशी के ऐतिहासिक पक्ष पर विचार करें तो उनका विभाजन घरानों की दृष्टि से अति विस्तारमय होगा, यहाँ के साधकों की साधना से अनेक घराने प्रमुख रूप से प्रचलित हुए हैं जिनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है।

1. पियरी घराना

सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में महापुरूष दिलाराम मिश्र इस संगीत घराने के प्रवर्त्तक हैं। आपके पूर्वज गोण्डा बलरामपुर के वैष्णव धर्म प्रचारक तथा मठाधिपति थे। मुगल सम्राट बाबर ने आपके पूर्वजों तथा मठाधिपति को धराशयी कर उनकी मृत्यु कर दी जिससे दिलाराम मिश्र का दुःखी परिवार व अन्य सदस्यों ने वृन्दावन जाने का निर्णय कर लिया। पं. दिलाराम मिश्र पाँच भाई थे। इन पाँचों भाइयों सहित राधावल्लभ सम्प्रदाय के संगीतज्ञ श्री 108 हित हरिवंश जी से 30-35 वर्षों तक छन्द, प्रबंध, विष्णुपद, ध्रुपद आदि शैलियों की उत्कृष्ट संगीत पर अपना विशेष अधिकार प्राप्त कर लिया और "सेवक" उपनाम से सैकड़ों ध्रुपदों की रचना की।

प. दिलाराम मिश्र जी संगीत का प्रचार व विस्तार हेतु संकल्प कर काशी की ओर चल पड़े। पं. दिलाराम मिश्र घराने के पं. ठाकुर दयाल मिश्र और उनके नाती पं. छोटे रामदास जी मिश्र एवं पं. राम सेवक मिश्र थे।

शोध छात्रा, संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

इन सुयोग्य वंशजो ने इस घराने की ध्रुपद, धमार, ख्याल, टप्पा, होरी आदि शैलियों को समृद्ध किया जिनकी शिष्य परम्परा आज तक चली आ रही है।

2. पं. शिवदास-प्रयाग जी घराना-

पं. शिवदास और प्रयाग जी दोनों अपने पिता श्री प्रहलाद मिश्र जो कि बनारस-मिर्जापुर के सीमा के निकट गुतमन खैरबगहा ग्राम के निवासी के शिष्य थे। आप दोनों की संगीत शिक्षा रामप्रसाद मिश्र जी से हुई। काशी नरेश ईश्वरी नारायण के दरबारी कलावन्त मुहम्मद अली (बडकूमियाँ) से भी गायन की शिक्षा प्राप्त की।

आप दोनों भ्राता उच्च कोटि के कलाकार थे। काशी नरेश के दरबारी गायक और नाजिर थे। प्रयाग जी की शिष्य परम्परा में आपके सुपुत्र श्री मिठाई लाल मिश्र विद्वान गायक थे। पं. शिवदास जी सितार, सरोद, सुरसिंगार और बीन आदि वाद्यों के कुशल वादक होने के साथ-साथ आपकी वंश परम्परा एवं शिष्यों में गायन, बीन, सारंगी आदि के अनेक अनुपम कलाकार हुए जिन्होंने आपके घराने को अत्यंत लोकप्रिय बनाया।

3. श्री जगदीप मिश्र जी-

बनारस के कबीर चौरा मुहल्ले में कबीर मठ के निकट निवासी श्री जगदीप मिश्र गायन की भी शैलियों के ज्ञाता, नृत्यकला के महान विद्वान और बनारस के उप-शास्त्रीय जैसे ठुमरी, दादरा आदि के अनुपम गायक थे, बनारस के पहले आप हरिहरपुर जिला आजमगढ़ के निवासी थे।

आप पं. जगदीप मिश्र जी पं. शिवदास-प्रयाग जी के समय के गायक थे, आपके सुप्रसिद्ध गायक श्री मौजुद्दीन खाँ को ठुमरी शिक्षा द्वारा अपना प्रतिबिम्ब गायक बनाया। काशी में प्रथम ठुमरी गायक के रूप में आपको विशेष सम्मान दिया जाता था। पं. जगदीप मिश्र जी ने भारत और नेपाल की कई रियासतों में अपनी गायकी से लोगों को मंत्रमुग्ध करने के बाद जीवन के अन्तिम समय तक काशी में रहे।

अन्ततः आप ठुमरी गायन शैली के एक अनुपम गायक के रूप में प्रसिद्ध हुए और ठुमरी के एक घराने का जन्म दिया।

4. श्री जयकरन मिश्र-

ध्रुपद की चारों बानियों में निपुण बेतिया निवासी श्री जयकरन मिश्र कांशी के कबीर चौरा मुहल्ले में जीवन पर्यन्त संगीत की साधना करते रहे, आप बेतिया दरबार के मूर्धन्य ध्रुपदाचार्य भी थे।

आपकी शिष्यों में दामाद पं. रामदास मिश्र, भोलानाथ भट्ट तथा ध्रुपद के महान् गायक वेणीमाधव भट्ट आदि ने आपके घराने के अमोध संगीत को पूरे भारत में ख्याति दिलाई है।

5. श्री धन्नु जी -संवरू जी मिश्रः-

श्री धन्नु जी और सँवरूजी मिश्र बेतिया ध्रुपद परम्परा के उत्कृष्ट विद्वान थे, आप दोनों बेतिया निवासी थे, किन्तु कुछ समय बाद आप काशी के कबीर चौरा के समीप औगढ़नाथ तकिया (अघोरपंथ का सिद्धपीठ) में निवास करने लगे।

वाराणसी के ख्याल, टप्पा, गायकी के अद्भुत गायक पं. छोटे रामदास जी मिश्र को ध्रुपद गायकी की शिक्षा आप लोगों से ही प्राप्त हुई, आपने जीवन पर्यन्त तक काशी की गायन परम्परा को देशों में ख्याति अर्जित कर यहीं दिवंगत हुए, आप लोग जयकरन जी आदि विद्वानों के समकालीन थे।

6. श्री बख्तावर मिश्रः-

ध्रुपद गायन शैली के उत्कृष्ट गायक श्री बख्तावर मिश्र नाद ब्रह्म उपासक, धार्मिक प्रवृति के निरभिमानी उत्कृष्ट ध्रुपद गायक थे, आप मूलतः बेतिया निवासी व राजघराने के दरबारी गायक रहे और काशी नरेश ईश्वरी नारायण सिंह के आग्रह पर राजदरबार के गायक के पद पर प्रतिष्ठित हुए। काशी नरेश के दरबार में आपके अतिरिक्त कई उच्चकोटि के गायक जाफर खाँ, प्यार खाँ, बासत खाँ आदि थे। अपने समकालीन संगीतज्ञों के मध्य बख्तावर मिश्र ने अपनी बेतिया ध्रुपद शैली के पूर्ण पटु, सुघड़ गायक व सुयोग्य कलाकार के रूप में अपना स्थान प्रतिष्ठापित किया। आप कलावन्त होने के साथ-साथ जलतरंग वादक थे। आप मृत्युपर्यन्त तक रामनगर में ही रहे।

7. श्री दरगाही मिश्रः-

रामगढ़-हरहिया, जिला आजमगढ़ के मूल निवासी श्री दरगाही मिश्र गायकी, नायकी, तबला, नृत्य आदि अनेक विधाओं के उत्कृष्ट विद्वान थे। आपने काशी के कबीर चौरा मुहल्ले में निवास स्थान बनवाया। आपकी शिक्षा पियरी घराने के मूर्धन्ध गायक शिवसहाय मिश्र से प्राप्त हुई तथा आपको तबले की शिक्षा अपने पिता से विरासत में मिला। काशी नरेश के दरबार में आप विद्वान कलावन्त थे, और श्री राम सेवक जी, श्री राम गोपाल जी, शिवदास प्रयाग मिश्र, बड़कू मियाँ आदि अगाध संगीत विद्वान आपके समकालीन गायक थे। श्री दरगाही मिश्र जी ने बीन, सितार, सारंगी आदि की शिक्षा प्रख्यात विद्वान श्री ननकू लाल मिश्र से प्राप्त की, और आप वाद्यों के उत्कृष्ट वादक भी रहे। आप काशी में मृत्युपर्यन्त तक रहे और अनेक विधाओं में पारंगत श्री दरगाही मिश्र को "नायक" के रूप में काशी पर अपना वर्चस्व स्थापित किया।

श्री ठाकुर प्रसाद मिश्रः-

पियरी घराने के मूर्धन्य विद्वान श्री ठाकुर प्रसाद मिश्र जी का जन्म लगभग सन् 1848 ई. को काशी में हुआ था। आपने संगीत की शिक्षा श्री शिवसहाय मिश्र जी से प्राप्त की, पं. ठाकुर प्रसाद मिश्र जी टप्पा गायन शैली के अतिरिक्त वीणा एवं सारंगी के विद्वान तथा सिद्धहस्त कलाकार थे। आपने गायन की शिक्षा अपने नाती पं. छोटे रामदास मिश्र, हुस्नाबाई, पं. बैजनाथ जैसे शिष्यों को प्रदान कर उच्च कोटि के कलाकारों के रूप में प्रतिष्ठापित किया। मिश्र जी का काशी में सांगीतिक योगदान उत्कृष्ट रहा है, आपका देहान्त लगभग सन् 1944-45 ई. में काशी में हो गया।

श्री मथुराजी मिश्रः-

काशी के सिद्धहस्त कलाकार श्री मथुराजी मिश्र ध्रुपद, धमार, टप्पा, ठुमरी, ख्याल, आदि गायन शैलियों के उच्चकोटि के गायक थे। आपके पूर्वज देवरिया के मूल निवासी दरगाही मिश्र (पिता) एवं दादा पुद्दन मिश्र एवं तमाखू मिश्र उत्कृष्ट सारंगीवादक रहे। आप इसी घराने की वंश परम्परा के गायक थे। काशी के विजयनगर के राज दरबार में मथुराजी कलावंत नियुक्त हुए और अपनी गायकी से महाराज विजयनगरम् को मनमोहित किया।

मथुरा जी अत्यधिक धार्मिक प्रवृत्ति के थे, और सभी धार्मिक कृत्यों से विधिवत निवृत्ति पाकर ही राज दरबार में जाते थे, आपके पुत्र श्री मनमोहन मिश्र एवं रामप्रसाद मिश्र उपशास्त्रीय शैलियों के रससिद्ध गायक थे। श्री मथुरा जी छः भाई थे, जिनके नाम सिद्ध, प्रसिद्ध, सन्तू, महन्तू, श्री मथुरा जी और गोकुल मिश्र, जो कि आज भी मूर्धन्य कलाकारों की श्रेणी में आते है।

अतः मथुरा जी की संगीत परम्परा में गायन, सारंगी, तबला आदि के कलाकारों ने आपकी घराने को गौरवान्वित किया है।

तेलियाना घरानाः-

ब्रिटिश साम्राज्य के आगमन से बहादुरशाह का साम्राज्य नष्ट हो गया और इस दरबार के कलावन्त सादिक अली, वारिस अली, अकबर अली एवं निसार अली आदि गायक बनारस में आकर यहीं के निवासी हो गये।

आप सभी गायक काशी के तेलियाना मुहल्ले में रहकर अपनी कला साधना से काशी नरेश को प्रभावित किया और काशी के राजा ने आपको अपने दरबार का कलावंत नियुक्त किया। इस घराने में बीनकार आंशिक अली खाँ जो कि ध्रुपद, टप्पा, ख्याल आदि के मूर्धन्य कलाकार थे, आपने अपनी संगीत परम्परा में कई शिष्यों, भाई, भतीजों को संगीत क्षेत्र में उच्च स्थान दिलाया है।

तेलियाना घराने के अन्तर्गत शिष्यों ने निखिल बनर्जी, देवव्रत चौधरी, राम चक्रवर्ती आदि ने अपने-अपने क्षेत्र में प्रसिद्धि प्राप्त की है।

इस प्रकार काशी के अनेक घराने अपनी शिष्यों, वंशजों की संगीत साधना से बनारस नगरी की संगीत परम्परा को गौरवान्वित करते आ रहे हैं, इन संगीत विद्वानों ने अपनी विशिष्ट गायन शैली को न केवल विकसित किया है, अपितु आज भी घराने की वंश परम्परा को समृद्धशाली कर संजोए रखा है।

"संगीत" नई राहें नई दिशायें

डॉ. वेणु वनिता

भारतीय शास्त्रीय संगीत शब्द और वाद की उपासना से मानव के अन्तस् में विराजित किन्तु सुप्तप्रायः देवत्व को जागृत करने का प्रयास करता रहा है, और यही वह उदान्तता है जिसने विश्व संगीत बिरादरी में भारतीय संगीत को सिरमौर बना दिया है। भारतीय संगीत की परम्परा जन-जन को नवजीवन देने वाली प्राणदायिनी गंगा की तरह प्राचीन काल से ही एक वेगवती धारा के रूप में अखण्ड प्रवाहित होती हुई वर्त्तमान समय तक पहुंची है।

आज के भूमण्डलीकरण और वैश्वीकरण के दौर में शिक्षा को भी व्यवसायिकता से जोड़ा जाने लगा है इसी कड़ी में संगीत भी इससे अछूता नहीं रहा। संगीत भारत की संस्कृति और सभ्यता में रचा बसा है। यहां संगीत को देव-विद्या के रूप में अंगीकार किया गया है। यह विषय संस्कृति और समाज का अभिन्न अंग होते हुए भी, जीविकोपार्जन के लिए भी महत्वपूर्ण है। संगीत की समृद्ध धरोहर गुरू शिष्य परम्परा-विपरीत राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों में सुरक्षित रही है और आज हमारे स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालय में शास्त्रीय संगीत, सुगम संगीत, लोक संगीत और फिल्म संगीत आदि की बुनियादी शिक्षा के बीज बोये जा रहे हैं। आगे चलकर यही बीज विकसित होकर छात्र-छात्राओं को विभिन्न प्रकार के प्रयोग करने के लिए नई सृजनात्मक क्षमता प्रदान करते हैं। संगीत की निरन्तर विकास यात्रा के फलस्वरूप इस में व्यवसाय के नये आयाम जुड़े हैं। वाद्यवृन्द वादक, गीत लेखक, संगीत विचारक, प्रकाशक, वाद्य-निर्माता वितरक, शिक्षक, मंचीय कलाकार, संगीतकार, दूरदर्शन एवं आकाशवाणी के कलाकार, संगीत उपचारक (म्यूजिक थैरेपिस्ट) इनके अतिरिक्त संगीत निर्देशक, संगीत सभा के आयोजक, संगीत विचारक एवं समालोचक के रूप में संगीत के विद्यार्थी जीविकोपार्जन हेतु अपना सकते हैं। इलेक्ट्रिानिक का संगीत के साथ समायोजन हो जाने से सी.डी. और एलबम के द्वारा संगीत के संरक्षण और प्रचार-प्रसार तथा वितरण से सबंधित अपरिमित दिशायें खुली हैं।

संगीत के प्रति भारतीय लोगों का प्रेम सदियो से चला आ रहा है। इसे मनोरंजन के सर्वोच्च साधन के रूप में स्वीकार किया जाता है। कुछ वर्ष पहले तक संगीत को रूचि (हॉबी या पार्टटाइम) के रूप में अपनाया जाता था, लेकिन मनोरंजन की दुनिया में आई क्रांति के कारण इस क्षेत्र के प्रति युवाओं में जबरदस्त जुनून (क्रेज) दृष्टिगोचर होता है। महत्वपूर्ण बात यह है कि ग्लोबल म्यूजिक इंडस्ट्री आज वैश्विक स्तर पर सबसे तेजी से विकास कर रहे क्षेत्रों में एक हो गई हैं। इसकी पुष्टि प्राइस वाट हाउस कूपर ग्लोबल एंटरटेनमेंट एण्ड मीडिया की रिपोर्ट से भी होती है। इस रिपोर्ट के मुताबिक अग्रिम वर्षो में 'इंडियन म्यूजिक इंडस्ट्री' विश्व में सबसे बड़े बाजार के रूप में स्थापित हो जाएगी। ग्लोबल म्यूजिक इंडस्ट्री को बढ़ाने में भारतीय संगीत उद्योग की अहम भूमिका होगी। अर्थात् संगीत से लगाव रखने वालों के लिए इस क्षेत्र में जीविका (कैरियर) का द्वार हमेशा खुला रहेगा।

प्रबक्ता संगीत विभाग बरेली कॉलेज, बरेली

जीविका के रूप में संभावनाएं-

इस समय भारतीय संगीत में जबरदस्त धूम है। दरअसल विभिन्न मंनोरंजक चैनल्स द्वारा आयोजित म्यूजिकल टैलेन्ट शोज के चलते संगीत के प्रति लोगों का आकर्षण और बढ़ा है। जिससे संगीत की दुनिया को एक नया आयाम मिला है। यहां आप पार्श्व गायक, पॉप स्टार, एजेंटस और संगीत निर्देशक के रूप में जीविका (कैरियर) की शुरूआत कर सकते हैं।

शास्त्रीय संगीत से जुड़े विद्यार्थी भी अब फिल्म संगीत में जीविका ढूंढ सकते हैं क्योंकि जनमानस अब शास्त्रीय संगीत से प्रेरक संगीत को अधिक पसन्द कर रहें हैं

इसके अतिरिक्त ऐसे कई और क्षेत्र हैं, जहां आप अपनी संगीत की प्रतिभा को नई बुलंदियों तक पहुंचा सकते हैं। आप चाहें तो कापीराइटर, रिकॉर्डिंग टेक्निशियन, संगीत वाद्य निर्माण, संगीत उपचार निर्माता, वितरक एवं मैनेजमेंट के साथ-साथ प्रदर्शनात्मक, कलाकार (परफॉमेंस) के क्षेत्र में भी कैरियर तलाश कर सकते हैं।

जीविकोपार्जन हेतु अन्य विकल्पः-

संगीत की दुनिया में आप अपनी रूचि के अनुसार जीविकोपार्जन ढूंढ सकते हैं। यहां आप शिक्षण ध्वन्यांकन, कंसर्ट, लाइव शो, मंच प्रदर्शन, विडियो जॉकी और रेडियो जॉकी के रूप में भी अवसर खोज सकते हैं। शास्त्रीय, उपशास्त्रीय लोकसंगीत, गजल, पॉप, फ्यूजन आदि के क्षेत्र में भी भरपूर अवसर उपलब्ध हैं। हाल के वर्षो में सेटेलाइट टेलीविजन के बढ़ते दायरे, म्यूजिक चैनल्स की बढ़ती लोकप्रियता, म्यूजिकल शो आदि के कारण संगीत के बाजार में बेतहाशा वृद्धि हुई है। इस क्षेत्र में यदि एक बार आपको अच्छा मौका मिल जाता है तो लोकप्रियता के साथ-साथ काम करने के अच्छे अवसर भी खूब मिलने लगते हैं।

संगीत निर्देशक एवं गीत लेखन-

जिन विद्यार्थियों में गाने लिखने का हुनर और म्यूजिक कंपोजिंग की बारीक समझ है उनके लिए इस क्षेत्र में किस्मत आजमाना बेहतर हो सकता है दरअसल म्यूजिक कंपोजर या म्यूजिक अरेंजर को नित नए संगीत गढ़ने और लिरिक्स तैयार करने की विद्या में निपुण होना चाहिए। साथ ही साथ संगीत की समझ एवं श्रोता किस तरह का संगीत पसंद करते हैं इसके बारे में जानकारी अवश्य होनी चाहिए, गीत लेखक, संगीत की थीम, दर्शक व श्रोताओं की पंसद एवं उनके मनोभावों के हिसाब से ही गाने तैयार करते हैं। संगीत निर्देशक एवं गीत लेखन के आज फिल्म, आकाशवाणी, दूरदर्शन, विभिन्न लोक संगीत एवं उपशास्त्रीय एलबम आदि में काम करने के अवसर मौजूद हैं।

गायक एवं वादक-

नए गायकों एवं वादकों के लिए भी संभावनाओं की कोई कमी नहीं हैं। इंडियन आइडल, सा रे ग मा पा आदि जैसे म्यूजिकल शो ने नए गायकों को खूब प्रोत्साहित किया है। यही वजह है कि आज की युवा पीढ़ी इस क्षेत्र को कैरियर के रूप में अपनाने के प्रति अधिक सजग हो गई है। गायक अपनी शुरूआत शास्त्रीय गायन या पॉप दोनों ही रूपों में कर सकते हैं। गायकों के साथ-साथ वादकों को भी निराश होने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि गायन बिना वादकों के अपूर्ण है अतः वादकों के पास भी समान अवसर उपलब्ध हैं।

सांगीतिक उपचारः-

चिकित्सा में संगीत का योगदान आदि काल से माना गया है इस सम्बन्ध में किये गये प्रयोग इस मान्यता को दृढ़ता प्रदान कर सिद्ध करते हैं।

शहरी सभ्यता ने नए प्रकार के तनाव और मानसिक जड़ता को जन्म दिया है। आज की भागदौड़ भरी पद्धति रोगों एवं तनाव को आमंत्रित करती है। रोग मुक्ति एवं तनाव से निजात पाने के लिए प्रयोग की गई दवाओं के सेवन से साइड इफेक्ट के रूप में शरीर पर दुष्प्रभाव पड़ता हे।

संगीत एक ऐसी औषधि है जो बिना किसी साइड इफेक्ट के मानव को आनंद, स्फूर्ति, चेतनता एवं एकाग्रता प्रदान करती है। मधुर संगीत के

ध्वनि मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षक रोग-निवारक एवं आयुवर्धक होती है।

भारतीय रोगों एवं उनके चिकित्सकीय प्रभाव पर चेन्नई स्थित 'राज रिसर्च सेन्टर' भी कई संगीत चिकित्सकों एवं मनः चिकित्सकों के साथ अध्ययन में रत हैं।

इस प्रकार संगीत उपचार के क्षेत्र में भी अपार संभावनाएं बनती जा रही है। बड़े-बड़े अस्पताल म्यूजिक थैरेपिस्ट की सेवा ले रहे हैं। इस क्षेत्र में कार्य करने वाले विशेषज्ञ म्यूजिक की सहायता से मरीजों को ठीक करने की कोशिश करते हैं।

संगीत शिक्षक-

संगीत में विद्यार्थियों के समक्ष यह विकल्प तो सदैव है ही। इसमें भी दो रूपों पर जीविका के साधन उपलब्ध हैं एक संगीत शास्त्र एवं दूसरा प्रयोगात्मक। माध्यमिक शिक्षा से विश्वविद्यालयीन शिक्षा तक संगीत शिक्षकों के अनेक पद हैं। इसके अतिरिक्त प्राइमरी स्तर पर भी संगीत शिक्षक की भूमिका महत्वपूर्ण है। इनके साथ ही संगतकर्ता भी जीविकोपार्जन का एक सशक्त माध्यम हैं।

इन सबके अतिरिक्त डी.जे., आर. जे. वीजे संगीत पत्रकारिता, संगीत आलोचक, संगीत प्रकाशक, संगीत आयोजक आदि अपरिमित नवीन दिशायें हैं। संगीत के क्षेत्र में आज जीविकोपार्जन हेतु असीमित संभावनाएं हैं। पहले यह क्षेत्र कुछ खास लोगों के इर्द-गिर्द ही घूमता था लेकिन हाल के वर्षो में इस क्षेत्र के प्रति युवाओं में आकर्षण बढ़ा है। साथ ही संभावनाएं भी बढ़ी हैं जरूरत है तो सिर्फ अपनी रूचि अनुसार सही चुनाव की।

दैनिक जीवन में लोक संगीत

निधि श्रीवास्तव

यह संगीत जन समुदाय का संगीत है इसका सम्बन्ध किसी देश जाति या कला के आधार पर किसी विशिष्ट समुदाय के सदस्यों से होता है।

मानव स्वभाव ही दूसरो के सम्मुख अपने आन्तरिक उद्‌गारो को प्रकट करने की अभिलाषा रखता है। अतः उन्हें प्रकट करने के लिये या तो वाणी का प्रयोग या इंगितो को अपना साधन बनाता अथवा कभी वाणी व संकेत दोनो को काम में लाता है इसके प्रति मानव के साथ जो घना सम्बन्ध जन्म से होता है उससे कोई भी इन्कार नहीं कर सकता।

प्राचीनकाल के लोकगीतो में बहुत कम शब्द और स्वरों का प्रयोग मिलता है। एक तरह की धुन को बार-बार दोहराया जाता है। लोक संगीत सहज और सुलभ होने के फलस्वरूप भावों के विनिमय का सबसे उत्कृष्ट, लोकप्रिय प्रचलित माध्यम बन गया। चेतना, भावों, लोक-काव्य व लोक-कलाओं के साथ-साथ लोक संगीत के पर्याप्त अभ्यास के सहयोग से गीतों, काव्य आदि कलाओं के विभिन्न अंगो को विकसित और समृद्ध किया और संगीत को शास्त्रीय धरातल पर स्थित किया।

लोक कला एक विशेष कला है। शास्त्रीय संगीत का आधार लोक संगीत माना जाता है तथापि दोनो के बीच गहरी खाई है। प्रचलित देशी संगीत को दो भागों में विभक्त किया जाता है:-

1. लोक संगीत। 2. शास्त्रीय संगीत।

लोक संगीत यूँ तो केवल मनोरंजन का साधन है, पर उसके गीतो के द्वारा सामाजिक स्थिति, रीति रिवाज़, सभ्यता व संस्कृति की झलक मिलती है ग्राम और नगर दोनो की महत्ता इसे प्राप्त है। भिन्न भिन्न रूपों में लोक संगीत विभिन्न भाषाओं पर आधारित है। उससे लोक संगीत के भविष्य का स्वप्न साकार होने की आशा की जा सकती है।

लोक संगीत की विशेषतायँ और महत्त्व

लोक संगीत मानव मात्र की भावनाओ की शुद्ध निशुद्ध अभिव्यक्ति है अतः संसार के विभिन्न भागों के संगीत की शैली तथा कार्य प्रणाली मे विविधता होते हुये भी लोक संगीत में एक विशेष प्रकार की समानता है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि सम्पूर्ण मानव जाति के लिये लोक संगीत का विशेष महत्व रहा है। लोक गीतों में शास्त्रीय संगीत के राग व ताल सम्बन्धी कठोर नियमो का पालन करना आवश्यक नही है यद्यपि कहीं पर ये अपने परिमार्जित रूप में शास्त्रीय संगीत पर भी आधारित हो सकते हैं।

इन गीतों में देश, काल व परिस्थितियों के अनुसार विविधता पायी जाती पर वह पृथक नाम व रूप धारण कर लेता है। लोक संगीत किसी प्रकार के चौखटों में आबद्ध नहीं। **स्व. पं. जवाहर लाल नेहरू जी ने कहा** - "लोक कला में हमको अपने उस सांस्कृतिक वैभव को देखने का अवसर मिलता है जिसने हमारे देश को एकता के सूत्र में बाँधा है"

इन गीतो की रचना में स्थायी अन्तरे के नियम का पालन होता है किन्तु गीत में कई अन्तरे होते हैं।

लोक संगीत में प्रत्येक समुदाय के सदस्य अपने पूर्वजो की धरोहर के रूप में एक दूसरे से सुनकर अनायास ही उन्हें प्राप्त करते हैं। इन्हें प्राप्त करके वे आने वाली पीढ़ी को हस्तान्तरित करते हैं।

शोध छात्रा, संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

इस संगीत में रागों व ताल के महत्व की अपेक्षा स्वर माधुरी व लय सौन्दर्य को अधिक महत्त्व दिया। लोक संगीत का प्रचार प्रसार व्यक्तिगत रूप में होता है। इनकी रचना के लिये कोई व्यक्ति उत्तरदायी नहीं होता तथा प्रायः इसके रचयिता अज्ञात ही होते है।

इस प्रकार के संगीत का कोई क्रमबद्ध व व्यवस्थित इतिहास उपलब्ध नहीं है लेकिन ये चिरकाल से चले आ रहे है। लोक संगीत संवेगी के निकास तथा आत्मभिव्यक्ति व रोचकता का माध्यम है। लोक संगीत का उद्देश्य अपनी परंपरागत कला को जीवित रखना होता है अत किसी अहं कि भावना उसमें नहीं आती है। लोक संगीत की यही प्रेरणा शक्ति सामाजिक उत्थान में सहायक सिद्ध होती है।

लोक संगीत की अनेक धुनों की बंदिश विशुद्ध रागो में है, उसी प्रकार जिसे शास्त्रीय संगीत कहा जाता है उसका मुख्य आधार लोक संगीत ही है। लोक संगीत और शास्त्रीय संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत गहरा और अटूट है।

हर्ष है कि कलाविदो व शासन की ओर से अब इस दिशा में भी पहल हुई है इन गीतो की रचना में स्थायी अन्तरा के नियम का पालन होता है किन्तु गीत में कई अन्तरे होते हैं।

लोक संगीत को प्रत्येक समुदाय के सदस्य अपने पूर्वजों की धरोहर के रूप में एक दूसरे से सुनकर अनायास प्राप्त करते है फिर इन्हें प्राप्त करके आने वाली पीढ़ी को हस्तान्तरित करते हैं।

लोक संगीत के पक्ष

लोक संगीत के निम्न पक्ष होते हैं:-

<u>एकाकी गायन</u> - यद्यपि लोक संगीत के गायन पक्ष में सामूहिक गायन का विशेष महत्व है फिर भी एकाकी गायन को विस्तृत नहीं किया जा सकता आज भी 'भोजपुरी' लोक संगीत में प्रचलित "विदेसिया" लोक गीत एकाकी ही गाये जाते है जो लोक धुनो पर आधारित है। ऐसा एकाकी गायक व्यक्तिगत अनुभूतियों को ही अधिक प्रकट करता है इसलिये लोक संगीत में एकाकी गायन भी महत्वपूर्ण रहता। यह भी हमारे मन को मधुरता प्रदान करता है।

<u>एकाकी वादन</u> एकांकी वादन से तात्पर्य है मुक्त अथवा एकल वादन कहा जाता है जब किसी भी वाद्य चाहे तंत्री हो, अवनद्य हो सुषिर हो मुक्त रूप से या अकेले ही या प्रधान रूप से वादन किया जाये तो उसे एकांकी वादन कहा गया है। भिन्न भिन्न वाद्यो की अपनी निजी शैली है। उसकी भौतिक विशेषताए है उसी के आधार पर मुक्त वादन सम्पन्न होता है।

एकाकी वादन मे बातों की ओर ध्यान दिया जाता है। प्रथम यह कि लय प्रारम्भ में विलम्बित होकर क्रम में बढ़ती रहती है, द्वितीय यह है कि बोलो का चयन इस ढ़ग से किया जाता है कि एक के बाद दूसरा बोल या स्वर प्रभावोत्पादक आता रहें।

अतः लोक संगीत मे एकाकी वादन की दृष्टि से अधिक वाद्यो का प्रयोग नही पाया जाता।

<u>सामूहिक गायन</u> - अधिकांश लोकगीत, लोकधुन लोक संगीत इत्यादि सामूहिकता की देन होते है। इसीलिये इसमे समवेत गायन अधिक पाया जाता है। लोक संगीत के क्षेत्र में सामूहिक गायन अपना विशेष महत्व रखता है। प्रायः यह देखा जाता है कि सामूहिक गायन में जितने अधिक स्त्री पुरूषो का संयोग रहता है उतना ही अधिक प्रभाव, अधिक मस्ती, अधिक रसानुभूति, अनुभव की जाती है। समूह गायन बिना साज संगति के भी किये जाते है और संगीत के साथ भी प्रस्तुत किये जाते है।

<u>स्वर</u> - संगीत का मूलभूत उपादान 'स्वर' है। स्वर को पाश्चात्य संगीत में 'नोट' कहते हैं। स्वरों के विभिन्न समूह से संगीत का निर्माण होता है। हमारे यहाँ मूलभूत स्वर को 'षड़ज' या 'सा' कहते है किसी भी प्रकार की संगीत रचना के लिए कोई न कोई स्वर कायम करना पड़ता है। स्वर श्रुतियों से बनते हैं। भारतीय संगीत में स्वर की उच्च - नीचता स्थिर और अपरिवर्तननीय नहीं है।

<u>लय</u> - लय का लोक संगीत के तंत्र में बहुत महत्वपूर्ण कार्य है। सर्वप्रथम लय स्वरों के आन्दोलन को नियन्त्रित व व्यवस्थित करती है। दूसरे लय संगीत रचना को शक्ति प्रदान करती है। लय के द्वारा लोक संगीत के विभिन्न पक्षों में विशेष सम्बन्ध स्थापित होते है तथा लय संगीत के ज्ञान को वस्तुनिष्ठ बनाती है।

प्रत्येक व्यक्ति में इसकी क्षमता भिन्न होती है यदि हम स्वयं का अनुभव करे तो हम पाते हैं कि दुनिया में हर चीज मे लय है। लय हेतु वाद्य का

प्रयोग होता है। वे - ढोलक, मंजीरा, झांझ, इकतारा आदि हैं।

भारत देश के प्रत्येक प्रान्त में अपनी - अपनी संस्कृति के अनुसार लोक गीत गाये जाते हैं। भिन्न भिन्न उत्सवों में भिन्न भिन्न गीत गाये जाते हैं जिनका हमारे जीवन में एक अलग ही महत्व है जो इस प्रकार है।

संस्कार गीत

<u>पुत्र जन्म के गीत</u> इस अवसर पर जो गीत गाये जाते हैं उन्हे 'सोहर कहा जाता है।

गीत

परभु मोर, बसे बिदेश, कि दूर बसै न रे।
ललना रे, केकरा से कहब दिल कि बात,
चढल मास तेसर रे ।। 1 ।।
सासु मोरा बसै नैहर, ननद सासुर बसैरे।
ललना रे घर मे हे देवर नादान,
चढत मास चारिम रे ।।2 ।।
जिया मोर दग, दग, दगै, कि तर तर तरकेरे।
ललना खटरस कुछु न सोहाव,

उपर्युक्त गीत में गर्भिणी कितनी चिन्ता से व्याकुल है और इधर प्रति मास गर्भ मे वृद्धि हो रही है।

<u>मुण्डन गीत</u> बालक के कटे हुये केश को उसकी बहिन अथवा बुआ अपने आँचल में इकट्ठा करती है तब दादी और चाची नेग का वर्णन करती है जो प्रायः असामान्य है।

<u>विवाह के गीत</u> विवाह में सर्वप्रथम कन्या के पिता के द्वारा उसके लिये सुन्दर वर खोजने का प्रयास किया जाता है। कोई कन्या अपने पिता से अपने लिये योग्य वर खोजने की प्रार्थना करती हुई कहती है कि: -

"बाबा जे चललन घर बर खौजै,
आगु मे रूकुमिनी ठाड़ है ।। 1 ।।
अपना जुगुति हो बाबा समधी जे खौजिहा
परिजन लोग बरियात है ।।2 ।।

इस प्रकार से कन्यादान, सिन्दूरदान, सोहागरात कन्या निरीक्षण के गीत, समदाउन के गीत(विदाई के गीत), समदाऊनि गवना के गीतो को समदाऊनि के गीत कहा जाता है।

विभिन्न ऋतुओं के अनुसार हमारे भारत वर्ष के विभिन्न प्रदेशो में गीत गाये जाते हैं:- जैसे फाग, चैतावर, मलार और बारहमासा प्रधान है। विभिन्न व्रतों पर गीत गाये जाते हैं - मधुश्रावणी के गीत, खेल के गीत, श्यामा-चकेवा के गीत, देवी - देवताओं के गीत। भोजपुरी लोक -गीतों में सीता की अग्नि परीक्षा का उल्लेख पाया जाता है। यह गीत मर्मस्पर्शी तथा हृदयद्रावक भी हैं।

"जब रे सीता देई अदीत हाथे लिहली रे
आदित छपीत होई जाईए।
इहो किरियवा ए सीता हम ना पतियाइवि:
सरप विचरवा हम लेखिए।।
जब रे सीता देई सरप हाथ लिहलीरे।।"

आज से लगभग सौ वर्ष पहले भोजपुरी प्रदेश में बाल-विवाह की प्रथा भंयकर रूप से प्रचलित थी।

अतः हम यही कह सकते हैं कि किसी देश की लोक संस्कृति उस देश के लोक साहित्य में वहाँ के लोकगीतों तथा कथाओं में सन्निविष्ट रहती है। अतः इस संस्कृत को उजागर करने के लिये लोक गीतों की रक्षा करना हमारा परम धर्म है। देश में भावनात्मक एकता तथा राष्ट्रीय एकता स्थापित करने के लिए लोक-गीतों का अध्ययन एक निश्चित माध्यम है। हमारी केन्द्रीय सरकार देश में भावनात्मक एकता स्थापित करने के लिए लाखों करोड़ो रूपये पानी की तरहा बहा रही है। यदि लोक गीतों के माध्यम से इस कार्य को किया जाये तो निश्चित ही सफलता प्राप्त हो सकती है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. बसन्त, संगीत विशारद
2. मनकान गुरमीत सिंह, उत्तर भारतीय संगीत
3. त्रिपाठी डॉ. रंजना, पूर्वी उत्तर प्रदेश के लोक गीतों में संगीत शास्त्रीयता -
4. मिश्र डॉ. लालमणि, भारतीय संगीत वाद्य -
5. लोक संगीत अंक संगीत, हाथरस (उ0प्र0) - जनवरी 1966

श्रीमती हीराबाई बड़ोदकर :- एक सिद्ध गायिका

डॉ. संतोष दत्तात्रयराव परचुरे

हीराबाई का जन्म 29 मई, 1905 ई. को मिरज (दक्षिण महाराष्ट्र) में ऐसे परिवार में हुआ, जिसमें स्वर एवं लय की पावन धारा तीन पीढ़ियों से बह रही थी। सो, संगीत उन्हें संस्कार में मिला था। किराना घराने के प्रवर्तक उस्ताद अब्दुल करीम खां का पैतृक प्रेम तो उन्हें प्राप्त था ही। संगीत शिक्षा उन्होंने महान् संगीतज्ञ उस्ताद वहीद खां से पायी। कुछ समय तक आगरा घराने के उस्ताद मुहम्मद खां से भी सीखा। किंतु उनकी मुख्य एवं गहन शिक्षा किराना-घराने के उस्ताद वहीद खां से ही हुई।

खां साहब अनुशासन प्रिय और कठोर शिक्षक थे। उन्होंने हीराबाई की निःसर्ग, मधुर आवाज को नया मोड़ दिया। उस्ताद ने प्रारंभ में उन्हें यमन राग सिखाने के बजाए पटदीप की शिक्षा दी। यह शिक्षा इतनी विशद् एवं व्यवस्थित थी कि पटदीप हीराबाई को अंत तक प्रिय रहा और उसमें उनकी प्रस्तुति अतिश्रेष्ठ मानी गयी।[1]

अपना प्रथम सार्वजनिक गायन-कार्यक्रम हीराबाई ने 1921 ई. में 16 वर्ष की आयु में प्रस्तुत किया। अवसर था, मुंबई में गंधर्व महाविद्यालय का वार्षिक समारोह। उस्ताद वहीद खां इससे उन पर नाराज भी हुए, क्योंकि वे मानते थे कि प्रशिक्षण पूरा होने पर ही सार्वजनिक कार्यक्रम पेश किया जाना चाहिए। किन्तु जब उन्हें पता चला कि हीराबाई ने सम्मानित संगीतज्ञ पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर के कहने पर गायन पेश किया, तो वे शान्त हो गए।

हीराबाई की निष्ठा, लगन तथा अटूट साधना शीघ्र फली और 1924 ई. में उस्ताद ने उन्हें सार्वजनिक रूप से गाने की अनुमति दे दी। उस साल पुणे के आर्यभूषण थियेटर में गायन का कार्यक्रम प्रस्तुत करके हीराबाई ने इतिहास की सृष्टि की। सार्वजनिक रूप से गायन पेश करने वाली वे प्रथम महिला थीं। इसके बाद लगभग आधी सदी तक पूरे देश के संगीत-समारोहों में और आकाशवाणी पर वे गाती रहीं। उनके रिकार्ड व कैसेट उनके उत्कृष्ट गायन के जीवन्त प्रमाण हैं, जो आनेवाली पीढ़ी को रसप्लावित करते रहेंगे।

अपने गुरू के निर्देश से हीराबाई ने भास्कर बुवा बरवले, अल्लादिया खां, रामकृष्णबुवा बझे, मराठी-नाट्य संगीत के अनुपम गायक नट बालगंधर्व आदि गुणी कलावंतों को पूर्ण मनोयोग से सुना, किन्तु उनकी गायकी की नकल न करके, अपनी ही विशिष्ट शैली विकसित की। बेशक यह शैली किराना-गायकी के ही अंग-स्वरूप थी। सहज भाव से वे तानपूरे के स्वर के साथ एकाकार हो जातीं और उनका शासन रसिक श्रोताओं के मन-मस्तिष्क पर जादू सा प्रभाव दिखाने लगता। स्वर-लगाव का तेज इतना अधिक था कि स्वर जैसे मूर्त हो उठता था।

उनका षड्ज ईश्वरीय अंश, चन्द्रमा का तेज था, जो तपः पूत उपलब्धि थी। स्थायी, अंतरा-प्रस्तुति, व्यवस्थित बढ़त, ताल का उपयुक्त महत्त्व अर्थात् सभी अंगों के निरूपण में समर्थ थी, उनकी गायकी। उसमें आंतरिक अनुभूति की सहज अभिव्यंजना थी जो हृदय को स्पर्श करती थी। वे ''सुर'' की पुजारिन थी।

एक बार उनकी कही बात आज के लिए बहुत ही प्रासंगिक है। उन्होंने कहा था, जिस तरह भरतनाट्यम् नृत्य में 'अरंगट्रेम' होता है और दक्षिण में गायकों-वादकों को मंदिर में पहले गुणीजनों के समक्ष गाना-बजाना पड़ता है और उनकी अनुमति मिलने पर ही वे सार्वजनिक कार्यक्रम पेश कर सकते

अध्यक्ष, संगीत विभाग,एस.पी.एच. महिला महाविद्यालय, मालेगांव कैम्प, महाराष्ट्र

हैं, वैसा ही वातावरण मेरी तरूणाई के दिनों में था। उस्ताद हमें पहले बड़े उस्ताद के समक्ष पेश करते थे। वहां से अनुमति मिलने पर ही उन्हें गायन-योग्य समझा जाता था।''[2] आज इस प्रणाली के प्रवर्तन की सचमुच आवश्यकता है।

जहां उन्होंने महिलाओं को संगीत-शिक्षा के लिए आगे आने की प्रेरणा अपने उदाहरण से दी, वहीं संगीत-शिक्षा के प्रसार में प्रत्यक्ष योगदान भी किया। देश-विदेश में संगीत-कार्यक्रम प्रस्तुत करते हुए भी उन्होंने पचास से अधिक छात्राओं को शिक्षा दी, जिनमें से कई आज प्रतिष्ठित कलाकार हैं। इनमें उनकी पुत्री सरस्वती राणे के अलावा प्रभा अत्रे, शैला पंडित, उषा मजूमदार, जानकी अय्यर, मीरा परांजपे आदि उल्लेखनीय हैं।

केसर बाई केरकर और गौहर जान जैसी अपने से वरिष्ठ गायिकाओं का स्नेह हीराबाई ने अर्जित किया। कोलकाता के एक संगीत समारोह में केसरबाई बड़े सम्मान के साथ हीराबाई को मंच पर ले गयीं। 1965 ई0 में मुंबई के विले पार्क म्यूजिक सर्किल द्वारा आयोजित समारोह स्मरणीय रहेगा। इसमें केसरबाई मंच पर आयीं, हीराबाई को हार पहनाया और उनसे गले मिलीं। वे एक शब्द भी नहीं बोलीं, किन्तु उनकी वे मौन प्रेमाभिव्यक्ति अपूर्व थी। विख्यात ठुमरी-गायिका गौहरजान ने हीराबाई को कई ठुमरियां और लोरियां सिखाई थीं।

हीराबाई के जीवन की एक स्मरणीय घटना महान् कथक नर्तक शंभू महराज से जुड़ी हैं। किसी संगीत-कार्यक्रम के सिलसिले में वे लखनऊ गयी थीं। शंभू महराज ने उन्हें अपने निवास पर आमंत्रित किया और सहज ही उनसे ठुमरी गाने का अनुरोध किया। हीराबाई बोली, ''अगर आप नृत्य करें तो मैं गाऊंगी।'' हीराबाई ने भैरवी की ठुमरी ''अकेली मत जइयो राधे जमुना के तीर'' गायी और शंभू महराज ने उसपर नृत्य किया। देव दुर्लभ था वह दृश्य।[3]

1949 ई. में हीराबाई ने दक्षिण अफ्रीका की यात्रा की और 1953 ई0 में भारतीय कलाकार प्रतिनिधि मंडल के साथ चीन में अपनी कला का प्रदर्शन करके सम्मान प्राप्त किया। उन्हें कई सम्मान मिले, जिनमें संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार, पद्मभूषण, विष्णुदास भावे पुरस्कार, प्रथम मास्टर दीनानाथ मंगेशकर पुरस्कार और 'गायन-हीरा' उपाधि उल्लेखनीय है।

1920 ई. के दशक में उनके सांगीतिक क्षेत्र पदार्पण से पूर्व महाराष्ट्र की किसी महिला सार्वजनिक रूप से संगीत कार्यक्रम प्रस्तुत करने हिम्मत नहीं की थी। महिलाओं के लिए शास्त्री संगीत सीखने व पुरूषों के बराबर सार्वजनिक रूप कार्यक्रम पेश करने का मार्ग हीराबाई ने ही प्रश किया।

मराठी के संगीत नाटकों में पुरूषों का वर्च था और स्त्री भूमिकाओं को भी वे ही निभाते थे तब हीराबाई ने कहा क्या स्त्री-भूमिकाएं स्त्रियां स्व नहीं निभा सकतीं, और स्वयं रंगमंच पर उतरक उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि स्त्री-भूमिका को महिलाएं न केवल पूरी योग्यता से, बल्कि पुरू से अधिक सहजता से निभा सकती हैं।

''संगीत सौभद्र'' में सुभद्रा की भूमिका में उन्हों ऐसे युग में अपार लोकप्रियता अर्जित की जब बा गंधर्व और दीनानाथ मंगेशकर जैसे कलाकार नाट्य रसिकों के मन-मस्तिष्क पर छाये थे। ''साध्वी मीरा नाटक में मीराबाई की भूमिका में भी वे अत्यं लोकप्रिय हुई। ''संशय कल्लोल'' में पं. विनायक राव पटवर्धन के साथ उनकी भूमिका स्मरणीय है

इस प्रकार स्वाधीनता पूर्व एवं स्वतंत्रोत्तर भार में समान रूप से श्रीमती हीराबाई बड़ोदेकर संगी की प्रमुख हस्ती थीं।

20 नवंबर, 1989 ई. को हीराबाई के निधन से किराना-घराने की सौम्य एवं उदात्त गायकी का एक समुज्ज्वल नक्षत्र अस्तमित हुआ और संगीत रसिक समाज दुखी। किन्तु इस गायिका द्वारा प्रज्वलित ज्योति दीर्घकाल तक आनेवाली पीढ़ियों का पथ आलोकित करती रहेगी।

संदर्भ

1. बहोरे रवीन्द्रनाथ (सं.), भारतीय संगीत के प्रमुख स्तंभ, पं. मदनलाल व्यासकृत, क्लासिकल पब्लिशिंग कंपनी, नईदिल्ली, पृ. 217-218
2. बहोरे रवीन्द्रनाथ (सं.), भारतीय संगीत के प्रमुख स्तंभ, पं. मदनलाल व्यासकृत, क्लासिकल पब्लिशिंग कंपनी, नईदिल्ली, पृ. 219
3. बहोरे रवीन्द्रनाथ (सं.), भारतीय संगीत के प्रमुख स्तंभ, पं. मदनलाल व्यासकृत, क्लासिकल पब्लिशिंग कंपनी, नईदिल्ली, पृ. 219-220

मोहम्मद शाह रंगीले काल में संगीत में महिलाओं का योगदान

डॉ. रामशंकर

मुगलशासन काल का अंतिम बादशाह मो. शाह रंगीले हुए जो 1719 ई. से 1748 ई. के बीच गद्दी पर रहे। वे संगीत से अत्यधिक प्रेम रखने वाले बादशाह थे। उस समय तक सुल्तान हुसैन शर्की तथा अमीर खुसरो द्वारा प्रतिपादित बड़ा ख्याल तथा छोटा ख्याल बहुत हद तक आमलोगों में प्रचलित हो चुका था। मो. शाह रंगीले के दरबार में सदारंग तथा अदारंग नामक दो गायक थे, जिन्होंने ख्याल शैली के अंतर्गत अनगिनत रचनाएं तैयार की। उन रचनाओं में उन्होंने अपने नाम के साथ बादशाह का नाम इस प्रकार ''सदा रंगीले मोहम्मद शाह'' को जोड़ते हुए बादशाह को खुश किया। आज भी ख्याल गायक अधिकांशतः उन्हीं रचनाओं को गाते हैं। प्रायः उनमें से अधिकांश रचनाएं या तो श्रृंगार रस प्रधान है अथवा बादशाह के खुशामद में रचित हैं। मो. शाह के दरबार में कई अन्य ख्याति प्राप्त गायक भी थे जिनमें टप्पा प्रवर्तक शोरी मियां तथा नूर खां, नारद खां, गुलाम रसूल, प्यार खां आदि का नाम उल्लेखनीय है।

औरंगजेब के शासन काल में ही दक्षिण भारत के तंजावर राज्य में व्यंकट भारती नामक संगीत के महान पंडित हुए। चूंकि दक्षिण भारत अकबर के समय से ही मुगल शासन क्षेत्र से बाहर था अतः वहां के संगीतज्ञ औरंगजेब के अत्याचार की परिधि से बाहर थे। साथ ही वहां का संगीत यवन संस्कृति से प्रभावित नहीं हो पाया था। यही कारण है कि दक्षिण भारतीय संगीत 'कर्नाटक संगीत' के नाम से पृथक होकर जाना जाने लगा तथा मुगल क्षेत्राधिकार के संगीत का नामकरण मुगलों ने 'हिन्दुस्तानी संगीत' रख दिया।

सोलहवीं शताब्दी के बाद से भारतीय संगीत पूर्णरूप से सुल्तानों के आश्रित हो गया। विलासी सुल्तानों की घिनौनी मनोवृति को संतुष्ट करने का साधन बनने लगा। प्रसिद्धि केवल उन कलाकारों और पंडितों को मिल रही थी जो उन सुल्तानों की तुष्टि करते थे। इस युग में संगीत साधना केवल उन युवक-युवतियों ने ही की, जिन्होंने दरबारों की शोभा बढ़ाने को ही अपना लक्ष्य साधा था।[1]

धीरे-धीरे संगीत की शैली में श्रृंगारिकता आयी और गेय पदों की रचना रागों के रूप, धर्म और राग के मौलिक रसों के आधार पर न होकर मात्र श्रृंगार रस और उसके व्याभिचारी भावों के आधार पर होने लगी। 18वीं शताब्दी तक आते-आते ध्रुवपदों में वर्णित विषय त्याज्य हो गए। 'सेजरिया', 'ननदिया', 'सौतनिया', 'छतियां', 'बहियां' और 'नजरिया' आदि शब्दों ने गेय पदों की श्रेष्ठ रचनाओं की छाती पर मूंग दलना प्रारंभ कर दिया। संगीत का साहित्य विलासपूर्ति का साधन बन गया। राज्याश्रय प्राप्त करने की होड़ में श्रेष्ठ विद्वानों ने भी उन युवतियों को शिक्षा देना प्रारंभ किया, जिनको गणिका बनकर सुल्तानों और सामंतों को ही प्रसन्न करना था। सदारंग जैसे श्रेष्ठ विद्वान कलाकार को भी यह करना पड़ा था। इस प्रकार कितनी ही श्रेष्ठ महिला कलाकार उत्पन्न हुई।[2]

प्रवक्ता, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

दरगाह कुली खां की लिखी पुस्तक में हमें सदारंग खां की विस्तृत चर्चा मिलती है। इस पुस्तक में नवाब साहब के सुने और देखे हुए दृश्यों का वर्णन है, अतः विश्वसनीय है। उस काल की तवायफों में सर्वश्रेष्ठ उन्होंने धन्नाबाई को लिखा है। धन्नाबाई श्रेष्ठ गायिका ही नहीं थी, शास्त्रज्ञाता भी थी। वह नये-नये रागों की रचना करती थी। उसका स्वर अत्यंत मनोहर और गायन की प्रस्तुति मनोहारी थी। नवाब दरगाह कुली खां उसकी भूरी-भूरी प्रशंसा करते थे।

पन्ना बाई भी सदारंग की ही शिष्या थी। यह बहुत कुशल गायिका थी, जिसका तानों और बढ़त पर समान अधिकार था। उनका गायन सुरीला और प्रभावकारी भी था। परंतु धन्ना बाई से इनके ज्ञान का स्तर कम था।

नूरबाई तीसरी श्रेष्ठ गायिका थी, जिसकी चर्चा नवाब दरगाह कुली खां ने की है और प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास लेखक श्री वृंदावन लाल वर्मा ने अपने उपन्यास में नायिका के रूप में जिसका चित्रण किया है। यह उस काल के मुगल-दरबार की श्रेष्ठ रूपसी थी। शाह आलम ने अपने हरम में इसको रख लिया था। यह सदारंग की ही शिष्या थी। क्रूर आक्रमणकारी नादिरशाह इसके गुण और रूप पर आसक्त हो गया था। किसी तरह से वह प्राण बचाकर निकल भागी और एक सद्गृहस्थ के रूप में अपना अंतिम समय इसने वृंदावन में कीर्तन करके व्यतीत किया।[3]

उस काल की 'सुजान' नामक गायिका के बारे में कुछ चर्चाएं मिलती है। धनानंद के काव्य-सृजन की प्रेरणा स्रोत सुजान ही थी।

'जो गति भई गजेन्द्र की, जो गति मेरी आज।
बाजी जात बुंदेल की, राखौ बाजी लाज।।'

ये दो पंक्तियां छत्रसाल बुंदेला ने श्रीमंत बाजीराव पेशवा को लिखकर भेजी। मुहम्मद खां वंगश (इलाहाबाद के मुगल सूबेदार) ने ओरछा को घेर लिया था। मांग थी राज्य की स्वतंत्रता और मस्तानी की। मस्तानी महाराज छत्रसाल की पोषिता मुसलिम महिला की पुत्री थी। माता से रूप और सांगीतिक प्रवृति तथा छत्रशाल रूपी पिता से स्वाभिमान औ वीरत्व उसे प्राप्त था। भारत के श्रेष्ठ कलाकारों उसे संगीत शिक्षा दी थी। उसने अभ्यास किया था उसके रूप और गुण की प्रसिद्धि हुई। फलतः मुहम्म खां वंगश चढ़कर आ गया। उपर्युक्त दो पंक्तियों बाजीराव पेशवा को सहायतार्थ दौड़ने को बाध किया। युद्ध हुआ, वंगश हारकर भागा। विजयोत्स मनाया गया।

सामंतों और महाराज छत्रशाल ने पेशव अभिनंदन का आयोजन किया। महाराज ने मस्तानी को आज प्रथम बार पुरूषों के सामने कला प्रदर्श की आज्ञा दी। मस्तानी को आज अपनी साधना के प्रदर्शन का अवसर मिला था। अपनी कला से मस्तानी ने सभी को आत्म विभोर कर दिया। पेशवा महाराज मस्तानी के रूप, शरीर शौष्ठव और कला को मंत्रमुग्ध से निहार रहे थे। वाह-वाह कर अपने गले की अमूल्य मुक्तमाल मस्तानी के गले में डाल दी।

मस्तानी और पेशवा की नजरें मिली, एक दूसरे के हो गए। महाराज छत्रशाल से यह दृष्टि-विनिमय छिपा नहीं रहा फलतः पुत्री स्वरूपा मस्तानी उन्होंने पेशवा को रूंधे गले से अर्पण कर दी। मस्तानी का उस दिन का सार्वजनिक प्रदर्शन प्रथम और अंतिम था, अतः उसकी प्रसिद्धि सांगीतिक क्षेत्र में अपेक्षाकृत स्वल्प हुई।

इस प्रकार मध्यकाल में संगीत के क्षेत्र में महिलाओं का बहुमुखी योगदान रहा है। गीत, वाद्य और नृत्य तीनों क्षेत्रों में महिलाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। रामपुर की सदारंग परंपरा के आचार्य बृहस्पति के अनुसार, मुगल काल में अकबर के राज्य के समय (1556 ई0 -1605 ई.) में संगीत का चरमोत्कर्ष हुआ और उनके दरबार में कई संगीतज्ञ थे, जिनमें तानसेन का नाम उल्लेखनीय है। यह तथ्य चौंकानेवाला हो सकता है किन्तु यह सत्य है कि गायन-वादन पर रोक लगाने वाला औरंगजेब (1659 ई0 -1707 ई.) अपनी युवावस्था में अधिक समय तक अंतःपुर में रहा, जहां विलास के अनेक साधन थे। हीराबाई नाम की एक दासी संगीतकला में निपुण थी और वह औरंगजेब की प्रेमिका थी। बाद में जैनाबादी बेगम के नाम से प्रसिद्ध हुई।

अगर औरंगजेब को संगीत से वास्तव में घृणा रहती तो हीराबाई नामक संगीतज्ञा से प्रेम नहीं करता। मुहम्मद शाह रंगीले के काल (1719 ई.-1748 ई.) में गायिकाएं और नर्तकियां गायन, वादन, नृत्य की विधिवत शिक्षा ग्रहण करती थी। इस प्रकार मोहम्मद शाह रंगीले के काल में संगीत में महिलाओं की भूमिका को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। इस कालखंड के संगीत क्षेत्र में नारी योगदान एक ऐतिहासिक दस्तावेज का कार्य हमेशा करता रहेगा।

संदर्भ

1. संगीत मासिक पत्रिका, जनवरी-फरवरी, 1986, पृ. 35, मिश्र डॉ. राधाबल्लभ, आलेख : संगीत की भूली बिसरी महिला कलाकार
2. संगीत मासिक पत्रिका, जनवरी-फरवरी, 1986, पृ. 35, मिश्र डॉ. राधाबल्लभ, आलेख : संगीत की भूली बिसरी महिला कलाकार
3. संगीत मासिक पत्रिका, जनवरी-फरवरी, 1986, पृ. 36, मिश्र डॉ. राधाबल्लभ, आलेख : संगीत की भूली बिसरी महिला कलाकार

कंठ ध्वनि एवं कंठ संगीत

डॉ. पुष्पम नारायण

मानव शरीर के दो अंगों - श्रवण यंत्र (कान) और ध्वनि यंत्र (कंठ) का अध्ययन संगीत की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण और आवश्यक रहा है। कंठ से ध्वनि कैसे उत्पन्न होती है और कान द्वारा कैसे ग्रहण किया जाता है। 'संगीत रत्नाकर' में पिंडोत्पत्ति प्रकरण में भ्रूण के गर्भ में आने से लेकर जन्म तक और उसके बाद के विकास की सब अवस्थाओं का निरूपण है। ध्वनि उत्पत्ति की प्रक्रिया के बारे में कहा गया है - पहले आत्मा में विवक्षा, आत्मा से मन को प्रेरणा, मन द्वारा प्राण वायु को प्रेरणा, प्राण वायु को अग्नि से संयोग, संयोग होने पर मन द्वारा वायु को ऊपर उठने की प्रेरणा, तब वायु संचरण द्वारा कंठध्वनि की उत्पत्ति होती है।

संगीत रत्नाकर में कंठ और जिह्वा के विषय में इस प्रकार कहा गया है- "कंठ में भारती (सरस्वती) का स्थान 16 दल वाला 'विशुद्ध' नामक चक्र है। प्रणव, उद्गीथ, हुंफड, विषड, स्वधा, स्वाहा, नम : अमृत', सप्त स्वर और विष में 16 फल (विशुद्ध चक्र के) पूर्व आदि पत्रों (दलों) में स्थित है।

घीणटका (जिह्वा मूल) में 12 दल वाला 'ललना' नामक चक्र है। मद, मान, स्नेह, शोक, खेद, लोभ, अरति, सम्भ्रम, ऊर्मि, श्रद्धा, संतोष और दक्षता ये 'ललना' चक्र के पूर्व दलों में फल है।[1]

दामोदर पंडित ने मानव-शरीर रचना और ध्वनि के बारे में लिखा है-

हृदयेऽनाहतं चक्रं शिवस्य प्रणवाकृतेः।
पूजा स्थानं तदिच्छन्ति युतं द्वादशभिर्दलैः।।

अर्थात् हृदय में 'प्रणवाकृति' (ओंकाररूपी) शिव का पूजा स्थान, जिसकी सभी योगी इच्छा करते हैं, ऐसा बारह पंखुड़ियों से युक्त अनाहत नामक चक्र है।[2]

कंठे तु भारतीय स्थानं, विशुद्धिः षोडशच्छदम्।
तत्रषड्जादयः सप्त स्वराः सम्यक् प्रभेदतः।।

अर्थात् 'कंठ स्थान में सरस्वती का स्थान, जो 'विशुद्धि' नामक सोलह पंखुडियों से युक्त चक्र है, इसी स्थान में षड्जादिक सात स्वर अपने-अपने प्रभेदों से यथा योग्य रीति से बास करते हैं।[3]

अहोबल ने मानव शरीर से मंद्र, मध्य और तार ध्वनियों के विषय में इस प्रकार लिखा है-

कंठे विशुद्ध चक्रं स्यात् सहस्त्रारन्तु भूर्द्धनि।
मन्द्रमध्यमताराख्या भवयुस्तेषु तु क्रमात्।।

अर्थात्, कंठ में विशुद्ध नामक चक्र होता है और मस्तक में सहस्रार नामक चक्र है। उनमें क्रमानुसार मंद्र, मध्यम, तार होते हैं।[4]

इस प्रकार ध्वनि उत्पत्ति का यह प्राचीन अध्ययन जितना दार्शनिक, सूक्ष्म और पूर्ण है, उतना ही वैज्ञानिक भी है।

मानव शरीर में ध्वनि उत्पादक स्थान को विज्ञान में Larynx (स्वरयंत्र) का नाम दिया गया है। ध्वनि उत्पादन में मुख्यतः उपयोग में मस्तिष्क, ध्वनियंत्र, कर्णयंत्र और फेफड़े ही आते हैं। इनमें से मस्तिष्क अपने ज्ञान-तंतुओं द्वारा संपूर्ण शरीर को कार्य करने की आज्ञा देता है। विभिन्न अवसरों पर वह फेफड़ों को वायु देने की आज्ञा देता है। गायन के समय मस्तिष्क फेफड़े को नियमित वायु, शरीर के विभिन्न अंगों को जो ध्वनि उत्पन्न करने में सहायक होते हैं, उन्हें देने की आज्ञा देता है। पूरी

*एसोसिएट प्रोफेसर विश्वविद्यालय संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

श्वास-प्रणाली अपनी मांसपेशियों सहित उदर से नाक तक ध्वनि पैदा करने में सहायक होती है। परंतु इनमें स्वरयंत्र का महत्वपूर्ण अंश रहता है।

"The larynx is the body's voice box, containing the vocal chords, which vibrate to produce speech."

इन अंगों के अतिरिक्त नाक के दोनों ओर गालों की हड्डियों और माथे की हड्डियों में कुछ खाली वायुयुक्त स्थान होता है जिन्हें साइनेसिस नाड़ी कहते हैं, जो प्रतिध्वनि पैदा करने में स्वरयंत्र की सहायता करता है। स्वरयंत्र शरीर से ध्वनि पैदा करने वाला यंत्र है, जिसमें स्वरतंतु आन्दोलित होनेवाली ध्वनि पैदा होती है। यह एक अत्यंत कोमल यंत्र है, जो फेफड़े में प्रवेश करनेवाली श्वास नली के लिए कपाट का कार्य करता है। भोजन करते या पानी पीते समय स्वरयंत्र उपजिह्वा द्वारा बंद हो जाता है और खाद्य पदार्थ इसके ऊपर से होकर भोजन नली में प्रवेश करते हैं। परंतु श्वास लेते समय उपजिह्वा और नर्म तालु के मिल जाने से भोजन नली बंद हो जाती है।

स्वरयंत्र ग्रीवा के मध्य में, श्वासनली के ऊपरी सिरे में, गले के पिछले अदृश्य भाग में स्थित है। इसके ऊपर एक उपस्थि (Cartilage) अर्थात् उपजिह्वा रहती है, जो स्वरयंत्र के लिए कपाट का काम करती है। उपजिह्वा मस्तिष्क द्वारा नियंत्रित होती है। स्वरयंत्र के भीतर स्वर तन्तु सुषिर वाद्य क्लेरिनेट में रीड या पत्ती का काम करते हैं। जैसे वादक द्वारा फूंक मारने से लकड़ी का प्लास्टिक की बनी रीड आन्दोलित होती है और एक मौलिक ध्वनि उत्पन्न करती है। जिसे यंत्र में नलिकाओं और छिद्रों को नियंत्रित कर स्वरों में परिणत किया जाता है। उसी प्रकार बोलने से स्वरतंतु आन्दोलित होते हैं, और जो ध्वनि पैदा होती है, उसे गाल, तालु, नाक, होंठ और विभिन्न प्रकार की मुद्राओं द्वारा शब्दों में अथवा स्वरों में परिवर्तित किया जाता है। जिसमें उदर से लेकर मस्तिष्क तक हजारों मांसपेशियां अलग-अलग खिंचाव या ढीलापन देकर नियंत्रित करती है।

स्वरयंत्र दो कोमल अस्थि-बंधक तंतुओं द्वारा निर्मित है। इनका आकार होठों जैसा है, जो वायु के प्रवेश एवं निष्कासन के समय खुलते और बंद होते हैं। इसका एक सिरा गतिशील उपस्थियों के जोड़े के साथ बंधा रहता है, जिन्हें Arytenoid कहते हैं तथा दूसरा सिरा Laryans उपस्थि के अंदर जुड़ा रहता है। जिसका आकार ढाल की तरह है और यह स्वरयंत्र का सबसे बड़ा भाग है। यह भाग तत वाद्यों के तुम्बे जैसे आकार का होता है। पुरूषों में यह अधिक उभरा और बड़े आकार का होता है, जो ग्रीवा के अगले भाग में एक नुकीले उभार के रूप में दिखाई देता है। स्त्रियों में इसका आकार सीधा या बेलनाकार होता है और वह बाह्य उभार नजर नहीं आता।[5]

"The vocal cords (about ½ inch long in women and ¾ inch in men) streched across the larynx and set into motion by current of air forced between then from the lungs."[6]

ढाल के आकार का Larynx स्वरयंत्र का स्थिर भाग है। परंतु Larynx के गतिशील होने के कारण अपना स्थान परिवर्तित करते रहते हैं, जिससे स्वरतंत्रियों के भीतर का रिक्त स्थान Rimaoris अर्थात् स्वरयंत्र के मुंह का किनारा विभिन्न प्रकार के आकारों में खुलता या बंद होता रहता है। हारमोनियम के विभिन्न रीड अथवा पत्तियों की तरह के उतार-चढ़ाव के आधार पर विभिन्न स्थानों में खुलता और बंद होता रहता है।

जब फेफड़े से हवा स्वरयंत्र के द्वारा निष्कासित होती है और स्वरयंत्र का किनारा हल्का सा खुलकर उस हवा को निकालता है, तो स्वरतन्तु आन्दोलित होते हैं, तो इसको अव्यक्त उच्चारण (Phonation) कहते हैं। जिस शक्ति के साथ हवा बाहर निकाली जाएगी, वह ध्वनि की तीव्रता को नियंत्रित करेगी। जितने अधिक समय के लिए और जितना अधिक खिंचाव स्वरतंतुओं पर होगा, उस पर स्वर की तारता निर्भर करती है। इसी प्रकार विभिन्न वाद्यों की ध्वनि उनके आकार प्रकार पर आश्रित है। जिस मनुष्य का स्वरयंत्र बड़ा और स्वरतंतु लंबे और ढीले होते हैं, उनकी आवाज भारी और जिनके स्वरयंत्र तुलना में छोटे और स्वरतन्तु कसे हुए होते हैं, उनकी आवाज पतली और ऊंची होती है। इसी प्रकार जिन वाद्यों की लंबाई-चौड़ाई अधिक होगी और उनकी

तार या तन्तुएं मोटी होगी, उनसे स्वर ज्यादा नीचा निकलेगा और जो वाद्य आकार में छोटे और उनकी तार या तांत कसी हुई होगी, उनके स्वर ऊंचे होंगे।

मुख का आकार भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनियां को पैदा करने में मुख्य भूमिका निभाता है। क्योंकि यह स्वरयंत्र से निकलने वाली ध्वनि को स्वरों में परिवर्तित करने में सहायक है जैसे 'क' और 'ट' व्यंजन स्वरों के लिए स्वरयंत्र से आनेवाली वायु को जिह्वा और तालु द्वारा दो भागों में विभक्त करने की आवश्यकता होती है परंतु 'अ', इ, उ इत्यादि स्वरों के उच्चारण के लिए वायु का काटना आवश्यक नहीं। अपितु उसे सीधा जिह्वा और दांतों के बीच से निकलने की आवश्यकता होती है। यही व्यंजन कंठ संगीत के लिए अति उपयोगी है। किसी भी शब्द को ध्वनित करने के लिए होठों, जिह्वा और दांतों को गतिमय किया जाता है। बहरे व्यक्ति इन्हीं गतियों द्वारा शब्दों को पहचानने की चेष्टा करता है।

साधारण ध्वनि को समझे जाने वाले शब्दों में परिवर्तित करने के लिए स्वर तंतुओं के साथ जिह्वा नर्म तालु के अतिरिक्त खोपड़ी और चेहरे के बंद स्थान आवाज को प्रतिध्वनित करने में सहायक होते हैं। प्रतिध्वनि उत्पन्न करने वाले स्थान में मुंह का पूरा खोल नाक के अंदर स्थान, गले का भीतरी स्थान और कुछ हद तक फेफड़े का भीतर स्थान शामिल है। हजारों छोटी-छोटी मांसपेशियां क्रम से और अविश्वसनीय तीव्र गति से इन अंगों का नियंत्रण करती है।[7]

फेफड़े से चली हवा ध्वनियंत्रों के आन्दोलन के कारण आन्दोलित होकर निकलती है और बाहर की वायु में अपने आन्दोलन के अनुसार एक विशिष्ट प्रकार के कंपन से लहर पैदा कर देती है। सुननेवाले के कान तक ये लहरें पहुंचती है और वहां (श्रवणेन्द्रिय में) कंपन पैदा कर देती है। सामान्यतः इन ध्वनि लहरों की चाल 1100-1200 फीट प्रति सेकेंड होती है।

जब कान में ध्वनि की लहरें पहुंचती है, तो बाह्य कर्ण की भीतरी झिल्ली (कान का पर्दा) पर कंपन उत्पन्न करती है। इस कंपन का प्रभाव मध्यवर्ती कर्ण की अस्थियों द्वारा भीतरी कर्ण के द्रव पदार्थ पर पड़ता है और उनमें लहरें उठती हैं। जिसकी सूचना श्रवणी शिरा के तंतुओं द्वारा मस्तिष्क में जाती है और हम सुनते हैं।

ध्वनि हवा तथा अन्य संबंध अणुओं के कंपन रूप में होती है, यह कंपन प्रति सेकेंड 'फ्रीक्वेन्सी' या आवृति कहलाता है। यह आवृति कम या अधिक हो सकती हैं सामान्यतः आदमी का कान साफ या समझने लायक केवल 10 से 10,000 आवृति तक ही सुन सकता है। सुनने की दृष्टि से काफी आवाज केवल 200 से 2000 आवृति के बीच में मानी गयी है और बहुत ही साफ 1000 से 2000 के बीच।

निष्कर्षतः दैव प्रदत्त मानव-शरीर में श्रवण एवं वाक् इन्द्रियां अमूल्य आन्तरिक शक्ति है। जन्म से ही श्रवणेन्द्रिय के क्षीण हो जाने से व्यक्ति गूंगा या बहरा हो जाता है तथा इस आंतरिक शक्ति के अभाव से मनुष्य नादात्मक विश्व के किसी भी प्रकार की ध्वनि सुनने में असमर्थ रहता है।

आनंद को पूर्ण रूप से प्राप्त करना, वाणी को गति प्रदान करना तथा भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करनेवाली कलाओं में कंठ संगीत का महत्वपूर्ण स्थान है। ''मानव जीवन का कोई भी पहलू कंठ संगीत से रहित नहीं है क्योंकि मनुष्य ने जन्म के साथ ही संगीत सुना और अपनी अंतिम जीवन-यात्रा भी सुनते-सुनते पूरी करता है।''[8]

जब मनुष्य को अपने भावों को व्यक्त करने की आवश्यकता प्रतीत हुई तभी उसे ध्वनि का सहारा लेना पड़ा। अर्थात् भावाभिव्यक्ति की सहायता से संगीत का जन्म कहा गया है।

मनुष्य ने जब इंगित भाषा का निर्माण कर लिया, तो उसने एक दो स्वरों की सहायता से लघु स्वर ध्वनियां संगीतमयी बना लीं। जिनको धुन की संज्ञा दी जा सकती है। इन्हीं शब्दों और संक्षिप्त धुनों ने संगीत का रूप पाया। इसे शब्दों के आधार पर संगीत का जन्म भी कहा जा सकता है।

ओ0 गोस्वामी का कथन है -

"A short silly text was set to a tune alternating between two notes which could be at may distance from each other and varying with the people and tribe but constant among usually also within all tunes

of the same tribe. This was known as a logogenie or word-born music."[9]

संगीत का जन्म मानव कंठध्वनि से हुआ। मानव ने कंठ ध्वनि को भिन्न-भिन्न रूप देकर उसको नियमित किया और आदान-प्रदान के लिए भावाभिव्यक्ति किया। मानव-ध्वनि विलाप से आरंभ हुई और भय, पीड़ा उत्सुकता, खुशी को निर्दिष्ट करने के लिए मानव-कंठ ने काल्पनिक ध्वनियों को सम्पन्न किया, जो कि प्रारंभिक अवस्था में यांत्रिक और नीरस थी। प्रगति की ओर अग्रसर होता हुआ मानव इन्हीं भावनाओं से संबंधित ध्वनियों के माध्यम से संगीत का सूक्ष्म रूप पा सका होगा, यह एक दार्शनिक तथ्य है। ध्वनि की प्रगति शनैः - शनैः अपना एक अस्तित्व बनाती गयी और आम जनजीवन में इसका स्थान प्रधान बनता गया। धीरे-धीरे विशेष शब्द विशेष प्रवृतियों को संबोधित करने लगे और यहीं से भाषा की उत्पत्ति निकल कर आ गयी। विभिन्न भावों को व्यक्त करनेवाली इन कंठध्वनियों और इनके प्रभाव पर मनुष्य ने विचार किया और उससे अनुभव हुआ कि विभिन्न ध्वनियों का प्रयोग यदि विभिन्न उतार-चढ़ाव से किया जाए तो ये ध्वनियां विशेष भावों को उत्पन्न करती है।

भाषा के पूर्ण विकास से पूर्व ही मनुष्य ने गाना आरंभ कर दिया था। उसने पाया कि कुछ स्वरों को मिलाकर प्रकृति से प्राप्त ध्वनियों में से जो ध्वनि सांगीतिक रूप ले सकती थी तथा प्रभावकारी थीं, उन्हीं ध्वनियों से प्रेरित होकर मनुष्य ने उनको सांगीतिक रूप दिया, जिसमें भाषा का भी सम्मिश्रण था। इसी प्रकार भाषा और स्वरों के उतार-चढ़ाव से स्वरों का जन्म हुआ।

इस प्रकार आदिम मनुष्य के सांकेतिक ध्वनियों के साथ ही सांगीतिक ध्वनियां भी अवश्य जुड़ी रही होंगी। इन सांकेतिक ध्वनियों के उतार-चढ़ाव ने ही धीरे-धीरे स्वरों का रूप प्राप्त किया होगा। मनुष्य ने अपनी अनुकरण शक्ति के द्वारा ही धीरे-धीरे प्राकृतिक ध्वनियों का अनुकरण अपने कंठ से किया होगा। अपनी विभिन्न शारीरिक क्रियाओं, मुख्यतः हाथ और श्वास द्वारा बाह्य वस्तुओं पर आघात कर ध्वनि को उद्‌भूत किया होगा और इस आघात युक्त ध्वनि के साथ कंठ ध्वनि को मिलाने का प्रयास किया होगा। मनुष्य के यह प्राथमिक प्रयास संगीत कला का प्राकृतिक से मौलिक संबंध जोड़ते हैं। ये प्राकृतिक और मानव के स्वाभाविक प्रयास ज्यों-ज्यों बौद्धिकता के स्तर पर स्थापित होते गए, त्यों-त्यों संगीत कला को रूप प्राप्त होता गया। क्योंकि बुद्धि के बल पर ही मानव ने इन प्राकृतिक ध्वनियों में छिपी सांगीतिक संभावना को पहचाना होगा और फिर उसका उपयोग कंठ संगीत में किया होगा।[10] इतिहासकारों के पृष्ठों को पलटने पर हम संगीत की पृष्ठभूमि की चर्चा कुछ इस प्रकार पाते हैं–

"Hindustani art music is to be appreciated in the perspective offered by the five categories taken together. Each category is musically rich, varied and substantial enough to deserve separate treatment. Unfortunately, the musical legitimacy of the pentad is not accepted by thinkars and writers, as well as performers. That is why sweeping the oritation or pan Indian claims about musical matters remain unconvincing. A few examples of generalisation that do not stand scruting are, "Indian music has not changed and has had an unbroken tradition from the vedic times, Indian art music has no place for poetry or meaningful words; and all Hindustani music is a gift of Islam to India."[11]

उपर्युक्त कथन में काव्य को ही संगीत का अलंकार समझने तथा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। ध्वनि, मंत्र, उच्चारण तथा अन्य गेय काव्य को संगीत के विषय में अर्थहीन समझा जा रहा है-

मैक्समूलर के अनुसार -

"It may be very brave to postulate 2000 BC, or even 5000 BC, as a minimum date for the vedic hymns, but what is gained by such bravery? – whatever may be the date of vedic hymns, whether 1500 or 15000 BC, they have their own unique place and stand by themselves in the literature of the world."

इस उदाहरण से यह तथ्य निश्चित होता है कि कला, सभ्यता, संगीत के मूल प्रभाव तथा अर्थ को जानना तथा अंगीकार करना आवश्यक है न कि उसके प्रभाव व प्रसार में आनेवाले क्षेत्रों, लोगों की गणना करना। संगीत का आचरण, उसका माधुर्य, उसका भाव, उसकी अनुभूति तथा उसकी अभिव्यक्ति है,

'वास्तव में संगीत एक आदर्शमयी शब्दहीन भाषा है, जिसके द्वारा भावों की सुन्दर अभिव्यंजना संभव है। इसी नैसर्गिक गुण के कारण इसे दिव्य कला माना गया है और संगीतकार को दैवज्ञ।''[12]

संदर्भ

1. आचार्य शारंगदेव, संगीत रत्नाकर, हिन्दी अनुवाद, गर्ग लक्ष्मी नारायण , संगीत कार्यालय, हाथरस, संस्करण 1956, पृ. 151
2. पं. दामोदर, संगीत दर्पण, अनुवादक भट्ट पं. विश्वम्भरनाथ , संगीत कार्यालय, हाथरस, संस्करण 1950, पृ. 10
3. पं. दामोदर, संगीत दर्पण, अनुवादक भट्ट पं. विश्वम्भरनाथ , संगीत कार्यालय, हाथरस, संस्करण 1950, पृ. 11
4. पंडित अहोबल, संगीत पारिजात, भाष्कार पंडित कालिन्दजी, संगीत कार्यालय हाथरस, 1956, पृ. 12
5. मिश्रा डॉ. अरूण, भारतीय कंठ संगीत और वाद्य संगीत गायन वादन सुमेल, कनिष्का पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2008, पृ. 4-5
6. Goswami O., The story of Indian music, Asia Publishing House Bombay, Calcutta, New Delhi, Madras, 1957, P. 2
7. मिश्रा डॉ. अरूण, भारतीय कंठ संगीत और वाद्य संगीत गायन वादन सुमेल, कनिष्का पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2008, पृ. 6
8. Lowery H., The background of music, Hutchinsons university library hutchinson house, London, first published, 1952,P. 84
9. Goswami O., The story of Indian music, Asia Publishing House Bombay, Calcutta, New Delhi, Madras, 1957, P. 2
10. मिश्रा डॉ. अरूण, भारतीय कंठ संगीत और वाद्य संगीत गायन वादन सुमेल, कनिष्का पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2008, पृ. 6
11. Ranade G.H., The Hindustani Music its Physics and Aerthemetics, Srikrishna Suhag Shivaji Nagar, Punney 1951, P. 13
12. प्रसाद डॉ. महावीर 'मुकेश', गंधर्व विवेचन, राज पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र.सं. 1981, पृ. 11

मिथिला की समृद्ध परम्परा में विद्यापति गीत

डॉ. उदयशंकर कुमार

मिथिला भारत का ऐसा क्षेत्र है जिसमें प्राचीन काल से सामवेद का अपना महत्व है। यहां सभी कार्य वेद के आधार पर संपन्न होते हैं। चारों वेदों में सामवेद का विशेष स्थान है। प्राचीन काल में यज्ञ आदि क्रियाओं के लिए साम-गान एक अनिवार्य आवश्यकता थी। सामवेद पूर्णरूपेण संगीतमय है। वैदिक काल में स्वरलिपि का विकास हो चुका था। सामगान में प्रेक्ष्य, विनत, कर्षण, अतिक्रम, अभिगीत आदि स्वरोच्चारण का निर्देश एवं लिपि का संकेत मिलता है एवं उसके निर्देशक के अनुसार सामगान संपूर्ण होता है। मिथिला का प्रत्येक यज्ञादि कार्य 'ऊँ' से प्रारंभ किया जाता है। सामगान के प्रारंभ में इसलिए 'ऊँ' का उच्चारण किया जाता है जिसका वर्तमान नी रे सा स्वर-संयोजन का स्वरूप है। सामवेद प्रत्यक्ष गायन से संबंधित वेद है। इसमें ऋग्वेद के सभी मंत्रों का संकलन है जिन्हें तत्कालीन धुनों में बंधित कर गाया जाता है। इसे दो भागों में विभक्त किया गया है-आर्चिक तथा गान-ग्रंथ या गान-संहिता। आर्चिक में केवल ऋग्वेद की ऋचाओं का संग्रह है। गान-ग्रंथ में यही ऋचाएं स्वरयुक्त होती है। आर्चिक में गीत के बोल होते हैं और गान-ग्रंथ में गीत के स्वर। उस समय गायक की पूर्ण कल्पना से रचित गायन होता था जिन्हें कल्पना संगीत कहा जाता है। साम-गायन के स्वर-सप्तक में स्वरों की संख्या तीन से पांच तक होती है। इस सामगान का स्वर सप्तक आज के राग अभोगी के स्वर के सदृश है। वैदिक काल में स्वर सप्तक में दो स्वर ही थे जिन्हें उदात्त तथा अनुदात्त कहा गया। इसके बाद प्रतिसांख्य में स्वरित स्वर का उल्लेख मिलता है। मुले ने उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित के अंतर्गत 7 स्वरों को माना है। ये स्वर क्रमशः हैं- क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र तथा अतिस्वार्थ के नाम से जाने जाते हैं। सर्वप्रथम कंठ-संगीत द्वारा अवरोहात्मक स्वरों का विकास हुआ। जैसे-नी ध प म ग रे सा नी ध प। वाद्य-संगीत द्वारा आरोहण स्वरों का विकास हुआ जैसे- सा रे ग म प ध नी सा।

'नारदीय शिक्षा' ग्रंथ में सामवेद संगीत की चर्चा की गई है। सामवेद संगीत ही शास्त्रीय संगीत का स्वरूप है तथा गान्धर्व उस काल का लोकसंगीत है। इसी ग्रंथ में स्वरवर्ण तथा स्वरों के नाम जैसे- मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद की चर्चा मिलती है।

'नारदीय शिक्षा' के बाद भरतकृत 'नाट्यशास्त्र' में साहित्य तथा संगीत में रस-निर्माण की प्रक्रिया के संबंध में वर्णन है। भरत के अनुसार संगीत का लक्ष्य रसानुभूति है। वही संगीत रस की निष्पत्ति कर सकता है जिसमें स्वर, ताल एवं शब्द तीनों का समान निर्वाह हुआ है। इससे संगीत में श्रृंगार, करूण, हास्य रस का निर्माण होता है। संगीत में केवल स्वरों की चमत्कारिकता से रस-निष्पत्ति संभव नहीं है। महाकवि विद्यापति की कोमल कान्त पदावली शब्द, स्वर तथा छन्द में बंधित है। इनके सभी पद साहित्य और संगीत से समन्वित हैं। इनके पदों में सभी रसों का निर्वाह हुआ है, जैसे-श्रृंगार, करूण, भक्ति, हास्य इत्यादि।

पूर्व शोध छात्र, विश्व विद्यालय संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

विद्यापति के समय में मिथिला में लोक-संगीत के साथ-साथ शास्त्रीय संगीत का विशेष प्रचलन था। इसमें प्रबन्ध-ध्रुपद एवं प्रबंध धमार का विशेष स्थान था। ईरानी संगीत के प्रभाव से ध्रुपद, धमार के स्थान पर ख्याल, तराना, कव्वाली, गजल आदि गायन-शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ। विद्यापति के गीतों में सभी गायन-शैलियों का निर्वाह हुआ है। इनमें राग, स्वर, ताल, छंद के प्रयोग में भिन्नता पायी जाती है। अतः विद्यापति रचित कुछ पद विभिन्न गायन शैलियों तथा विभिन्न राग-रागिनी में बंधित कर स्वरलिपि में प्रस्तुत हैं।

विद्यापति पद

जय जय भैरवि असुर भयाउनि
पशुपति भामिनि माया।
सहज सुमति वर दिअओ गोसाउनि
अनुगत गति तुअ पाया।।
वासर रैनि सवासन शोभित
चरण चन्द्रमणि चूड़ा।
कतओक दैत्य मारि मुख मेललि
कतओ उगिलि कैल कूड़ा।।
सामर वरन नयन अनुरंजित
जलद जोग फुल कोका।
कट-कट विकट ओठ फुट पाँड़रि
लिधुर फेन उठ फौका।।
घन-घन घनन घुघरू कटि बाजय
हन हन कर तुअ काता।
विद्यापति कवि तुअ पद सेवक
पुत्र विसरू जनि माता।।

स्वर-लिपि
(ताल-कहरवा, मात्रा-8)

स्थायी

1	2	3	4	5	6	7	8
ग	ग	ग	ग	ग	रे	सा	सा
ज	य	ज	य	भै	ऽ	र	वि
रेस	नी़	ध़	नी़	ध़नी़	सा	सा	सा
अऽ	सु	र	भ	याऽ	ऽ	उ	नि
ग	ग	ग	ग		ग	रे	ग	प
प	शु	प	ति		भा	ऽ	मि	नि
म	म	म	म		ग	ग	रे	सा
मा	ऽ	ऽ	ऽ		या	ऽ	ऽ	ऽ
ग	ग	ग	म		ग	रे	सा	सा
स	ह	ज	सु		म	ति	व	र
नी़	नी़	ध़	प़		पध़	सा	सा	सा
दि	अ	हे	गो		सा	ऽ	अु	नि
ग	ग	ग	ग		ग	रे	ग	प
अ	नु	ग	ति		ग	ति	तु	अ
म	म	म	म		ग	ग	रे	सा
पा	ऽ	ऽ	ऽ		या	ऽ	ऽ	ऽ
×					0			

अंतरा

नी़	सा	ग	म	प	प	प	प
वा	ऽ	स	र	र	य	नि	श
म	प	म	प	ग	प	म	ग
वा	ऽ	स	न	शो	ऽ	भि	त
सा	ग	ग	ग	ग	रे	ग	प
च	र	ण	च	ऽ	न्द्र	म	णि
म	म	म	म	ग	ग	रे	सा
चू	ऽ	ऽ	ऽ	ड़ा	ऽ	ऽ	ऽ
ग	ग	ग	म	ग	रे	सा	सा
क	त	ओ	क	दै	ऽ	त्य	ऽ
नी़	नी़	ध़	प़	पध़	सा	सा	सा
मा	आ	रि	मु	ख	मे	ले	लि

ग ग ग ग	ग रे ग प
क त ओ उ	ग लि कै ल
म म म म	ग ग रे सा
कु उ रा आ	या ऽ ऽ ऽ
×	0

शेष अंतरा इसी तरह होगा।

विद्यापित पद

हे हरि हे हरि सुनिये श्रवण भरि
अब न विलासक बेरा।।
गगन नखत छल सेहो अवेकत भेल
कोकिल करइछि फेरा।।
चकबा मोर सो कय चुप भेल
ओठ मलिन भेल चन्दा।
नगरक धेनु डगरके संचर
कुमुर्दिनि बसु मकरन्दा।।
सुखकेर पान सेहो रे मलिन भेल
अवसर भल नहिं मन्दा
विद्यापति भन इहो न निक थिक
जग भरि करइछ निन्दा।।

स्वर-लिपि

स्थायी

1	2	3	4	5	6	7	8
रे	ग	रे	ग	सा	रे	नी	स
हे	ऽ	ह	रि	हे	ऽ	ह	रि
रे	ग	रे	ग	सा	रे	नी	सा
सु	नि	अ	म्र	व	न	भ	रि
प	म	ध	प	ग	रे	सा	नी
अ	व	न	वि	ला	ऽ	स	क
सा	सा	सा	सा	रे	ग	रे	सा
बे	ऽ	रा	ऽ	हे	ऽ	ह	रि

अंतरा

म	प	ग	म	प	प	प	ध
ग	ग	न	न	ख	त	छ	ल
नी	नी	नी	सा	नी	ध	प	प
से	हो	अ	बे	क	त	भे	ल
प	म	ध	प	ग	रे	स	नी
को	ऽ	कि	ल	क	र	इ	क
सा	सा	सा	सा	रे	ग	रे	सा
फे	ऽ	रा	ऽ	हे	ऽ	ह	रि

गैर सांगीतिक कार्यक्रमों में संगीत की भूमिका

अल्पना

मानव जीवन के विभिन्न क्रिया-कलापों के क्षेत्रों में किसी-न-किसी रूप में मानव के लिए संगीत का योगदान देखा जा सकता है। संगीत-कला का मुख्य उद्देश्य या प्रयोजन मानव मात्र को गम्भीर मनोरंजन एवं हार्दिक आनन्द प्रदान करना ही माना जाता रहा है। जैसा कि हम सभी जानते है कि संगीत मनोरंजन, ईश्वर साधना, शिक्षा, आनंद, तनाव, रोजगार आदि में सहयोग करता है। इस रूप से तो प्रायः सभी प्रत्यक्ष रूप से अवगत हैं। परन्तु जो संगीत अप्रत्यक्ष रूप से गैर सांगीतिक कार्यक्रमों में भी अपनी भूमिका अदा करता है, क्या संगीत की तखरीर के बारे में कितने श्रवण चक्षुएँ इन्द्रियाँ इस अनमोल तखरीर को नुख्ता-ए-नजर से आंकलन करते हैं? कितनी मर्त्तबा टेलीविजन, रेडियो, ट्रेन, फोन, अलार्म, डोरबैल, सीरियल, समाचार, विज्ञापन आदि से प्रयुक्त होने वाले संगीत का श्रवण करते हुए अनसुना कर देते है। यहाँ मेरा तात्पर्य इसको संरक्षण देने की चर्चा से नहीं है। बल्कि मेरा तात्पर्य संगीत को अप्रत्यक्ष रूप से गैर सांगीतिक कार्यक्रम व स्थानों, चीजों में किस प्रकार अपनी भूमिका पेश करता है। संगीत वास्तव में ही हमारे नित-प्रतिदिन होने वाले हर कार्यों में भूमिका निभाता है। हम संगीत के इर्द-गिर्द पृथ्वी की भाँति चक्कर लगाते रहते है, किस तरह से छोटी-छोटी चीजों में भी लय व ताल का समावेश दिखाई देता है। मूलतः संगीत पर आधारित कार्यक्रमों के अलावा अन्य कार्यक्रमों में भी है। संगीत की भूमिका का वर्णन इस प्रकार करेंगे।

• समाचार बुलेटिनों में संगीत

रेडियो एवं टेलीविजन पर जो भी समाचार बुलेटिन आते हैं उनकी शुरूआत एक विशिष्ट सांगीतिक ध्वनि से होती है। इसके साथ-साथ अगर सूक्ष्मता से ध्यान दिया जाए, तो निःसंदेह ही यह स्पष्ट हो जाता है कि समाचारों के प्रस्तुतीकरण में एक विशिष्ट लय का प्रयोग होता है और यह लय कहीं-न-कहीं समाचार के प्रारम्भ में बजने वाली सांगीतिक धुन के ऊपर आधारित होती है। जिस लय अथवा गति में समाचार-वाचक समाचार पढ़ना शुरू करता है, अन्त तक वह उसी लय अथवा गति का निर्वाह करता है। यह संगीत एवं समाचार दोनों का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। अगर किसी समाचार-बुलेटिन से संगीत और लय अथवा गति की नियमितता को हटा दिया जाए, तो समाचार का स्वरूप विकृत हो जाएगा और उसकी सारी सुन्दरता नष्ट हो जाएगी। अतः यह कहना उचित ही है कि समाचार बुलेटिनों में भी संगीत की एक महत्वपूर्ण भूमिका है, जो इसके प्रसारण को आकर्षक एवं सुव्यवस्थित रूप प्रदान करती है।

• पृष्ठभूमि संगीत

पृष्ठभूमि-संगीत का अभिप्राय उस संगीत से है, जिसका प्रयोग हम प्रत्यक्ष रूप से न करके अप्रत्यक्ष रूप से विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति के लिए करते हैं। इस संगीत का प्रयोग हमारी सांस्कृतिक अथवा सांगीतिक परम्परा में प्राचीन समय से ही किया जाता रहा है। पृष्ठभूमि-संगीत का प्रयोग रेडियो, दूरदर्शन, सिनेमा और नाटक आदि में किया जाता है। सही मायने में अगर यह कहा जाए कि पृष्ठभूमि-संगीत के अभाव में विशिष्ट कार्यक्रम में विशिष्ट भाव को उत्पन्न करना मुश्किल ही नहीं, नामुमकिन-सा प्रतीत होता है, तो गलत नहीं होगा। रेडियो में भी पृष्ठभूमि-संगीत का प्रयोग किया जाता

शोध छात्रा, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

है। रेडियो पर जितने भी नाटकों और कहानियों का प्रसारण होता है, उन सब में पृष्ठभूमि संगीत अवश्य ही होता है। बल्कि यह कहना अधिक सार्थक लग रहा है कि दूरदर्शन की तुलना में रेडियो के प्रसारणों में पृष्ठभूमि संगीत की आवश्यकता अधिक रहती है।

• संकेत-धुनें एवं धुनों में संगीत

संकेत धुन से अभिप्राय उस सांगीतिक ध्वनि से है, जिसका प्रयोग हम किसी कार्यक्रम के प्रारम्भ या समापन के लिए करते हैं। चाहे वो टेलीविजन पर हो, रेडियो पर हो या अन्य किसी संचार साधन पर हो। प्रसारणों के प्रारम्भ में या समापन और किसी विशिष्ट कार्यक्रमों का प्रसारण बन्द कर दिया जाता है, जैसे रेडियो पर एक विशिष्ट धुन उस स्टेशन पर बजती रहती है। यह धुन इस बात का आभास कराती है कि अभी कुछ समय तक विशिष्ट स्टेशन से कार्यक्रमों का प्रसारण बन्द हो गया है और स्टेशन की सिग्नल और प्रसारण आदि सुविधाएँ ठीक से काम कर रही हैं। जैसे-जैसे विशिष्ट स्टेशन पर कार्यक्रमों के प्रसारण का समय नजदीक आने लगता है, वैसे-वैसे वह संकेत-धुन कुछ तीव्रता से बजने लगती है और धीरे-धीरे चरम पर पहुँचकर समाप्त हो जाती है।

इसके पश्चात् स्टेशन से कार्यक्रमों का प्रसारण प्रारम्भ हो जाता है। इसी प्रकार जब हम रेडियो से किसी विशिष्ट कार्यक्रम का प्रसारण करते हैं, तो उससे पूर्व भी किसी सांगीतिक धुन को बजाया जाता है। यह धुन उस कार्यक्रम को एक विशिष्ट पहचान दिलाती है और कार्यक्रम के प्रारम्भ होने से पहले एक माहौल भी तैयार करती है जैसे- समाचार बुलेटिनों से पहले किसी और प्रकार की धुन का प्रयोग किया जाता है और कृषि या किसानों से सम्बन्धित कार्यक्रमों में किसी और प्रकार की धुन का प्रयोग किया जाता है।

सांगीतिक धुनो का प्रयोग मूल रूप से विशिष्ट कार्यक्रमों की पहचान और कार्यक्रमों के प्रसारण-क्रम को एक नियमितता प्रदान करता है। संकेत-धुन से कार्यक्रम के अंदाज का भी कुछ आभास हो जाता है। अलग-अलग विषयों से सम्बन्धि कार्यक्रमों की संकेत-धुनें भी अलग प्रकार की ही होती है; जैसे- कृषि के कार्यक्रमों के लिए अलग तथा खेल के कार्यक्रमों की संकेत-धुन अलग होनी चाहिए। अलग-अलग देश, प्रदेश एवं संस्कृतियों के लिए भी अलग-अलग धुनों का निर्माण किया जाना चाहिए।

अतः संकेत-धुन के निर्माण के लिए एक अनुभवी संगीतकार और अनुभवी निर्माण-कर्त्ता का होना आवश्यक है। विशिष्ट भाव, रस, प्रकृति और आवश्यकता के अनुसार ही किसी संकेत-धुन का निर्माण और प्रयोग होना चाहिए।

• एक कार्यक्रम से दूसरे कार्यक्रम के मध्य संगीत

किसी कार्यक्रम के प्रारम्भ में बजाया जाने वाला संगीत, जो कार्यक्रम की पहचान के रूप में भी कार्य करता है, शीर्षक-संगीत कहलाता है। किसी कार्यक्रम के विषय-परिवर्तन के समय जो आकर्षक-सी धुन सुनाई देती है, वही शीर्षक-संगीत के रूप में जानी जाती है। इस प्रकार का संगीत लगभग 30-40 सैकेण्ड का होता है। यह संगीत लगभग सभी प्रमुख कार्यक्रमों के लिए होता है। जहाँ यह संगीत कार्यक्रम की पहचान के रूप में कार्य करता है, वहीं कार्यक्रम को भावनात्मक दृष्टि से भी श्रोताओं से जोड़े रखता है।

जब किसी कार्यक्रम के किसी विशिष्ट भाव या रस अथवा विषय को संगीत के माध्यम से उभारने की कोशिश की जाती है, तब इस प्रकार के संगीत को 'विषयगत संगीत' के नाम से जाना जाता है। किसी कार्यक्रम के वातावरण को तैयार करने के लिए भी इसी प्रकार के संगीत का प्रयोग किया जाता है; जैसे- शहनाई या नादस्वरम् का बजना किसी खुशी के विषय का आभास कराता है और सारंगी जैसे वाद्य पर बजाई गई कोई उदास दुःख और विषाद का आभास करती है। दो घटनाओं के बीच का संगीत अथवा यह कह सकते हैं कि अंक बदलते समय का संगीत 'सेतु' संगीत कहलाता है।

अनेक प्रकार के कार्यक्रमों का प्रसारण एक क्रम के अनुसार होता रहता है। इस क्रम में एक कार्यक्रम से दूसरे कार्यक्रम के प्रसारण में कुछ अवकाश

देना होता है, ताकि यह पहचान हो सके कि अब इस कार्यक्रम का समापन हो गया है और अगला कार्यक्रम शुरू हो गया है।

• नाटक और धारावाहिकों में संगीत

टेलीविजन एवं रेडियो पर कार्यक्रमों के प्रसारण का मुख्य आधार अथवा साधन ध्वनि संगीत ही है। नाटकों एवं धारावाहिकों में संगीत का स्थान अति महत्वपूर्ण है। प्रारम्भ से ही नाटकों एवं धारावाहिकों के निर्माण में विभिन्न ध्वनि-प्रभावों एवं संगीत का अद्वितीय स्थान रहा है। नाटक के प्रसारण के प्रारम्भ में ही संगीत का प्रयोग नाटक के भावों के अनुसार श्रोताओं की मनोदशा को तैयार करने के लिए किया जाता है। संगीत नाटक के विभिन्न हिस्सों में भावों और रसों का तारतम्य बनाए रखने में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

दृश्यों के परिवर्तन और अन्तराल के समय संगीत प्राकृतिक रूप से श्रोताओं को विषय और भावों के साथ बाँधकर रखता है। संगीत के वाद्ययन्त्रों का प्रयोग भी नाटक की विषय वस्तु को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए- जैसे-अगर नाटक या धारावाहिक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से जुड़ा हो, तो समकालीन वाद्ययन्त्रों का ही प्रयोग करना चाहिए। जिस प्रकार नई और पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित युवा पीढ़ी के साथ गम्भीर शास्त्रीय संगीत और परम्परागत वीणा और मृदंग व पखावज जैसे-वाद्ययन्त्रों का प्रयोग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार प्राचीन एवं परम्परागत भावों और प्रभावों को अभिव्यक्त करने के वाद्ययन्त्रों यथा- गिटार व मैंडोलिन आदि का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

आरम्भ और समापन के समय संगीत, मध्य-संगीत, एक अंक से दूसरे अंक को जोड़ने वाला संगीत, पृष्ठभूमि-संगीत, पात्र के प्रवेश एवं निर्गम के समय ध्वनि-प्रभाव एवं संगीत, ध्वनि-आरोहण और ध्वनि-लोप आदि सांगीतिक तत्त्वों का प्रयोग एक धारावाहिक नाटक के आवश्यक अंग माने जाते हैं। इस प्रकार अगर यह कहा जाए कि इन सांगीतिक तत्त्वों के अभाव में कोई भी नाटक अथवा धारावाहिक अपने सही स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

• आपातकाल व तकनीकी खराबी के समय संगीत

जब कार्यक्रम सीधा प्रसारण चल रहा है और कहीं पर कोई तकनीकी खराबी गई हो, जिससे उद्घोषक विशिष्ट कार्यक्रम का प्रसारण करने में सफल नहीं हो पा रहे हों, तो उसके स्थान पर विज्ञापन, संगीत अथवा फिल्मी संगीत का प्रसारण करके इस कमी को पूरा करने की कोशिश करते है। जिस प्रकार रेडियो स्टेशन से अगर किसी क्रिकेट मैच की कॉमेन्ट्री चल रही है और मैच के दौरान बरसात आ जाती है व कुछ समय के मैच बन्द हो जाता है, तो उस समय हम संगीत का प्रसारण करके श्रोताओं को मनोरंजन के माध्यम से अपने साथ बनाए रखते हैं। अतः संगीत टेलीविजन, फोन, रेडियो पर संकटमोचन का कार्य भी करता है।

• रूपक और वृत्तचित्रों में संगीत (रेडियो के सन्दर्भ में)

रूपक एवं वृत्तचित्र रेडियो पर प्रस्तुत होने वाले आकर्षक एवं महत्त्वपूर्ण कार्यक्रमों में से हैं। रेडियो पर इन कार्यक्रमों का प्रसारण पिछले कई दशकों से होता आ रहा है। रूपक और वृत्तरूपक में मुख्य अन्तर यही है कि रूपक मूलतः कल्पना और वृत्तरूपक यथार्थ पर अधिक आधारित होते हैं। ऐसा माना जाता है कि रूपक मूलतः रेडियो की विधा है। अथवा कहा जा सकता है कि रूपक का उद्भव रेडियो की ही देन है और वृत्तरूपक का उद्भव अथवा विकास फिल्मी वृत्तचित्र आन्दोलन के जननायक जॉन गिर्यसिन के वृत्तचित्रों से हुआ है। ऐसा माना जाता है कि रूपक के प्रसारण के प्रारम्भिक काल में किसी विषय के दो या दो से अधिक कलाकारों की आवाजों के माध्यम से संगीत व विभिन्न ध्वनि-प्रभावों की सहायता से एक नाटकीय अंदाज में प्रस्तुत किया जाता था। परन्तु आज इनका स्वरूप बदल कर विकसित हो गया है।

इन सभी कार्यक्रमों के अतिरिक्त अन्य पहलू भी है जिन पर हमें गौर फरमाना जाना चाहिए जो कि इस प्रकार है-

• काल वेटिंग में संगीत (विशेषतः काल सेन्टर के सन्दर्भ में)

जैसा कि हम सभी इस बात से अवगत है जब हम किसी कॉल सेन्टर में कॉल करते हैं। जैसे- फोन कॉल सेन्टर, सिम नेटवर्क कॉल सेन्टर, विद्युत उपकरण कॉल सेन्टर इत्यादि तब कॉल की प्रतीक्षा के दौरान हमें निश्चित ही सांगीतिक धुने उस अन्तराल में सुनने को मिलती है ताकि ग्राहक बोर ना हो और वह संगीत से भी जुड़ा रहता है। चूँकि यह सांगीतिक ध्वनि उस व्यक्ति के लिए अन्तराल का भी सूचक बनती है।

• विद्युतकीय उपकरणों में संगीत

विज्ञान ने इतनी तरक्की कर ली है कि जितने भी विद्युतकीय उपकरण हम अपने दैनिक जीवन में इस्तेमाल करते हैं अधिकांशतः उनमें भी सांगीतिक तत्वों से निर्मित ध्वनियों को विद्युत द्वारा संचालित होने वाले उपकरणों में सुनने को मिलती है जैसे- लैपटॉप, टेलीविजन, मोबाईल इत्यादि इन सभी को चालू-बन्द करने पर विशिष्ट ध्वनि सुनाई देती है जो इस बात का संकेत करती है कि वह उपकरण, चालू या बन्द हो चुका है तथा साथ ही हर मनुष्य को संगीत से जोड़े रखने का भी कार्य करती है जो कि मानवीय भावनाओं को अग्रसित करने में सहयोग प्रदान करती है जैसे-जब उपकरण चालू होता है तो चेहरे पर खुशी का भाव इंगित हो जाता है आदि।

इसके साथ ही गौर फरमाया जाये तो ज्ञात होता है कि आधुनिक युग में मनुष्य के समय की बचत एवं शरीर की आन्तरिक शक्ति को बचाने हेतु पैरों से सीढ़ियाँ चढ़ने के बजाये एक बटन दबाकर एक डिब्बे नुमा लिफ्ट में खड़े होकर ऊपर से नीचे आने जाने के लिए जिस लिफ्ट का आजकल बहुतायत प्रयोग किया जा रहा है उसमें भी हमें किसी ताल का टुकड़ा, कायदा या शास्त्रीय गीत या किसी वाद्य की ध्वनि अधिकतर सुनने को मिल जाता है, इस तरह संगीत वहाँ भी अपनी भूमिका को निभाने में पीछे नहीं हटता है।

इसके अतिरिक्त जिस ट्रेन में बैठकर हम जल्द ही दूरी तय कर लेते हैं उसके आगमन व निगमन की उद्घोषणा के साथ होता है जिसमें शब्दों को लय के साथ प्रयोग में लाया जाता है जो सुनने में काफी आकर्षित करती है। इसी तरह मेट्रो ट्रेन में भी होता है जैसे उद्घोषणा में सुनने को मिलता है। "May I Have You attantion Plaese" इत्यादि इसको लय के साथ बोला जाता है। इस तरह से संगीत का प्रयोग किया जाता है।

• विज्ञापन में संगीत

विज्ञापनों की सफलता बहुत सीमा तक संगीत और उसके उपादानों यथा गानों के टुकड़ों, लोकगीतों के बोलों, गीतों की धुनों इत्यादि पर ही निर्भर करती है। किसी विज्ञापन के प्रारम्भ में संगीतबद्ध कोई निश्चित धुन सुनकर ही लोग ये अनुमान लगा लेते हैं कि अब कौन-सा विज्ञापन प्रदर्शित किया जाने वाला है। इसी प्रकार जब रेडियो पर आकाशवाणी का कोई कार्यक्रम प्रारम्भ होता है, तब विभिन्न देशों की विभिन्न ध्वनियाँ प्रारम्भ होने से पूर्व बजाई जाती हैं। हम केवल उन ध्वनियों को सुनकर ही यही बताने की स्थिति में आ जाते हैं कि इस समय किस देश का रेडियो-स्टेशन लगा हुआ है। इसी प्रकार विभिन्न कार्यक्रमों से पूर्व कुछ विशेष पुर्व नियत की गई धुनें ही बजाई जाती हैं। जैसे फरमाइश कार्यक्रम से पूर्व ब्रजमाधुरी या 'हवा-महल' स्थायी कार्यक्रम से पूर्व बजने वाली धुनें हुआ करती हैं। ये धुनें निश्चित रूप से कार्यक्रम विज्ञापन की सफलता के उद्देश्य को ध्यान में रखकर ही रेडियो पर सदैव बजाई जाती हैं। इस प्रकार संचार-साधनों में संगीत की विशेष और महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्विवाद ही मानी जा सकती है।

• अन्य चीजों में संगीत

❖ कॉलर ट्यून

फोन तो जैसे हर मनुष्य की जरूरत ही नहीं बल्कि मानो उसके शरीर का अंग बन चुका है तो इस नए शरीर के अंग के माध्यम से जब किसी को फोन किया जाता है तब अवश्य ही फोन करने वाला व फोन सुनने वाले को सांगीतिक ध्वनि सुनने को मिलती है जो कि सभी को आकर्षित करती है।

❖ डोर बैल

जब हम किसी के घर जाते है तो उसके घर की डोर बैल बजाते हालांकि यह डोर बैल उस घर के स्वामित्व के लिए एक सूचना वाहक होती है कि उसके घर किसी ने दस्तक दी है लेकिन यह सूचना उस स्वामित्व तक अधिकांशतः सांगीतिक ध्वनि ही पहुंचाती है चाहे वो गायत्री मंत्र हो, कविता हो, गीत हो आदि तथा यह सांगीतिक ध्वनि पाश्चात्य संगीत, हिन्दुस्तानी संगीत, कर्नाटकीय संगीत, लोक संगीत इत्यादि कुछ भी हो सकता है।

❖ अलार्म

इसी तरह जो व्यक्ति समय के पाबंद नहीं होते हैं तो वह अपनी सहुलियत के हिसाब से रिमाइन्डर और अलार्म लगाते हैं, अवश्य ही ये रिमाइन्डर और अलार्म सांगीतिक ध्वनि ही होते हैं। जैसे- शास्त्रीय संगीत, या अन्य कोई गीत Track में संगीत कुछ भी हो सकता है।

❖ खिलौने

खिलौने, जिनसे बच्चे खेलते है उनमें भी अधिकांशतः किसी ना किसी विशेष ध्वनि तथा सांगीतिक ध्वनि का प्रयोग किया जा रहा है जैसे- गीत, कविता आदि कुछ भी हो सकता है। जो बच्चे को अच्छी लगती है तथा ये ध्वनि महज उन्हें खिलौना के लिए नहीं वरन् इसका उद्देश्य बच्चे में सांगीतिक ध्वनियों का श्रवण करने का अनुभव कराती है जो आवश्यक है।

❖ परेड

इसी तरह परेड में बजने वाले ड्रम भी सांगीतिक ध्वनि में बद्ध लय व ताल का अनोखा अनुभव चक्षुओं से देखते ही बनता है जो कि सबको आकर्षित करती है।

❖ मस्जिद में अजान

जब मस्जिद में नमाज़ के लिए अजान की जाती है। तब भी वह महज शब्द नहीं होते बल्कि वह शब्द लय में बद्ध होते है तथा गाकर ही अज़ान की जाती है तो इस तरह संगीत बैक ग्राउण्ड में भी कार्य करता रहता है।

अतः इस प्रकार मैं इस शोध पत्र के माध्यम से बताना चाहती हूँ कि संगीत- धर्म, मोक्ष, ईश्वरीय उपासना, शिक्षा, व्यवसाय आदि तक ही प्रत्यक्ष रूप से सीमित नहीं बल्कि उन सभी गैर सांगीतिक चीजों में भी है जिससे हर सांगीतिक व असांगीतिक मनुष्य जुड़ा रहता है। ऐसी कितनी जगह है जहाँ संगीत का प्रयोग बहुतायत रूप में होता है जिनके ऊपर प्रायः ध्यान भी नहीं दिया जाता है, चीजे आयी और गयी, हवा के रूख के तरह होती है। लेकिन दैनिक जीवन की व्यस्तता में हम भले ही इस चीजों पर ध्यान ना दे पाते हो किन्तु यह निश्चित है इन सभी चीजों से मानवीय स्वभाव गुजरता है तो अवश्य ही कुछ पल के लिए उससे वह सुखद अहसास दिलाता है। कहने का तात्पर्य है कि इन सभी छोटी-छोटी चीजों पर हम भले ही ध्यान ना दे लेकिन जो संगीत की अवेहलना करते हैं उन लोगों के लिए यह कड़वी बात होगी कि वह किसी ना किसी बहाने में प्रतिदिन संगीत का सुखद एहसास ग्रहण करते हैं। किस तरह संगीत के माध्यम से अवांछित मौन अथवा खाली स्थान को भरते हैं। इनके अलावा भी अन्य अनेक ऐसे आयाम हैं, जो संगीत के अभाव में विपरीत प्रभाव दे सकते हैं। इस बात को नकारा नहीं जा सकता है। इतना ही नहीं संगीत तनाव, मनोरंजन, धर्म, व्यवसाय, शिक्षा में जुड़े रहने के साथ-साथ अनुशासन गति, संयम, एकता, सूचना, उत्सुकता, अन्तराल, प्रकृति, भावनाएँ, संस्कृति आदि का सूचक भी होता है जो कि किसी भी व्यक्ति के विकास में सहयोग करते हैं। चूँकि प्रत्येक मनुष्य चारों-ओर से संगीत से घिरा हुआ है। इसलिए उसे इस बात से नकारना नहीं चाहिए। इस तरह संगीत प्रत्यक्ष भूमिका के साथ-साथ बाकी के कार्यों में भी अप्रत्यक्ष तरीके से भूमिका निभाता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. संगीत पत्रिका -2011
2. वालिया डॉ. दीपिका, संगीत कला के विविध आयाम
3. जौहरी सीमा, संगीतायन
4. परांजपे मृत्युंजय संगीत मैनुअल-

घराना : एक अध्ययन

डॉ. अनिता रानी

साधारण रूप में घराना शब्द का अर्थ वर्ग, सम्प्रदाय, परिवार, कुटुम्ब, वंश, परम्परा, घर आदि है। यही अर्थ संगीतज्ञों के किसी विशेष गायन-पद्धति से संबंधित विशिष्ट वर्ग पर संस्थापित किया गया है। वस्तुतः घराना भारतीय संगीत की अपनी प्रमुख विशेषता है। संसार के किसी भी संगीत में घराने नही होते हैं, यद्यपि घरानों की व्यवस्था प्राचीन है परन्तु घरानों के सिलसिले में एवं प्रमाणित रूप से उल्लेख नहीं मिलता। हॉ उनकी विशेषताओं, विशिष्टताओं का विवेचन मिलता है।

स्वरूप एवं विकास- प्राचीन काल से ही भारतीय शास्त्रीय संगीत में घराना एवं घरानेदार संगीत ही भारतीय शास्त्रीय संगीत की नींव है, जिसके आधार पर शास्त्रीय संगीत आज भी व्याप्त है। इसलिए घरानेदार संगीत भारतीय शास्त्रीय संगीत की प्रतिष्ठा का आधार माना जाता है।

घरानेदार संगीत को परम्परा या परम्परागत संगीत का पर्याय भी कहा जा सकता है। संगीत की परम्परा ही उसकी आत्मा है। संगीत की आत्मा को परम्परा के बिना पहचाना नहीं जा सकता है। जिसका परम्परावाद के सहयोग के बिना मूल्यांकन सुचारू रूप से नहीं किया जा सकता। घरानेदार संगीत एवं परम्परागत संगीत दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं।

सम्प्रदाय या घराना का शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में बडा महत्वपूर्ण स्थान है। संगीत में गायकी व नायकी दोनों को समान महत्व दिया जाता है।

गायकी का संबंध किसी कलाकार के व्यक्तित्व कला-कौशल से और नायकी का संबंध उसकी गुरू-शिष्य परम्परा अर्थात सम्प्रदाय से होता है। घराना गुरू व शिष्य के परस्पर सहयोग से बनता है। गुरू-शिष्य की परम्परा संगीत में कला और शास्त्र पक्ष दोनों में ही समान रूप से निहित है।

घराने के उद्‌गम के साथ ही घराने का विकासात्मक भी प्रत्यक्ष रूप से सामने आया। घराने की नींव राजपूत काल में पड़ी एवं उसका विकास मुगल काल में हुआ। संगीत के इतिहास में 13वीं शताब्दी से लेकर अकबर के शासन काल तक का समय महत्वपूर्ण माना गया है। संगीत में घराने की उत्पत्ति या निमार्ण के कारण शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में चहुमुखी विकास एवं प्रचार व प्रसार ही होता गया परन्तु विकासात्मक स्वरूप के बाद उसका विकृत रूप भी प्रत्यक्ष रूप से सामने आया। प्राचीन गायक ध्रुपद में देवी-देवताओं की रचना गाया करते थे। इसके पश्चात धीरे-धीरे राजाश्रयी गायक अपनी रचनाओं को राजा-महाराजाओं के गुणगान उसकी समृद्धता और शुभकामनाओं में समर्पित करने लगे।

इससे भी खराब स्थिति तब हुई जब गायक नायक-नायिकाओं के प्रेम-प्रसंगों पर आधारित ध्रुपदों की रचनायें संगीत सभाओं में करने लगे। फिर भी इस बदलाव से घरानेदार शास्त्रीय पक्ष में कोई अन्तर नहीं पड़ा।

घराने के उद्‌गम के पश्चात एक ही घराने के शिष्य-समुदाय कुछ परिस्थितियों के दास होकर अन्य घरानों की शरण में आये।

इससे एक ही घराने से कई घरानों का निर्माण ही नहीं वरन् इसकी शाखायें बढती गई। गायन,वादन, व नृत्य इन तीनों क्षेत्रों में घराने की सृष्टि हुई।

वरिष्ठ प्रवक्ता, सितार, संगीत विभाग बी.डी. जैन गर्ल्स पी.जी. कॉलेज आगरा

ख्याल गायकी के विभिन्न घराने- उत्तर भारतीय संगीत में सदियों से विभिन्न प्रकार की गायन शैलियॉं प्रचलित रहीं व उन शैलियों के अनुसार अलग-अलग घरानों की नींव पडी। कहा भी गया है कि ध्रुपद गायन में वाणियॉं प्रमुख हैं।

प्रारम्भिक युग में भारत के सम्राट मुहम्मद शाह रंगीले के दरबारी गायक सदारंग- अदारंग दो भाइयों ने इसकी नींव डाली। उन्हीं से एक घराना बना जिससे आगे चलकर विभिन्न श्रेष्ठतम विशेषताओं को लेते हुए अनेक घरानों का निर्माण हुआ। ख्याल गायकी के विभिन्न घराने भारतीय शास्त्रीय संगीत में प्रचलित थे जैसेः-

1. दिल्ली घराना 2. लखनऊ घराना 3. ग्वालियर घराना 4. आगरा घराना 5. पटियाला घराना, 6. किराना घराना 7. जयपुर घराना इत्यादि परन्तु इन सब घरानों में दिल्ली, लखनऊ, एवं ग्वालियर घराना सबसे प्राचीन है।

1.दिल्ली घराना :- यह घराना ख्याल गायकी का सबसे प्रसिद्ध घराना रहा है। मुहम्मद शाह रंगीले के दरबार में सदारंग (नियामत खान) अदारंग (फिरोज खान) मशहूर ख्याल गायक थे और ये ख्याल गीतों के निमार्ता भी थे। इनकी गीत रचनायें मुहम्मद शाह रंगीले एवं मुहम्मद शाह पिया सदारंगीले के नाम से प्राचीन काल या उसके समय से लेकर आज तक प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि गुरू मियॉं अचपल (गुलाम हुसैन) इस घराने के संस्थापक थे इनके शिष्य तानसेन खान दिल्ली घराने के सर्वश्रेष्ठ कलाकार माने जाते हैं।

इनके घराने की एक उपशाखा महाराष्ट्र में गोखले घराने के नाम से प्रचलित है। इस शाखा के मूल पुरूष रजा खॉं थे जो अवध घराने के संस्थापक व दिल्ली के सदारंग के वंशज थे। दिल्ली घराना आगे चलकर अवध तथा दिल्ली दो भागों में विभक्त हो गया। दिल्ली में जिन कलाकारों ने शिक्षा प्राप्त की उनमें मियॉं अली बख्श तथा उनके भाई उमर खॉं प्रसिद्ध हैं जिन्हें अल्लाह उमरा की जोडी के नाम से पुकारा जाता है। इस घराने के अन्य कलाकार सम्मन खान, मम्मदखॉं, बन्धुखॉं इत्यादि थे।

दिल्ली घराने की विशेषताएं :-

1. मूल रूप से सारंगियों से संबध होने के कारण विलम्बित लय में मींड, गमक, सूत का काम विशेष रूप से दिखाई देता है। गायकी अंग में सुन्दर स्वरों का मेल करके कलात्मक रूपों का प्रयोग, तान एवं लय पर अधिकार।
2. मध्य लय में स्वरों का आपसी जोड़-तोड़ का काम।
3. इसके गाने में तानें कठिन, जटिल व पेंचदार व द्रुत लय में तानों का प्रयोग।
4. इस घराने के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि कलाकार उस्ताद चॉंद खान एवं उसमान खान माने जाते हैं।

2.ग्वालियर घराना :- ख्याल गायकी के घरानों में यह घराना सबसे प्राचीन एवं प्रचलित रहा है।. ग्वालियर घराना का प्रादुर्भाव नत्थन पीर बख्श से माना जाता है। महाराज दौलतराव सिंधिया इनके शिष्य थे। आगरा के घग्घे खुदाबख्श ने इन्हीं से शिक्षा पाई थी। इनके तीन पुत्र हददुखॉं, हस्सूखॉं और नत्थुखॉं थे। मूलतः यह घराना लखनऊ की देन है क्योंकि लखनऊ के गुलाम रसूलखान इस परम्परा के मूल पुरूष माने जाते हैं। नत्थनपीरबक्श गुलाम रजा के प्रपौत्र थे। इनकी शिक्षा-दीक्षा अपने पिता मक्खन खान के द्वारा हुई थी। नत्थनपीर बख्श लखनऊ के अनुचित वातावरण को देखकर ग्वालियर के आश्रम में चले आये। नत्थनपीर बख्श की शिष्य परम्परा से ग्वालियर घराने का प्रचार व प्रसार देश के हर श्रेत्र में विस्तार से हुआ। हद्दुखॉं व हस्सूखॉं से लेकर आज तक ये घराना पहले की ही भॉंति प्रसिद्ध व लोकप्रिय है एवं इस घराने के विकास में इनके बड़े-बड़े कलाकारों, गायक-गायिकाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इस घराने की शिष्य परम्परा में बालकृष्ण बुआ ने महाराष्ट्र में ग्वालियर घराने का जबरदस्त प्रचार किया और उसके शिष्य बनायें जिसमें से पं. विष्णुदिगम्बर पलुस्कर, मनोहर जोशी आदि हैं।

विशेषताएं :-

1. प्रारम्भिक स्वर आकार में खुला व बुलन्द लगाया जाता है। आवाज को दबाना निषिद्ध है।
2. स्वर साधना की दीक्षा तीनों सप्तकों में दी जाती है।
3. बोलतान एवं अन्य अनेक प्रकार की तानों को गाने की प्रथा।
4. सीधी व सपाट तानें, गमक की तानों का सुन्दर प्रयोग, नोम्-तोम् में अलाप इत्यादि।

इस घराने की गायकी धीर, स्थिर, गंभीर व आकर्षक होती है। इस घराने के सर्वश्रेष्ट कलाकार लक्ष्मण राव, कृष्णराव पंडित जी को माना जाता है। अन्य बड़े-बड़े कलाकार भी इस घराने को प्रसिद्धि दिलाने में सहयोग कर रहें हैं।

3.आगरा घराना :- आगरा घराने का विशेष संबंध ग्वालियर घराने से है इसलिए बहुत सी बातें दोनों घरानों की मिलती हैं। इस घराने के प्रर्वतक हाजी सुजानखान थें। आगे चलकर इस घराने का प्रचार घग्घे खुदाबख्श द्वारा हुआ। ये ग्वालियर के नत्थरपीर बख्श के शिष्य बन गये थे और उनसे ख्याल गायिकी की शिक्षा ली और फिर आगरा चले गये। इस प्रकार ग्वालियर घराने की विशेषताएं आगरा घराने में आ गयी। खुदाबख्श और जग्गूखान दोनों भाई थे। जग्गूखान के पौत्र नत्थन को संगीत की शिक्षा खुदाबख्श के पुत्र गुलाम अब्बास खॉ से प्राप्त हुई। गुलाम अब्बास खॉ उस्ताद फैयाज खॉ के नाना थे और फैयाज खॉ आगरा घराने के रत्न माने जाते थे। नत्थनखॉ की गायकी का प्रभाव स्वर्गीय फैयाज खॉ पर पड़ा। फैयाज खॉ के शिष्यों में शराफत हुसैन तथा लताफत हुसैन प्रमुख हैं जो आगरा घराने का प्रतिनिधित्व कर रहे थे।

विशेषताएं :-इस घराने की गायन शैली को देखेगें तो हमें सभी गायकों की आवाज वजनदार, दमदार सुनायी पड़ती है।

1. ग्वालियर घराने की तरह खुली किन्तु जवारीदार आवाज।
2. ध्रुपद के समान ख्याल में भी नोम्-तोम् का आलाप।
3. जबड़ें का अधिक प्रयोग।
4. बंदिशदार चीजें।
5. बोलतानों की विशेषता।
6. ख्याल के अतिरिक्त ध्रुपद, धमार व ठुमरी में प्रवीणता।
7. लय व ताल पर विशेष अधिकार।

4. किराना घराना :- हिन्दुस्तानी संगीत में किराना शैली की गायकी एक अनुपम देन है। इस घराने की बुनियाद मुगलकाल में हुई। उत्तर प्रदेश के मेरठ जिले में यमुना नदी के किनारे दोहाटी में बहुत से संगीतज्ञ रहते थे। एक बार बाढ़ के कारण ये कस्बा नष्ट हो गया। तब मुगल बादशाह जहॉगीर ने उन संगीतज्ञों को उत्तर प्रदेश के जिला मुज्जफरनगर के किराना नामक स्थान पर बसाया। इस घराने का नाम उस स्थान पर पड़ा। 1870 ई0 के लगभग वहॉ एक प्रसिद्ध बीकानेर सादिक अली खान रहते थे उनके पुत्र उस्ताद बंदे अलीखान एक अच्छे वीणकार व गायक थे। वे इंदौर के संगीतज्ञ व महाराजा के गुरू भी थे। बंदे अलीखान के शिष्यों में प्रमुख मुरादखान थे, जो एक बीनकार थे और नन्हें खान ध्रुपदिये थे, जिनके शिष्य अजीम बख्श, मौला बख्श आगे चलकर अब्दुल करीम खान व अब्दुल वहीद खान इस घराने के प्रमुख प्रतिनिधि हुए, जिन्होंने इस घराने को आगे बढाया। अब्दुल करीम खान अपनी मधुर आवाज व मोहक गायकी के द्वारा अधिक लोकप्रिय हुए। अब्दुल वहीद खान , करीम खान के निकट संबंधी थे, जो मिरज में रहते थे तथा इस घराने के प्रतिनिधि थे। अब्दुल करीम खान चार भाई थे। स्वर्गीय रामभाऊ (सवाई गंधर्व) तथा स्वर्गीय सुरेश बाबू इसी परम्परा के गायक थे, जिन्होंने अब्दुल करीम खान से शिक्षा प्राप्त की थी। इस घराने के प्रमुख कलाकार हीराबाई बड़ोदकर, भीमसेन जोशी, सरस्वती बाई, राणो गंगूबाई हंगल इत्यादि।

विशेषताएं :-

1. आलाप प्रधान गायकी।
2. स्वर लगाने का भावपूर्ण ढंग तथा एक-एक स्वर की विलम्बित बढ़त इस घरानेकी विशेषता है।

3. गीत की संक्षिप्त बंदिश तथा विलम्बित बढत के साथ द्रुत तानों पर बल।
4. चैनदार गायकी।

5. **जयपुर घराना :-** आज से लगभग कई वर्ष पूर्व मौहम्मद अलीखान ने जयपुर घराने को जन्म दिया। यहॉ पर भिन्न- भिन्न संगीतज्ञों के कला-कौशल ने संगीत की विभिन्न शैलियों को पोषण दिया। वीणा, सितार, ध्रुपद और ख्याल की शैलियों में यहॉ के कल्पनामय और भावपूर्ण वातावरण में संगीत फला-फूला। वाद्य संगीत और कण्ठ संगीत दोनों को यहॉ पर प्रेरणा मिली। कुछ लोगों का विचार है कि इस घराने के प्रर्वतक मनरंग थे जो मुहम्मद अली के वंशज माने जाते थे। उनके पुत्र प्रसिद्ध संगीतज्ञ आसिफ अली खॉ थे। आसिफ अली खॉ पहले गाना गाते थे किन्तु बाद में सितार बजाने लगे। उनके शिष्यों में जी.एन. गोस्वामी, रसूलनबाई, अनबरो बाई, तथा स्वंय उनके पुत्र मुश्ताक अली खॉ हैं।

विशेषताएं :-

1. गीत की संक्षिप्त बंदिश।
2. वक्रताने तथा छोटी-2 तानों से अलाप की बढ़त।
3. आलाप लगाने का अपना ढंग तथा खुली आवाज से गायन करना।
4. स्वर सौन्दर्य पर विशेष बल इस घराने की विशेषता है।

6. **अल्लादियॉ खॉ घराना :-** अल्लादियॉ खॉ ने अपनी स्वतंत्र गायन शैली द्वारा एक नवीन घराना चलाया। उन्होंने जहॉगीर खॉ से शिक्षा प्राप्त की थी, जिन्होंने उन्हीं के पिता ख्वाजा अहमद खॉ से संगीत सीखा था। ख्वाजा ने भानतौल खॉ से शिक्षा ग्रहण की। बाद में खॉ साहब महाराष्ट्र में रहने लगे। उनके भाई हैदर खॉ जो एक उच्च कोटि के गायक थे। स्व. भास्कर बुआ ने संगीत जगत में अच्छा नाम कमाया। स्व. मंजी खॉ और बुर्जी खॉ अपने समय के अच्छे कलाकार थे। ये दोनों अल्लादिया खॉ के पुत्र थे। मंजी खॉ का पूरा नाम लदरूद्दीन खॉ और बुर्जी खॉ का नाम शमरूद्दीन खॉ था। इस घराने के प्रतिनिधि कलाकार है।- केसरबाई केलकर, शंकरराव सरनाई, मोधमबाई कुर्डीकर इत्यादि।

विशेषताएं :-

1. बुद्धिप्रधान और पंचदार गायकी।
2. बोल अंगों की विशेषता तथा गीत को भरने का अपना एक निजी ढंग। अप्रचलित रागो की ओर विशेष झुकाव।
3. विलम्बित लय में गायन तथा कठिन गायकी।

7. **पटियाला घराना :-** यह घराना दिल्ली से संबधित रहा तथा इसका विकास पंजाब की धरती पर होने के कारण और पटियाला रियासत में पनपने के कारण यह पटियाला घराना या पंजाब घराना कहलाया। इस घराने की उत्पत्ति तानरस खॉ से बताई गई। जिनके शिष्यों में कालू मियॉ, अलीबख्श, नवीबख्श और फतेहअली का नाम लिया जाता है। अलीबख्श और फतेहअली की जोड़ी अल्इया फत्तू के नाम से प्रसिद्ध हुई। अलीबख्श के पुत्र स्व. बडे गुलामअली खॉ ने पटियाला घराने का नाम रोशन किया, जो अलीबख्श के पुत्र और फतेह अली के वंशज थे। पटियाला घराने में बड़े गुलामअली खॉ के शिष्यों में प्रमुख हैं- उनके पुत्र मुन्नवर अली खॉ, प्रसून बनर्जी, मीरा बनर्जी, और गजल गायक गुलाम अली खॉ। बड़े गुलामअली खॉ को अपने चाचा काले खॉ से पहले सारंगी और फिर ख्याल गायन शैली की शिक्षा मिली। पटियाला घराना या पंजाब घराना की अपनी विशेषताएं हैं।

विशेषताएं :-

1. रचनाओं में रंगीनी एवं चपलता।
2. अलंकारिक वक्र तथा फिरत की तानों का प्रयोग।
3. छोटे ख्यालों की कलापूर्ण बंदिशें।
4. गायन में पंजाब अंग या टप्पा अंग।
5. तैयार तानों का अधिक प्रयोग और ठुमरी गायन में दक्षता।

कला के हर क्षेत्र में प्रायः उद्देश्य एक ही होता है। नया सृजन और नयी अभिव्यक्तियॉ सदैव अस्तित्व में आती रहती हैं। भारतीय संगीत के विभिन्न घरानों में भी यही हुआ। प्रत्येक गुरू से उपलब्ध शिक्षा को शिष्य ने अपनी निजी विशेषताओं का

समावेश करके उसे और अधिक लोकप्रिय बनाया। जिसके ज्वलन्त उदाहरण के लिए हम उन सभी कलाकारों को ले सकते हैं जिन्होंने घराने की स्मृति समाप्त करके अपने निजी व्यक्तित्व की छाप अधिक छोडी है। जैसे'- कु. गंधर्व (गायक) पं. रविशंकर (सितार वादक) पं. शिवकुमार शर्मा (संतूर वादक) पं. हरिप्रसाद चौरसिया (बॉसुरी वादक) स्व. उदयशंकर (नर्तक) जाकिर हुसैन (तबला वादक) उस्ताद विस्मिल्ला खॉ (शहनाई वादक) श्री मती एन. राजम (वायलिन वादक) उस्ताद अली अकबर खॉ (सरोद वादक) उस्ताद अमजद अली खॉ (सरोद वादक) इत्यादि के नाम लिये जा सकते हैं। जिनके माता-पिता या घराने से आज किसी को कोई मतलब नहीं है। संगीत जगत में इनकी एक विशिष्ट पहचान है।

संदर्भ

1. शर्मा भगवत शरण, हिन्दुस्तानी संगीत शास्त्र
2. गर्ग प्रभु लाल, घराना अंक- लक्ष्मी नारायण
3. गर्ग लक्ष्मी नारायण निबन्ध संगीत-
4. चौबे डॉ. सुशील कुमार, संगीत के घरानों की चर्चा
5. संगीत मासिक पत्रिका
6. संगीत कला विहार

दक्षिणात्य सप्त स्वर व उनके सोलह नामों की उपयोगिता एवं महत्ता

श्वेता केसरी

सम्पूर्ण विश्व में प्रचलित संगीत की अन्य पद्धतियों के समान कर्नाटक संगीत में भी सप्त स्वर माने गये हैं जिनके नाम क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गन्धार, मध्यम, पंचम, धैवत व निषाद हैं। व्यवहार में गाते बजाते समय इन्हें सा, रि, ग, म, प, ध, नि वर्णों से उच्चारित किया जाता है, जिनमें से रि, ग, ध, नि स्वरों के कोमल व तीव्र भेद के फलस्वरूप स्वरों के द्वादश स्वर स्थान बताये गये है जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार है-

नाम संक्षिप्त नाम (चिह्न)	
षड्ज	s
शुद्ध ऋषभम्	r_1
चतुःश्रुति ऋषभम्	r_2
साधारण गन्धारम्	g_1
अन्तर गन्धारम्	g_2
शुद्ध मध्यमम्	m_1
प्रति मध्यमम्	m_2
पंचमम्	p
शुद्ध धैवतम्	d_1
चतुःश्रुति धैवतम्	d_2
कैशिकी निषादम्	n_1
काकली निषादम्	n_2

इन बारह स्वर स्थानों को संक्षिप्त रूप में उपर बताये गये नामों (चिह्नों) से भी सम्बोधित किया जाता है, किन्तु कर्नाटक संगीत में इन बारह स्वर स्थानों के अतिरिक्त इनके 16 नाम भी बताये गये है, जो कि रि, ग, ध, नि स्वरों के वैकल्पिक नाम अर्थात् दो-दो नामों का परिणाम है। जिसे नीचे दिये गये तालिका में स्पष्ट किया गया है।

तालिका

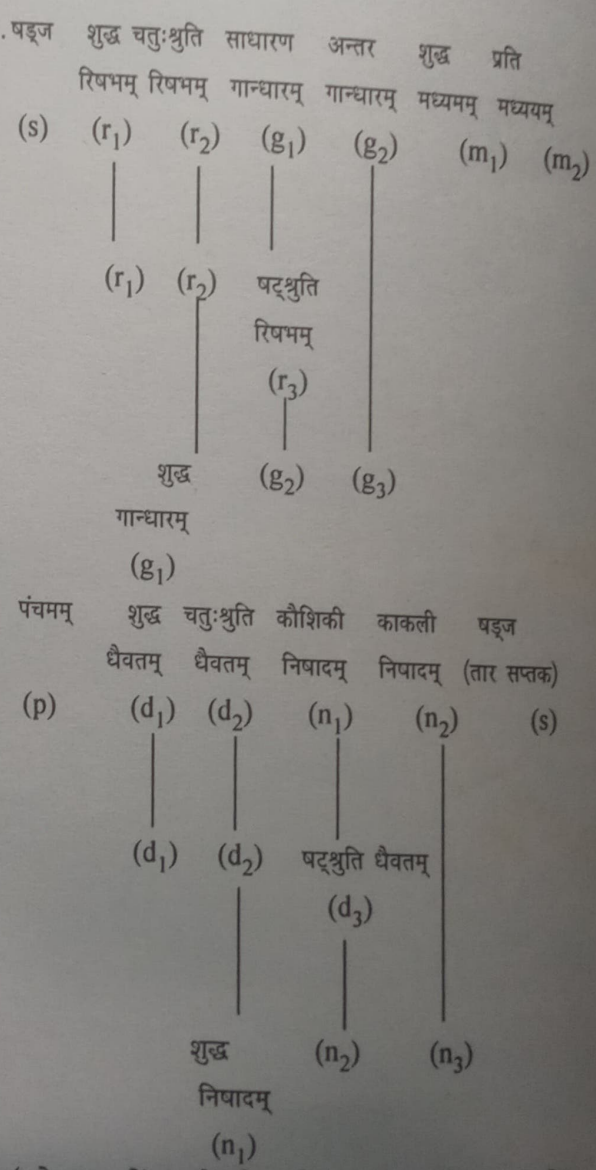

(कोष्ठक में स्वरों के संक्षिप्त नाम दिये गये हैं)

शोध छात्रा, विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

जैसा कि प्रस्तुत तालिका से स्पष्ट है कि चतुःश्रुति ऋषभम् (r_2), साधारण गान्धारम् (g_1), चतुःश्रुति धैवतम् (d_2) तथा कैशिकी निषादम् (n_1) का एकान्य नाम क्रमशः शुद्ध गान्धारम् (g_1), षट्श्रुति ऋषभम् (r_3), शुद्ध निषादम् (n_1), व षट्श्रुति धैवतम् (d_3) भी है। अतः इस प्रकार 12 स्वर स्थानों में से रि, ग, ध, नि स्वरों के एकान्य नाम के फलस्वरूप कुल 12 + 4 = 16 नाम स्वरों के बताये गये है। स्वरों के यह 16 नाम कर्नाटक शास्त्रीय संगीत के महान संगीत शास्त्रज्ञ "पं. व्यंकटमखी जी" ने 17वीं शताब्दी के लगभग बताया।

किन्तु अब यह प्रश्न उठता है कि इन स्वरो के 16 नाम क्यों दिये गये, इसकी संगीत में क्या उपयोगिता एवं महत्ता है।

अतः इसका अन्तर जानने के लिए हमें पं. व्यंकटमखी जी द्वारा गणित के आधार पर बनाये गये 72 मेलों की निर्माण प्रक्रिया को समझना होगा क्योंकि स्वरों के इन 16 नामों का प्रयोग इन्हीं 72 मेलों के निर्माण में किया गया है।

मेल निर्माण प्रक्रिया-

इस प्रक्रिया के अन्तर्गत सर्वप्रथम व्यंकटमखी ने सप्तक को दो बराबर भागों में बाँटने के लिए सप्तक को अष्टक का रूप देते हुए सप्तक में तार सां का भी प्रयोग किया तथा उसे दो बराबर भाग सा, रे, ग, म - प, ध नि, सां में बाँटा तथा स्वरों के बताये गये 16 नामों के प्रयोग से 12 चक्रों का निर्माण किया, जिसमें से प्रथम 6 चक्रों का निर्माण शुद्ध मध्यमम् से किया व अन्तिम 6 चक्रों का निर्माण प्रति मध्यमम् (तीव्र मध्यमम्) से किया। जो इस प्रकार है-

शुद्ध मध्यम से-

पूर्वांग	उत्तरांग
1. s, r_1, g_1, m_1	p, d_1, n_1, s
2. s, r_1, g_2, m_1	p, d_1, n_2, s
3. s, r_1, g_3, m_1	p, d_1, n_3, s
4. s, r_2, g_3, m_1	p, d_2 n_2, s
5. s, r_2, g_3 m_1	p, d_2, n_3, s
6. s, r_3, g_3, m_1	p, d_3, n_3, s

तीव्र मध्यम से

पूर्वांग	उत्तरांग
7. s, r_1, g_1, m_2	p, d_1, n_1, s
8. s, r_1, g_2, m_2	p, d_1, n_2, s
9. s, r_1, g_3, m_2	p, d_1, n_3, s
10. s, r_2, g_3, m_2	p, d_2 n_2, s
11. s, r_2, g_3 m_2	p, d_2, n_3, s
12. s, r_3, g_3, m_2	p, d_3, n_3, s

इस प्रकार पूर्वांग के प्रत्येक चक्रो को क्रमशः उत्तरांग के प्रत्येक चक्र से मिलाकर शुद्ध मध्यम से कुल 36 मेलों का निर्माण हुआ तथा इसी प्रकार तीव्र मध्यम का प्रयोग कर इसी प्रक्रिया के द्वारा पुनः 36 मेलों का निर्माण हुआ अर्थात् कुल मिलाकर 36 + 36 = 72 मेलों का निर्माण किया।

जैसा कि उपरोक्त प्रक्रिया से स्पष्ट है कि पं. व्यंकटमखी जी ने स्वरों के 16 नामों का प्रयोग सम्भवतः अधिक से अधिक मेलों का निर्माण करने के लिए किया। जिससे कि मेलों के वे प्रकार जो स्वरो के वैकल्पिक नामों के अभाव में नहीं बनाये जा सकते थे, उनको भी स्वरों के वैकल्पिक नामों के प्रयोग से बनाया जा सके। इन 12 चक्रों में से पहले, छठें, सातवें एवं बारहवें चक्र को उन्होंने विवादी कहा, क्योंकि इन चक्रों में वैकल्पिक संज्ञा वाले स्वरों के दोनों नामों का एक साथ प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ-s,r_1,g_1,m_1 अर्थात् षड्ज, शुद्ध रिषभम्, शुद्ध गान्धारम् (जो कि चतुःश्रुति ऋषभम् का ही दूसरा नाम है), शुद्ध मध्यमम्। इसी प्रकार छठवें, सातवें व बारहवें चक्रों का निर्माण भी वैकल्पिक संज्ञा वाले स्वरों के दोनों नामों के एक साथ प्रयोग से किया गया है। अतः इन चक्रों के परस्पर संयोग

से जितने भी मेल बने उन्हें पं. व्यंकटमखी ने विवादी मेल की संज्ञा दी है।

जबकि इसके विपरीत हिन्दुस्तानी संगीत में चूंकि एक स्वर के दो प्रकारों का प्रयोग एक साथ किसी राग में वर्ज्य माना जाता है इसलिए हिन्दुस्तानी संगीत में गणितानुसार 32 थाटों का निर्माण हुआ। जिसमें से 10 थाट आज वर्तमान में प्रचार में है। हालांकि वर्तमान में ऐसे बहुत से राग प्रचार में है जिनमें एक स्वर के दोनों प्रकारों का प्रयोग किया जाता है किन्तु थाट व्यवस्था के अन्तर्गत वे किसी थाट में नहीं माने जाते है।

सन्दर्भ -

1. P. Sambmoorthy South Indian Music;
2. Leela Dr. S.V., Indian Music Series; Book No. - I, II, III;
3. Janakiraman Prof. S.R., Essentials of Musicology in South Indian Music

धर्म एवं संगीत का अन्तःसम्बन्ध

अनुराधा सिंह

धर्म एवं संगीत के अंतःसंबंध को आदि काल से लेकर आधुनिक काल तक सम्पूर्ण जगत द्वारा निर्विरोध स्वीकार किया गया है। मानव सभ्यता एवं संस्कृति के निरन्तर विकास के साथ ही विश्व में अनेक धर्मों का प्रार्दुभाव हुआ । इन सभी धर्मों में ईश्वर के अस्तित्व को भिन्न - भिन्न रूप में स्वीकार किया गया है। ईश्वर के स्वरूप को लेकर विभिन्न धर्मो के अनुयायियों में भले ही मतैक्य न हो परंतु ईश्वर प्राप्ति का इन सभी ने एक ही सर्वोतम साधन माना है, और वह है 'संगीत'। मार्टिन लूथर के अनुसार- '' संगीत विश्व का नैतिक विधान है। यह विश्व को दिव्य सौन्दर्य प्रदान करता है। भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियो में संगीत मनुष्य के लिए साधना का विषय रहा है। साथ ही यह आध्यात्मिक जीवन में प्रेरणा का भी स्त्रोत है।'' चाहे वह सबसे प्राचीन धर्म हिंदू धर्म हो इस्लाम हो सिख, ईसाई, बौद्ध, जैन या अन्य कोई धर्म हो संगीत के प्रभाव से अछूता नहीं है। प्लेटो के शब्दो में-संगीत के माध्यम से आत्मा लय सिखाती है, संगीत चरित्र बनाता है। इसमें धर्म की प्रकृति आ जाती है। यह अन्याय नहीं कर सकता क्योंकि वह स्वर-लहरी से बँधा है।'' यही कारण है कि सन्त पुरूषों तथा सभी धार्मिक सम्प्रदायों द्वारा संगीत को परम पवित्र कल्याण-कारी तथा भक्ति का साधन स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार संगीत ने विभिन्न धर्मों के प्रचार-प्रसार में मुख्य भूमिका निभाई है, ठीक उसी प्रकार मानव की धार्मिक भावनाओं ने संगीत के स्वरूप को भी काफी प्रभावित किया है। जैसे-जैसे मानव का आध्यात्मिक विकास होता गया संगीत की भी उन्नति होती गई।

हिन्दु धर्म के अनुसार संगीत की उत्पत्ति हिन्दु देवी-देवताओं से हुई है और इससे संदर्भित अनेको पौराणिक कथाएँ व उपाख्यान शास्त्रों में विद्यमान है। विभिन्न सांगीतिक ग्रंथों के अनुसार संगीत के इतिहास का प्रथम युग वैदिक युग माना जाता है इस युग में हिंदु धर्म के चारो वेदो की रचना हुई थी। चारो वेदों में सामवेद प्रारंभ से अंत तक संगीतमय है। सामवेद के संदर्भ में भगवान श्री कृष्ण ने गीता के 10 वें अध्याय के 22 वें मंत्र में कहा है-''वेदानां सामवेदोस्मि'' अर्थात वेदों मे मैं सामवेद हूँ। सामवेद को इतनी महता भगवान श्री कृष्ण ने दी चूँकि गायन द्वारा 'नाद ब्रह्म' की प्राप्ति होती है जिसे सृष्टि का आधार भी माना गया है। एक मत के अनुसार संगीत की उत्पति परमपिता ब्रह्मा द्वारा हुई। ब्रह्मा जी ने यह कला शिवजी को दी और शिवजी के द्वारा सरस्वती को प्राप्त हुई। सरस्वती जी से इसका ज्ञान नारद को प्राप्त हुआ। नारद ने स्वर्ग के गंधर्व किन्नर तथा अप्सराओं को संगीत शिक्षा दी वहॉ से ही भरत, नारद और हनुमान आदि ऋषि संगीत कला में पारंगत होकर भू-लोक पर संगीत कला के प्रचारार्थ अवतीर्ण हुए। कुछ ऐसे ही विचार दत्तिलकृत 'दत्तिलम्' ग्रंथ में भी मिलते हैं -

'गांधर्व नारदादिभ्यः प्रत्यभादौ स्वयम्भुवा विविधन्न रदैनाथ, पृथि त्यामवतारितम।।'

शोध छात्रा, विश्वविद्यालय संगीत विभाग, ति. माँ. भा. वि. वि.,भागलपुर

वैदिक काल में आर्यों ने संगीत को धर्म के आवरण में लपेट दिया था फलस्वरूप संगीत और धर्म का एकीकरण हो जाने से संगीत पवित्रतम बन गया। संगीत के द्वारा ईश्वर आराधना का मौलिक भाव वैदिक युग से भारत द्वारा संपूर्ण विश्व में फैला।

यद्यपि इसके पश्चात् संगीत का प्रयोग मनोरंजन के लिए भी किया जाने लगा, परंतु इसका आध्यात्मिक पक्ष सदैव प्रबल रहा है, मध्य युग में भी स्वामी हरिदास, मीराबाई, तुलसीदास, चैतन्य प्रभु, सूरदास, खालसा आदि ऐसे कई सन्त गायक एवं रचनाकार हुए जिन्होंने संगीत द्वारा धर्म का प्रचार किया तथा अपने इष्टदेव से प्रेरित होकर कई राग-रागिनियों का निर्माण भी किया। आधुनिक काल में भी भजन की परम्परा समाज के सभी वर्गो में प्रचलित है। भजनों का गायन व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों ही रूपों में होता है जिन्हें सुनकर हृदय की धार्मिक भावनाएँ और प्रबल होती है। आधुनिक संगीतज्ञों ने भक्ति रस के गीत के लिए कुछ विशेष रागों एवं तालों की रचना भी की है।

हिन्दु धर्म के पश्चात विश्व में अन्य कई धर्मो का जन्म एवं प्रसार हुआ तथा उनमें भी ईश्वर की अराधना के लिए संगीत का ही मार्ग अपनाया गया । इस्लाम धर्म में खुदा की इबादत के लिए संगीत को विशेष महत्व दिया गया है। मस्जिद में बजने वाले अज़ान के स्वरों में अलग ही रूहानियत होती है। इस्लाम धर्म में भक्ति संगीत की एक अलग ही विद्या प्रचलित हुई जिसे सूफी संगीत कहा गया है इस विद्या का प्रारंभ पीर-फकीर एवं सूफी -संतो द्वारा हुआ। इसमें भक्ति पूर्ण बंदिशो के साथ जब मर्मस्पर्शी स्वरों का समन्वय होता है तो ऐसा प्रतीत होता है मानो अल्लाह के साथ बन्दे का सीधा सम्पर्क स्थापित अतिरिक्त अन्य धर्मों मे भी काफी लोकप्रिय हो रहा है। इस्लाम धर्म के समान ईसाई धर्म में भी संगीत को परमात्मा से जुड़ने का प्रबल माध्यम माना गया है। कहा जाता है कि पाश्चात्य संगीत के विकास में वहाँ के गिरिजाधरों का विशेष स्थान रहा है। वहाँ के धार्मिक संगीत सामूहिक गायन और वृन्दवादन का बड़ा महत्व है। समूह में स्त्री-पुरूष बालक-बालिकाएँ सभी आते हैं। इन सभी प्रकार के कंठो को लिपिबद्ध करने के लिए पाश्चात्य संगीत में विशेष प्रकार की स्वरलिपि पद्धति का निर्माण भी किया गया है।

इन धर्मों के अतिरिक्त बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म के प्रचार में भी संगीत ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भगवान बुद्ध स्वयं एक उत्तम संगीतज्ञ थे। उन्होंने सम्पूर्ण सिद्धांतो को गीतों की लड़ियों में पिरों दिया था। उनके गीतों को सुंदर ढ़ंग से गायन करके गाँव-गाँव और नगर-नगर की सुप्त जनता को जागरण के भव्य पथ पर लाया गया। भगवान बुद्ध के अनुयायियों ने भी विभिन्न देशों में 'बुद्धं शरणम् गच्छामि' का जाप करते हुए इस धर्म का खूब प्रचार-प्रसार किया। जैन धर्म में भी संगीत सबके लिए साधना का मुख्य विषय माना जाता है। इस संगीत की नींव महावीर स्वामी के सिद्धातों, सत्यता, पावनता, सुंदरता, अहिंसा पर रखी गई है। सिख धर्म के प्रवर्तक गुरू नानक देव भी एक उच्च कोटि के कवि एवं संगीत के उपासक माने जाते थे। गुरूद्वारों में जब सांगीतिक ध्वनियों के साथ गुरू की अराधना की जाती है तथा गुरू-ग्रंथ साहिब के सबद का गान किया जाता है तो एक परालौकिक आनंद की अनुभूति होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चाहे कोई भी धर्म हो सभी ने संगीत को ईश्वर से तारतम्य स्थापित करने का सर्वश्रेष्ठ साधन माना है साथ ही संगीत ने धर्मों के प्रचार-प्रसार में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। ठीक इसी प्रकार विभिन्न धर्मों का प्रभाव उनके संगीत पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ा है जिसके फलस्वरूप भिन्न-भिन्न गायन शैलियो का निरन्तर निर्माण होता रहा। धर्म और संगीत के इस अंतः सम्बन्ध ने संगीत के स्वरूप को और भी पवित्र बना दिया है।

संदर्भ ग्रंथ - सूची

1. कौर डॉ भगवन्त, परम्परागत हिन्दुस्तानी सैद्धांतिक संगीत
2. गर्ग डॉ लक्ष्मीनारायण, (संपादक) निबंध संगीत
3. देवांगन तुलसीराम, भारतीय संगीतशास्त्र
4. नाहर डॉ साहित्य कुमार भारतीय. शास्त्रीय संगीत
5. शर्मा भगवतचरण भारतीय इतिहास में संगीत-

आज के परिदृश्य में लोकसंगीत

राजेश पंडित

आज के परिदृश्य में लोकसंगीत की स्थिति पर चर्चा करने से पहले हम लोकसंगीत पर विचार करें। लोकसंगीत क्या है, इसी उत्पति कैसे हुई आदि भारतीय संगीत के अनेक भेद हैं। परंतु साधारणतः ये दो प्रकार के ही हैं-1. देशी 2. मार्गी। शास्त्रीय गायन को मार्गी संगीत कहते हैं जबकि साधारण लोकगीत या लोकसंगीत को देशी कहते हैं। देशी गान शास्त्रांग के साथ ही गाए जाते रहे हैं। इनको भी दो भागों में बॉटा जा सकता है। एक वे जिन्हें राग तालों के आधार पर गाया जाता है और दूसरे वे जिन्हें लोकगीत कहते हैं। ये किसी विशेष त्योहारों व मौकों पर ही गाए जाते हैं। अपनी ताजगी और लोकप्रियता के कारण लोकगीत मार्गी और देशी दोनों तरह के संगीत से अलग है। लोकगीत गाँव, नगर की जनता के गीत होते हैं इनके लिए साधना की आवश्यकता नहीं होती।[1]

लोकगीत या लोकसंगीत को ही दूसरे शब्दों में ग्राम गीत भी कहते हैं और इसमें संदेह नहीं कि ग्राम-गीतों से ही काल्पनिक तथा वैचित्र्यपूर्ण कविताओं का विकास हुआ है। यही ग्राम-गीत क्रमशः सभ्य जीवन के अनुक्रम से कला गीत के रूप में विकसित हो गया है, जिसका संस्कार अब तक वर्तमान है। ग्राम- गीत भी प्रथमतः व्यक्तिगत उच्छवास और वेदना को लेकर उद्गीत किया गया, किंतु इन भावनाओं ने समष्टि का इतना प्रतिनिधित्व किया कि उनकी सारी वैयक्तिक सत्ता समष्टि में ही तिरोहित हो गई और इस प्रकार उसे 'लोकगीत' की संज्ञा प्राप्त हुई। [2]

कलाओं का उद्देश्य भावनाओं के उत्कर्ष द्वारा रसानुभूति कराना है। स्वर, ताल और लय, मन और मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव छोड़ते हैं इसलिए संगीत को श्रेष्ठ कलाओं या क्रीड़ाओं में गिना जाता है। लोकसंगीत सहज ग्राह्य होने के कारण शीघ्रता से हर उम्र के इंसान को आकर्षित करता है। जीवन से जुड़ी हुई स्थितियॉ जब लोकगीतों के माध्यम से फूट पड़ती है, तो वे अनायास ही रस की वर्षा करने लगती है। सरल शब्दावली प्रत्येक की समझ में आ जाती है, जो अपने अर्थ से श्रोताओं को तन्मय कर देती है। लोकसंगीत में धुन छोटी होती है किंतु शब्दों का अर्थ विशाल होता है इसीलिए लोक-संगीत मनुष्य को अधिक आकर्षित करता है। अलग-अलग अवसरों के अलग-अलग गीत अपनी सरल स्वरावली और सरल शब्दावली के कारण इंसान की आत्मा से जुड़ जाते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक के गीत इतनी स्वच्छंदतापूर्वक प्रकट होते हैं कि मनुष्य अपने समाज और अपनी मिट्टी से अनायास ही जुड़ जाता है। व्यक्ति और समाज के सुख तथा दुख का प्रतिबिंब लोक-संगीत है, यह कहना कोई अतिश्योक्ति नहीं। [3]

भारतीय जीवन में 16 संस्कार माने गए है जैसे - नामकरण, कर्णछेदन, मुण्डन, विद्यारम्भ, यज्ञोपंवीत (जनेउ), विवाह आदि। इनमें से प्रत्येक का प्रारंभ और अंत संगीत से होता है। ऐसा भी कोई त्योहार नहीं है जहॉ संगीत न हो बल्कि संगीत के बिना त्योहार अधूरा रह जाता है। छोटा-बड़ा कोई भी उत्सव मनाया जाय उसमें संगीत आवश्यक है, चाहे

शोध छात्र, विश्वविद्यालय संगीत विभाग, ति. मॉ. भा. वि. वि.,भागलपुर

संगीत प्रार्थना तक ही क्यों न सीमित हो। दिन भर के कठोर परिश्रम के बाद सायंकाल वंशी की एक छोटी सी धुन शरीर का सारा श्रम हर लेती है। गाँवों में फसल तैयार होती है तो उनका हर्षोल्लास होली के रूप में प्रकट होता है। वे जिस खुशी और आत्मीयता से गले मिलते, रंग छिड़कते और अबीर-गुलाल लगाते हैं कि देखते हीं बनता है किन्तु उनके हर्ष की चरम स्थिति उस समय पहुँचती है जब वे गॉव के कोने-कोने में ढोलक लेकर अपनी-अपनी धुन में मस्त रहते हैं। मानों पूरे वर्ष की सारी थकावट निकाल कर रख रहे हों। संगीत की यही विद्या लोकसंगीत कहलाती है। [4]

जन्म, जनेउ, विवाह, व्रत-उत्सव, कुँटौनी, पिसौनी, रोपनी आदि के समय औरतों द्वारा गाया जाने वाले विभिन्न गीतों में लोकगायन का वास्तविक स्वरूप दिखाई पड़ता है। वह अकृत्रिम होता है। उसमें उल्लास, भक्ति, प्रेम, परिहास, करूणा, उलाहना आदि के साथ ही स्वागत, विदाई आदि के भाव भी स्वाभाविक रूप में व्यक्त मिलते हैं। खिलौना, सोहर झूमर, ज्योनार, जॅतसार, सॉझा-पराती, रोपनी-गीत, होली (फाग या फगुआ), चइता (चैता) आदि दर्जनों प्रकार के गीत बिहार की मिट्टी की अपनी गूँज है, अंतस् की अभिव्यक्ति है। जनेउ तथा विवाह के हल्दी, मंडपाच्छादन, स्नान, तिलक, स्वागत, भोजन, गुरहथी, मंगढकी, सिन्दूरदान, कोहबर, कन्या विदाई आदि विविध प्रसंगों के गीत हमारी ग्रामीण कृषि संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। इन्हें नारी समाज ने सदियों से अपनी चेतना और स्मृति में सँजो रखा हैं इनमें हमारी हजारों वर्ष पुरानी संस्कृति का इतिहास गूँथा हुआ दिखाई पड़ता है। मिथिला में वचारी जैसे गीतों की मोहक परंपरा भी बिहार की मूल्यवान निधि है। [5]

आज के बदलते दौर में जहाँ हम अपनी सभ्यता संस्कृति को भूल रहें हैं तथा पाश्चात्य सभ्यता संस्कृति की ओर उन्मुख हो रहे हैं वहाँ इन लोकसंगीत की परंपरागत कड़ी को भी दरकिनार किया जाता रहा है। आज के परिदृश्य में लोकसंगीत का स्वरूप अपने मौलिक रूप में न होकर व्यवसाय तथा मनोरंजन का साधन बन गया है। लोक-संगीत को गाने वालों की संख्या तो बढ़ी है लेकिन उसकी मौलिकता का ह्रास हुआ है। लोकसंगीत की जो वास्तविक प्रकृति है उनमें कृत्रिमता प्रवेश कर चुका है। आज लोकसंगीत कलाकारों के लिए पैसा कमाने का साधन बन गया है। यही कारण है कि लोकसंगीत का मूल शब्दों को सुनने वाले की भी संख्या धटी है। आज के लोकसंगीत में फूहड़पन का समावेश हो गया है फलस्वरूप इसे लोग अब उतने आदर के दृष्टिकोण से नहीं देखते हैं।

लोकसंगीत अपने मौलिक रूपों को खोने के साथ ही अपने मौलिक संगीत में बजने वाले वाद्य-वादन जैस- हारमोनियम, ढोलक, झाल, बॉसुरी, आदि को भी छोड़ चुकी है। क्योंकि लोक-संगीत में अब आर्केष्ट्रा के वाद्यों का प्रवेश हो चुका है तथा उसे रिमिक्स कर गाया बजाया जाता है और इसे सुनने वालों की संख्या भी बढी है। एक समय था जब लोकसंगीत मनुष्य के सुख दुख में साथ देती थी। हर एक पर्व त्योहारों में, परिवारिक उत्सवों में उसके बिना काम नहीं चलता था और तो और यह रोग निवारक भी मानी जाती थी लेकिन बदलते दौर ने लोक-संगीत की यह स्थिति कर दी है कि लोक-संगीत अब केवल मनोरंजन का साधन बन कर रह गई है वह भी अपने भद्दे रूप में। अगर हम अपने लोक संस्कृति की लोक-संगीत को यों ही दर किनार करते चले गए तो वह दिन दूर नहीं जब हमारी सभ्यता संस्कृति की पहचान दिलाने वाली लोकसंगीत महज एक स्वप्न बन कर जाएगी और कुछेक लोग ही इसे स्मृति पटल कर रख सकेंगे।

डॉ. अनिरूद्ध प्र. सिंह (आकाशवाणी लोकगीत कलाकार सह सेवानिवृत व्याख्याता संगीत विभाग, एम. जे. के. कॉलेज, बेतिया) के शब्दों में-लोक-संगीत या लोकगीत को मनोरंजन का साधन बना लिया गया है। समाज पाश्चात्य सभ्यता की ओर बढ़ रही है जिसके चलते संगीत में भी परिवर्तन हो रहा है और लोकगीत में भी हुआ है।

पहले परंपरागत लोकगीत में बॉसुरी, हारमोनियम, ढोलक का प्रयोग करते थे लेकिन अब कई तरह के साज हो गए हैं तथा शब्दों में भी अश्लीलता आ गई है जिन्हें आज का समाज ज्यादा पसंद करता है।

लेकिन परंपरागत लोकगीत की मान्यता आकाशवाणी, दूरदर्शन में ध्वनि परीक्षा में अभी भी है। पुराने वाद्यों से जो लोकगीत बजता था वह मन को छूता था लेकिन अब वो बातें नहीं रह गई है। पाश्चात्य वाद्य का प्रयोग होने से यह संगीत न तो पाश्चात्य का रहा न ही यहाँ का। आज का लोकगीत मन को विचलित करने वाला है।

अच्छे समाज में अभी भी परंपरागत लोकसंगीत की मान्यता है जैसे छठ पूजा में छठ गीत। अपने इस प्राचीन धरोहर को बचाने के लिए सरकार गॉव-गॉव जाकर रिकार्डिंग करती है। इन लोकगीतों में हमारी संस्कृति दिखाई पड़ती है जो आज के लोकगीत में संभव नही है। परंपरागत लोकगीतों में रागों की छाया दिखाई पड़ती थी। जैसे -पराती में भैरवी, कजरी में मियॉ मल्हार, होली में वंसत राग आदि।

एक और भागलपुर आकाशवाणी की कलाकार रोजी निक्की के अनुसार-अपनी संस्कृति रीति रिवाज के साथ ही लोग परंपरागत लोकसंगीत को खो रहे हैं। मेरे मन्तव्य के अनुसार हम अपने परंपरा को छोड़कर पश्चिमी सभ्यता को अपना रहे हैं। लेकिन जो हम पीछे छोड़ दिए वही हमारा मूल है तो जब हमारी नींव कमजोर होगी तो दीवार कैसा होगा। भौतिक चकाचौंध में हम भूल रहे हैं अपनी वास्तविकता को। लेकिन कहीं न कहीं यह बात तो जरूर है कि लोक संस्कृति ही लोकसंगीत को जन्म दी है क्योंकि शास्त्रीय संगीत का भी जन्म लोकसंगीत से ही हुआ है। हमारी लोक संस्कृति जो पीढी से पीढी चल रही है उसे आज के दौर के लोग नहीं मान रहे हैं यह बिल्कुल असहज है अगर हम अपनी परंपरागत लोकसंगीत को भूल जाएँगे तो यह हमारे लिए बिडंबना ही होगी। वर्तमान सभ्यता में जहाँ हम जी रहे हैं अगर हम अपनी परंपरा को बचाकर चलें तो यह हमारे धरोहर के रूप में रहेगी ।हम अपने परिवेश में हमारे बीच जो भी रीति रिवाज है उसे हम जागृत रखें और उसके तरफ अग्रसर हो जाए जिसमें हमारी लोकसंगीत की स्थिति बनी रहे क्योंकि यह हमारी संगीत की नींव है।

संदर्भ ग्रन्थ-सूची

1. उपाध्याय भगवत शरण, हिन्दी वसंत भाग-1, विशाल पब्लिकेशन नई दिल्ली-1 पृष्ठ- 89
2. सुधाशु लक्ष्मी नारायण, गोधूलि भाग-1
3. वसंत, संगीत विशारद, हाथरस, पृष्ठ-566
4. श्रीवास्तव हरिचन्द्र प्रसाद, राग परिचय, पृष्ठ-171
5. वर्णिका, भाग 1, पृष्ठ- 11

घरानों की पहचान का अनोखा प्रतिबिम्ब-तानें (ख्याल गायन के विशिष्ट सन्दर्भ में)

अमृता मिश्रा

भारतीय संगीत एक विशाल सागर है जिसकी स्वर लहरियों में डूबकर हर भारतीय अपने को धन्य मानता है। भारतीय संगीत स्वरों का अपार भंडार है जिसमें से कितने ही स्वर-समूह बनते हैं पर नित्य नवीनता बनी रहती है। यह विचित्रता तथा विशेषता सिर्फ भारतीय संगीत में ही निहित है इसलिए भारतीय संगीत विश्व के अन्य संगीत-प्रकारों में श्रेष्ठ है।

भारतीय संगीत के प्राचीन रूप पर दृष्टिपात् करने से ज्ञात होता है कि वैदिक काल से ही समय-समय पर संगीत परिवर्तित होता रहा है और संगीत की कलात्मक व सुन्दर शैलियाँ अपना बहुरंगी रूप दिखाती रही हैं। सामगान के समय से लेकर आज तक अनेक गायन शैलियाँ आरम्भ हुईं, विकसित हुईं और समय के परिवर्तन के साथ लुप्त भी हो गई।[1]

इसी क्रम में 18वीं शताब्दी में भारतीय संगीत के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया व ध्रुपद की प्राचीन परम्परा को लिए हुए 'ख्याल' का प्रवेश हुआ जो हिन्दुस्तानी कंठ संगीत की सर्वाधिक लोकप्रिय शैली के रूप में प्रस्तुत हुआ।

"ख्याल शैली के भावनात्मक रूप का स्पष्टीकरण तथा उसके आध्यात्मिक और मनोरंजन पक्ष की उद्देश्य प्राप्ति तभी सम्भव है जब इसके सम्पूर्ण अंग प्रत्यंगों का संतुलित व कुशल प्रयोग किया जाए। राग की अवतारणा के समय संगीत में विशिष्ट शैली के अनुरूप स्वर का लगाव, कण, खटके, मुर्की, अलंकार आदि का सही प्रयोग, उचित लय का प्रयोग, भावप्रधान आलाप, चमत्कारिक तानें राग भाव एवं बन्दिश के अनुसार ताल का सही निर्धारण करके सुनियोजित रूप में इन सबका प्रयोग करने से ही संगीत के आधारस्वरूप मूलभूत तत्व 'रस' अथवा परम आनन्द की प्राप्ति हो सकती है।"[2]

तान का विवरण देते हुए पं. भातखण्डे ने कहा है- "तानों का मुख्य प्रयोजन गायन का वैचित्र्य अधिकाधिक बढ़ाना ही है। तानें यदि योग्य रीति व योग्य प्रमाण से ली जाएँ, तो सुनने वालों को सचमुच बड़ा आनन्द आता है, जैसे कोई प्रसिद्ध वक्ता एक ही कल्पना भिन्न-भिन्न शब्दों से व भिन्न-भिन्न ध्वनियों तथा हाव-भावों से अपने श्रोताओं के सम्मुख रखकर उत्तम रीति से उनके मन पर प्रभाव डालता हुआ अपना इष्ट कार्य साधता है, उसी प्रकार उत्तम गायक भिन्न-भिन्न स्वर समुदायों से व भिन्न-भिन्न शब्द रचनाओं से अपनी चीज़ की भावना की छाप श्रोताओं के मन पर बैठाता है। मुख्य चीज़ को शोभा देने वाली तानें ली जाएं, तो बहुत ही आनन्द आता है।"[3]

राग, ताल, स्वर, लय, गीत, कविता, आलाप, तान आदि के प्रयोग से गायन में सौन्दर्यानुभूति होती है। मुख्यतः तानों के प्रयोग से गायन में आनन्द वैचित्र्य तथा चमत्कार का आविर्भाव होता है। तान का प्रयोग राग को पूर्णता देता है, जो श्रोताओं के हृदय को आश्चर्य व रंजकता में सराबोर कर देता है।

शोध छात्रा, संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

तान शब्द तन् धातु से बना है, जिसका अर्थ है तानना या विस्तार करना।

"तनोति विस्तार इत्यस्मात् धञि इति स्मृतः।
राग यैस्तन्यते प्रायः स्वरास्ते तानका मताः।।[4]
तन्न तेन्ना यदुच्यन्ते तानास्ते स्वर सांस्थिताः।
आलप्ति श्रुति व्यापकर्तीर एवते।।
ताना-नाता-नतानन्ता-तन्न-तेन्नक-तन्नकाः।
विज्ञेयास्ते क्रमात तानाः सप्त स्वरे स्वरे।।[5]

अर्थात् स्वरों में स्थित जो तन्न तेन्ना शब्द है, उसको तान कहते हैं, वे आलप्ति श्रुति संस्थान में व्याप्त होने वाले हैं। ता, ना, ना, ता, न, ता, नन्ता, तेन्न, तेन्नक, तन्नक प्रत्येक स्वर में सात तान हैं।

आधुनिक संगीत में राग के विस्तार में विविधता दिखाने के लिए तथा नई-नई स्वर रचना और संयोगों द्वारा गायन की सजावट के लिए तानों का प्रयोग करते हैं।

भारतीय संगीत में गायन, वादन और नृत्य विधाओं की परम्पराएँ अलग-अलग समय पर विविध रूपों में प्रस्फुटित होती रही है और कालान्तर में यही परम्पराएँ संगीत के विभिन्न 'घरानों के रूप में विकसित हुई।[6] भारतीय संगीत में मध्यकाल में घरानों का आविर्भाव हुआ। यह घराना भारतीय संगीत की एक महत्वपूर्ण विशिष्टता है जो संभवतः विश्व के किसी भी देश के संगीत में नही पाई जाती है।

"भारतीय संगीत पर घरानों का अमिट प्रभाव है। प्रत्येक घराने की गायन-वादन शैली कुछ विशेषताओं से पूर्ण होती हैं। ये विशेषताएँ परम्परागत नहीं हैं, अपितु किसी गायक या वादक ने इन्हे बुद्धि, कौशल, परिश्रम व रियाज़ से तैयार किया है और इन घरानों की सुरक्षा अमूल्य धरोहर की भाँति शिष्यों द्वारा की जाती रही है।"[7]

"प्रत्येक घराने अपनी विशिष्ट गायकी, आलाप, तान आदि लेते समय चंचलता, कोमलता या जोश आदि में किसी का प्राबल्य, लयकारी प्रयोग की अधिकता, तानों के विशिष्ट प्रकारों की बहुलता, स्वर, आकार व शब्दोच्चारण के लिए आवाज का कोई विशिष्ट रूप आदि होने के कारण पहचाने जाते हैं।[8]

ग्वालियर घराना सब घरानों की गंगोत्री माना जाता है। आज सारे देश में अधिकांश घराने इसी घराने से अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं, जो सही है। ध्रुपद गायन की मौलिकता को लेकर ख्याल गायन ग्वालियर घराने की गायकी का मूलभूत स्वरूप बना। पं. लक्ष्मण कृष्णराव पंडित जी के अनुसार- खुले गले में शुद्ध आकार में मँजा हुआ गला, बन्दिश का कलात्मक प्रस्तुतीकरण तथा उसके अनुसार राग का विस्तार, रागों में अनेक परम्परागत बन्दिशों का भण्डार तथा इनका अष्टांग गायकी से विस्तार, रागों की शुद्धता, गायकी में मींड और गमक का प्रामुख्य तथा गाने शुद्ध-मुद्रा, शुद्ध-वाणी का पालन-ये मुख्य तत्त्व ग्वालियर गायकी के माने जा सकते हैं।[9]

राग के विस्तार में ख्याल गायकी के अष्ट अंगो का प्रयोग किया जाता है, इसलिए इस शैली की गायकी को अष्टांग प्रधान गायकी कहा गया है। आलाप-बहलावा, बोल-आलाप, बोलतान, लयकारी के विभिन्न प्रकार, मींड, गमक तथा मुर्की खटका-जमजमा ये आठ गायकी के अंग अष्टांग गायकी के अन्तर्गत आते हैं। मींड, गमक तथा बहलावा इस गायकी के प्राण तत्व हैं। बहलावे से स्वर विस्तार किया जाता है।

बोल आलाप तथा बोलतान की एक विशिष्ट प्रणाली है। विशेषकर ग्वालियर की तानें मशहूर हैं। इसमें तानों की अद्भुत रचनाएँ और अनेकानेक प्रकार चलन में आते हैं, जैसे-सपाट तान, कूट तान, चढ़ती-उतरती तान, लड़न्त की तान इत्यादि। तानों में गमक-युक्त विलम्बित तानों के साथ-साथ द्रुत तथा अतिद्रुत तान लेने की भी प्रथा है।[10]

खाँ साहब हस्सू, हद्दू तथा नत्थू खाँ देश के उच्चतम कोटि के ख्याल गायक थे। शंकर पंडित जी के गायन में तानों का एक विशेष क्रम था। तानों के प्रकार जैसे फिरत की तान; गमक की तान, छूट की तान, खटके, जमजमा, मींड़ की तान, घसीट, लाग डाँट, लड़न्त और लड़ गुथाव आदि सभी अलंकारिक तानो का प्रयोग वे अपने गाने में करते थे। उनकी तान मानो स्वर रूपी हीरों की एक दैदीप्यमान माला होती थी। तान का प्रत्येक दाना स्वर में भरा हुआ, स्पष्ट चमकदार था। पंडित जी की तानों में ग्वालियर की प्रसिद्ध तानों का समावेश था जैसे कड़क बिजली

की तान, हाथी चिंघाड़ की तान इत्यादि वे इनके लिए हिन्दुस्तान भर में प्रसिद्ध हुए।

आगरा घराने को भी ख्याल शैली के घरानों में उच्च स्थान प्राप्त है। आगरा घराना मुख्यतः चार उस्तादों द्वारा गतिशील रहा है यथा घग्धे खुदाबख्श, शेर खाँ, फैय्याज खाँ और विलायत हुसैन खाँ। श्री बी.आर. देवधर भी इस मत से सहमत हैं।''[11] ''आगरा घराने की गायकी में ताने बिल्कुल सरल और खड़ी होती हैं व हेरफेर कम होता है। खुली आवाज में दमदार व गमक युक्त तानों का प्रयोग किया जाता है। कहते हैं आगरा गायकी में ताने सदा-चीज की बंदिश व राग स्वरूप के अनुसार बनती हैं इसलिए राग खण्डन होने की संभावना कम हो जाती है। विलायत हुसैन खाँ का कहना था कि ''नत्थन खाँ ने एक निराला ढंग आरम्भ किया वह था, अति विलम्बित लय रखकर, उसमें चौगुन, अठगुन व आड़ी लय में फिरत करके बंधी हुई तानो व बोलतानों को लेना।''[12]

ताल के विभिन्न खण्डों से तान की उपज शुरू करना भी इस घराने की प्रमुख विशेषताओं में से एक है। आगरा घराने के विभिन्न गायकों में भी तान गायन की अपनी विशेषता है। ''नत्थन खाँ साहब विलम्बित लय में भी तानों की बौछार कर सकते थे और फिर आसानी से सम पर आ सकते थे। उनकी बोलतानों का भी जवाब नहीं था और लय के मुश्किल दर्जो में बिठाकर वह इनको बड़े सुन्दर ढंग से कहते थे, जिससे श्रोतागण आनन्दित हो जाते थे। घराने के और गायकों ने ऐसी बोल-तानों का अभ्यास किया था। इस घराने के मशहूर गायक स्व. विलायत हुसैन खां भी इन बोलतानों के विशेषज्ञ थे।''[13]

''किराना घराना ख्याल गायकी का एक प्रतिष्ठित घराना है। इस घराने के मूलपुरूष सुप्रसिद्ध बीनकर बन्दे अली खां साहब ही थे। वास्तव में यह घराना सारंगी वादकों का था जिसमें पहले सारंगी का अभ्यास अधिक हुआ तत्पश्चात् गायन अंगीकार किया गया इसी कारण अब्दुल करीम खां व वहीद खां को इस घराने का संस्थापक कहा गया है।''[14]

सुर का लगाव इस घराने की प्रमुख विशेषता है। ''इस गायकी में आलाप के बाद तान ली जाती है। यह अधिकतर गमक-अंग व आलाप-अंग की होती है। कई तानें बड़ी विकट व चक्करदार होती हैं। विलम्बित लय में ख्याल-प्रस्तुत करके उसमे चैन व आराम लाना इस घराने की गायकी की विशेषता है। गायकी में कण, मिठास, आस, दानेदार व जोरदार तानें विशेष है।[15] वहीद खां जी की तानें बड़ी विकट और चक्करदार होती थीं, जिन्हें सुनकर श्रोतागण आश्चर्यचकित रह जाते थे। सवाई गन्धर्व जी अत्यन्त सुरीले गायक थे। चीज़ की बन्दिश, लय की तारतम्यता, स्वर या बोलों को कहने का ढंग और उनकी तान की झपट विलक्षण थी।[16] घराने के कुछ कलाकार फिरत व छूट की तानों के लिए जाने जाते हैं।

जयपुर घराने के जन्मदाता मनरंग जी बताए जाते हैं। उनके वंशज मुहम्मद अली खां हुए। मुहम्मद अली खां के पुत्र आशिक अली खां हुए। आगे चलकर इस घराने के दो उप घराने हो गए-

1. पटियाला घराना।
2. अल्लादिया खां घराना (अतरौली घराना)

बोलतान एवं बोल-बांट इस घराने की खास विशेषता है।

''वक्र व कूट तानों के ऊपर इस घराने के गायक बहुत ध्यान देते हैं। तानों में वक्रता तो है ही, साथ ही वह लय के अंश से हैं। जैसे पहले सवाई में फिर डेढ़ फिर चार मात्रा में फिर आठ, इस प्रकार चलती है। लय में आलाप करते-करते अलग-अलग आकृतियाँ बनती जाती है और यही आकृतियां फिर ताने बन जाती हैं। तानें बहुत पेंचदार होती है और एक के बाद दूसरी इस प्रकार से आती जाती हैं कि एक झड़ी सी लग जाती है।''[17]

''ख्याल गायकी का दिल्ली घराना एक प्राचीन 'घराना' रहा है। इस घराने की तानें बड़ी साफ तैयार और सुरीली होती है।''[18] इस घराने में विविध प्रकार की तानें लेते समय सही आकार का प्रयोग तथा अन्य अवगुणों से बचाव की ओर मुख्य रूप से ध्यान दिया जाता है। बन्दिशें कलात्मक तथा उसमें स्वरों का सुन्दर मेल होता है। संगीत जगत में तानों की विविधता और वैचित्र्य के लिए इस घराने का विशेष स्थान है।[19]

इस घराने की तानें कठिन, जटिल व पेंचवाली होती हैं। तानों की विविधता और वैचित्र्य के लिए इस घराने को अन्य सभी घरानों से पृथक कर देती हैं।

"दिल्ली घराने की विलम्बित तानें भारी व गमक युक्त होती हैं पर मुखड़ा आने के पूर्व "महीन-सपाट" तान की तिहाई लेकर सम दिखाने की, इस घराने की पूर्व प्रथा है। इन तानों के बीच-बीच में भी कभी-कभी सरगमों के प्रयोग करने की प्रथा है व सम आने से पूर्व सरगम की छोटी-छोटी तिहाईयाँ लेकर सम पकड़ने की कला, इस घराने का प्रमुख अन्दाज़ रखती हैं।

प्रसिद्ध सरोद वादक, श्री बुद्धदेव दास गुप्ता के अनुसार "अति द्रुत लय में तानों का प्रचलन दिल्ली घराने के कलाकारों द्वारा ही हुआ। भारतीय शास्त्रीय संगीत जगत में तानों की जटिलता, विविधता व वैचित्र्य के लिए दिल्ली घराने का एक विशेष स्थान है जिसकी शिक्षा इस घराने में विधिवत ढंग से दी जाती है।[20]

प्रसिद्ध गायक उस्ताद अमीर खां साहब के अनुसार-इस घराने के उ.स्व. नसीर अहमद खां साहब की तानें सुनकर, अक्सर विख्यात गायक उ. अमीर खां साहब कहा करते थे कि - "अगर किसी को तानें सुननी हो तो दिल्ली के नसीर अहमद खां से ही सुनें।"[21]

इस घराने में तानों को विशिष्ट व विचित्र नामों से जाना जाता है, जिनके नामों की संख्या को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा रहा है,"

दिल्ली घराने में ली जाने वाली तानों के प्रकार

1. दांव पेंच तान
2. सवाल-जवाब तान
3. फंदे की तान
4. उड़ान की तान
5. उछाल की तान
6. उखाड़ की तान
7. खेंच की तान
8. झूले-हिंडोले की तान
9. कुल्फीदार तान
10. शेर दहाड़ तान
11. सपाट की तान
12. उचुक की तान
13. अरबीर तान
14. अखीर तान
15. ऐंच की तान
16. उलझाव की तान
17. उतराव की तान
18. अड़ंगे की तान
19. बंद तान
20. बिजली कड़क तान
21. बादल गरज तान
22. बलदार तान
23. बनाव तान
24. भंडारे की तान
25. फैलाव की तान
26. बढाऊ तान
27. बहाव तान
28. बोल तान
29. पहाड़ तान
30. फेंक तान
31. पेंचदार तान
32. फुलझड़ी तान
33. परछांव की तान
34. फिरकी की तान
35. फलांग की तान
36. तिपल्ली की तान
37. तिगुन की तान
38. तीन सप्तक की तान
39. तलवार काट तान
40. ठहराव की तान
41. सलामी तान
42. झुलाव की तान
43. झपक की तान
44. झपट की तान
45. झटका तान
46. झकोला तान
47. झलक की तान
48. चक्करदार तान
49. चमकदार तान
50. चुनाव तान
51. चुनाचुनी तान
52. चकाचौंध तान
53. चौपल्ली तान
54. छूट की तान
55. लहक की तान
56. हलक तान
57. खुशनुमा की तान
58. धक्का की तान
59. धोखा की तान
60. धकेल की तान
61. दुहरी की तान
62. दमकती तान
63. दमदार तान
64. दिलकश तान
65. रपटती तान
66. सूत-मीड़ की तान
67. खनक की तान
68. सुनहरी तान
69. जमजमा तान
70. घुमाऊँ-तान
71. गिराऊ तान
72. गद्दे धमाके की तान
73. गौरख-धंधे की तान
74. गमक तान
75. गिरह-गुलझट्टी तान
76. खटका तान
77. खटकदार तान
78. खड़क तान
79. खुलाव तान
80. कड़क तान
81. मढ़ाऊँ तान
82. श्रृंगार तान
83. लोचदार तान
84. लचाव-घुलाव तान
85. लचकदार तान
86. लडन्त की तान
87. मरोड़ की तान
88. मुरक की तान
89. गोता तान
90. दिलफरेब तान
91. रदीफ काफ़िया तान
92. दुगुन की तान
93. खला की तान
94. हाथी-चिंघाड तान[22]

रामपुर सहसवान घराने ने भी संगीत जगत में अपना विशेष स्थान ग्रहण किया है। इनायत खां ने रामपुर में रामपुर-सहसवान घराने को अलंकृत किया। रामपुर घराने में ख्याल गायकी आठ भागों में बंटी हुई है। आकार में तान व बोल तान ली जाती है। तानों का वर्ण क्रम बढ़ता चला जाता है, पहले छोटी-छोटी तानें, फिर लम्बी व अन्त में अति लम्बी जो कि तीनों सप्तकों में गाई जाती हैं, यह इस घराने की विशिष्टता है और यह विशेष अभ्यास से ही प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न घरानो में तानों के प्रस्तुतीकरण का अपना अलग ही ढंग है जो उस घराने की गायन की विशिष्टता को बढ़ाकर उसका सौन्दर्यीकरण करते हैं, परन्तु तान का प्रयोग उचित मात्रा में ही होना चाहिए, जिससे केवल कलाकारिता ही नहीं, सौन्दर्य बोध में भी वह सहायक सिद्ध हो सकें।

संदर्भ

1. Ranade G.H. -Hindustani Music Page- 141
2. सक्सेना, डॉ0 मधुबाला ख्याल शैली का विकास, पृ.-91, विशाल पब्लिकेशन, जयपुर।
3. गर्ग डॉ. उमा, निबंध संगीत, लेख-रस-सृष्टि में 'आलाप' और तान की भूमिका, संगीत कार्यालय हाथरस पृ.-276
4. शर्मा डा. स्वाति, भारतीय संगीत का इतिहास (मूलतत्व एवं सिद्धान्त) आस्था प्रकाशन जयपुर पृ.-92
5. वही
6. मिश्र पं. छोटे लाल, ताल प्रसून , कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली पृ.-6
7. जौहरी डॉ. सीमा, भारतीय संगीत, यूनिवर्सिटी बुक हाउस, जयपुर पृ.-29
8. सक्सेना डॉ. मधुबाला, ख्याल शैली का विकास, विशाल पब्लिकेशन जयपुर पृ.-152
9. ग्वालियर घराना सम्मेलन, ग्वालियर (1992) के सेमिनार में पं.एल. के पंडित जी द्वारा प्रस्तुत शोध प्रपत्र
10. पंडित तुषार, भारतीय संगीत के महान संगीतकार : शंकर पंडित, कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली पृ.-4
11. पुरी डॉ. मृदुला, संगीत मीमांसा, सत्यम् पब्लिशिंग हाउस पृ.-195
12. खुराना डॉ. शन्नो- ख्याल गायकी के विविध घराने-41
13. चौबे डॉ. सुशील कुमार, संगीत के घरानों की चर्चा उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ पृष्ठ-99
14. पुरी डॉ. मृदुला, संगीत मीमांसा, सत्यम् पब्लिशिंग हाऊस पृ. 201
15. खुराना डॉ. शन्नो, ख्याल गायकी के विविध घराने, पृ. 55
16. कपूर डॉ. त्रप्त - उत्तर भारत में संगीत शिक्षा, पृष्ठ 61
17. खुराना डॉ. शन्नो, ख्याल गायकी में विविध घराने, पृष्ठ-29
18. कपूर डॉ. तृप्त उत्तर भारत में संगीत शिक्षा पृष्ठ-58
19. पुरी डॉ. मृदुला - संगीत-मीमांसा सत्यम पब्लिशिंग हाऊस पृष्ठ 197
20. उ. अमीर खां के शिष्य "पं. अमरनाथ जी" से प्राप्त तथ्यानुसार
21. प्रसिद्ध सरोद वादक श्री बुद्धदेव दास गुप्ता से मौखिक जानकारी के आधार पर
22. दिल्ली घराने में प्रयोग की जाने वाली विभिन्न प्रकार की समस्त तानों की लिखित जानकारी व मौखिक उस्ताव चाँद खां साहब द्वारा लिखित डायरी से, व उनके छोटे भाई उस्ताद उस्मान खाँ व धेवते उस्ताद इकबाल अहमद खाँ (खलीफा दिल्ली घराना) से प्राप्त हुई।

नाट्यशास्त्र में ध्रुवा

निधि श्रीवास्तव

आचार्य भरतमुनि ने नाट्य तथा संगीत के मूलग्रंथ नाट्यशास्त्र की रचना पांचवी शताब्दी में की। जिसे पंचम वेद भी माना गया है। इस बृहद् ग्रंथ में आचार्य ने 28 से 33वें अध्याय में संगीत पर विस्तार से चर्चा की है। आचार्य भरतमुनि ने 32वें अध्याय में ध्रुवाविधान विषय पर चर्चा की है।

गीत रचना की दृष्टि से ध्रुवा का महत्वपूर्ण स्थान है। नाट्य के अंग के रूप में प्रयुक्त संगीत में तो यह प्राणस्वरूपा है। नाट्य की कथा शुरू होने से पहले पूर्वरंग में प्रयुक्त बर्हिगीतों में भी शुष्काक्षर युक्त ध्रुवाएँ वाद्य प्रयोग का उपरंजन करने के कारण विशेष महत्व रखती है।

ध्रुवा का स्वरूप : -

मूलतः नाट्य की विभिन्न परिस्थितियों में रसानुभूति कराकर उन परिस्थितियों को तीव्र बनाने तथा पात्रों के चरित्र को उभारने के लिए जिन छन्दोबद्ध गीतों का प्रयोग नाट्य के भीतर किया जाता है वे ध्रुवा कहलाती है। गीतकों के विभिन्न अंगों का इनके प्रयोग होने के कारण ये गीतकों से भी सम्बद्व है। इस प्रकार ध्रुवा का सम्बन्ध छन्द, ताल व गीत इन तीनों से है।

ध्रुव आदि पात, वर्ण, अलंकार, यति, ग्रह, लय आदि को अन्योन्य अर्थात ध्रुव रूप से पद ही बाँधकर रखता है इसलिए जिस रचना में ये सब ध्रुव रूप से बँधे रहते है वह ध्रुवा कहलाती है।

ध्रुवा गीत गान का वो प्रकार है जो रस भाव के परिपोषक हैं इसे नाट्य के मुख्य पात्रों द्वारा नाटक को रंजकता और आकर्षण प्रदान करने के लिए प्रस्तुत किया गया।

ध्रुवा के मुख्य अवयव के रूप में स्वर-ताल-पद की मान्यता है। जिसमें पद पक्ष सर्वाधिक महत्वपूर्ण मान्य है। ध्रुवागान में अर्थपूर्ण गीतों का विशेष प्रयोग है। इसलिए इसमें अलंकारो का विशेष प्रयोग नहीं होता है। ध्रुवा में पात्र द्वारा गाये जाने वाले गीतों की भाषा संस्कृत में अधिक है इसके अतिरिक्त प्राकृत में भी ध्रुवागान गाने की परिपाटी रही है।

गीतकों के अंगो को लेकर गेयपद विविध छन्दों में बाँध दिए गए और इस तरह ध्रुवत्व को प्राप्त हुए इसलिए इन्हें ध्रुवा कहा गया।

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार गीतांग (स्वर सम्बन्धी अंग), सप्तरूपांग (गीतकों के विभिन्न अंग) और सप्तरूप प्रमाण (गीतकों के तालखण्ड) की संज्ञा ध्रुवा है और वे ऋक् गाथादि की मूल प्रकृति है-

गीताग्ङसप्तमरूपमाग्ङसप्तरूप प्रमाणस्य ध्रुवेति संज्ञा।
ऋग्गाथापाणिकानां च ध्रुवा हि मूल प्रकृति रूच्चयेते।

गान अर्थात ध्रुवा में समर्थक पद होने के कारण पद प्रधान है और स्वरताल उसके उपरंजक या पूरक हैं क्योंकि पद द्वारा हाने वाली अभिव्यक्ति में स्वर व ताल सहायक होते है। गान्धर्व को गीतक का व गान को ध्रुवा का पर्याय माना है। ध्रुवागान के लिए जाति, स्थान, प्रकार, प्रमाण, नाम- ये पाँच तत्व अति आवश्यक तत्व के रूप में नाट्यशास्त्र में अभिहित किए गए हैं।

शोध छात्रा, संगीतशास्त्र विभाग संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

पंचविध ध्रुवा के प्रकार-

ध्रुवा के प्रयोग पात्रों के प्रवेश, निष्क्रमण (रंगमंच से जाने) रसान्तर के आक्षेप (अचानक परिवर्तन या सूचना) प्रविष्ट पात्र की चित्रवृत्ति को प्रकट करने, दोषों को ढ़कने और पात्रों की गति आदि पाँच प्रकार की विशेष स्थितियों में होता है। इन पाँच स्थितियों के अनुसार ध्रुवा पाँच प्रकार का होता है -

प्रावेशिकी तु प्रथमा द्वितीयाश्क्षेपिकी स्मृता।
प्रासादिकी तृतीया च चतुर्थी चान्तरा ध्रुवा।।
निष्क्रामिकी च विज्ञेया पंचमी वृत्तकर्मणि।

- ना. शा. 32/27

1. प्रावेशिकी, 2. आक्षेपिकी, 3. प्रासादिकी 4. अन्तरा 5. निष्क्रामिकी।

1. प्रावेशिकी ध्रुवा : -

पात्रों के प्रवेश के समय उनकी प्रकृति, चित्त की अवस्था, भाव आदि का सूचक प्रवेशगान होता है-

"पात्रस्य प्रवेशे भावप्रकृत्यवस्थानादि सूचकं यद्गीयते तत्प्रवेशगानम्।"

प्रवेशगान से युक्त ध्रुवा प्रावेशिकी कहलाती है कई अर्थो और रसों से युक्त ध्रुवा जो पात्रों के प्रवेश के समय गाई जाती है वह प्रावेशिकी है।

2. आक्षेपिकी :-

जिस क्रम में नाटक की कथावस्तु प्रवाहित हो रही हो उसके स्थान पर दूसरे रसभाव आगमन का आक्षेप स्वरूप आक्षेपिकी ध्रुवा गान गाया जाता है।

इसके दो भेद हैं - 1. द्रुता 2. विलम्बिता

दिप्त का प्रसंग हो तो द्रुता व शमन का प्रसंग हो तो विलम्बिता का प्रयोग होता है।

3. प्रासादिकी :-

रंग मंच में अभिनय प्रस्तुतिकरण के समय जिस भाव प्रधान मनोदशा को अभिनेता प्रस्तुत करता है उसके साथ श्रोता या दर्शक की चित्तवृत्ति को समस्तर में लाने के लिए जो कुछ भी गाता है वही प्रासादिकी ध्रुवा है।

4. अन्तरा : -

इसके अन्तर्गत शारीरिक व्यसन या रोष का कारण जब नट रंग मंच से चला जाय तब उसके स्थान पर अन्य नट की योजना करने के लिए समय के इस अन्तर को भरने हेतु द्रुत लय में अन्तरा ध्रुवा का प्रयोग होता है।

5. निष्क्रामिकी : -

रंग समूह से बाहर जाने वाली स्थिति में गेयगान निष्क्रामिकी ध्रुवा कहलाती है। अभिनेता मंच त्याग करने के पूर्व अथवा विविध अंको में रंगशाला से निकलते समय संदर्भित भाव प्रकाशन हेतु जो कुछ भी गाता है वही निष्क्रामिकी ध्रुवगान है।

पंचविध ध्रुवा के भेद : -

ये पाँचों प्रकार की ध्रुवाएँ पुनः छः प्रकार से प्रकार से विभाजित है। पंचविध ध्रुवाओं के छः भेद इस प्रकार हैं -

1. शीर्षका 2. उद्धता 3. अनुबद्धा 4. विलम्बिता 5. अड्डिता 6. अपकृष्टा

शीर्षका चोद्धता चैव हय त्यनुबद्ध विलम्बिता।
अड्डिता चापकृष्टा चषट्प्रकारा ध्रुवा स्मृता।।

- ना. शा. 32/329

1. शीर्षका : - यह उत्तम प्रकृति में प्रवृत्त होती है इसलिए शीर्षका कहलाती है।

2. उद्धता : - शीर्षका व उद्धता का प्रयोग देवता, राजा आदि उत्तम प्रकृति में ही होता है।

3. अनुबद्धा : - यह ध्रुवा पद, वर्ण, यति, लय तथा वाद्य प्रयोग आदि को बाँध कर रखती है इसलिए अनुबद्धता ध्रुवा कहलाती है।

4. विलम्बिता : -

इसे आचार्य भरत ने स्थिता, विलम्बिता, द्रुतविलम्बिता आदि संज्ञाओं से अभिहित किया है। नाट्य में द्रुत और विलम्बित संचारों से नाट्यधर्म का अनुसरण करनेवाली द्रुतविलम्बिता कही गई है।

5. अड्डिता : -

जिसमें श्रृंगार रस रहता है, जो उत्कट गुणों से युक्त होती है और चित्तवृत्ति जिसके द्वारा प्रकृष्ट रूप से व्यक्त होती है वह अड्डिता है।

6. अवकृष्टा अथवा अपकृष्टा : -

अड्डिता के बिल्कुल विपरीत अवकृष्टा ध्रुवा होती है क्योंकि अड्डिता श्रृंगार प्रधान है और अवकृष्टा करूण प्रधान। करूण भावों में आकर्षण (नीचे की ओर जाना) होता है इसलिए वह अवकृष्टा कहलाती है।

द्रुता : -उपर्युक्त छः भेदों में द्रुता का नाम नहीं है लेकिन भरत ने अनेक स्थानों पर द्रुता का प्रयोग किया है। विलम्बित गति वाली "विलम्बिता" के विपरीत द्रुतलय वाली ध्रुवा "द्रुता" कही गयी है। जिन ध्रुवा वृत्तों के लक्षण उदाहरण भरत ने दिए उन्हें इन्हीं दो वर्गो में बाँटा है।

ध्रुवा का महत्व : -

नाट्य के अन्तर्गत ध्रुवा का वही स्थान रहा है जो चित्रो में वर्ण का। जैसे रंग के बिना चित्र की शोभा नहीं होती उसी प्रकार गान के बिना नाट्य रंजक नहीं होता। शब्द के द्वारा जो अर्थ व्यक्त नहीं किया जा सकता उसका पूरण गीत (ध्रुवगान) से यानि स्वरताल योजना के द्वारा किया जाता है -

"यानि वक्यैस्तु न ब्रुयात् तानि गीतैरूदाहरेत्।"

- ना. शा. 32/35

वैदिक परम्परा में यज्ञादि व सामगान होता था उसी प्रकार आगम परम्परा में पूजा की गान परम्परा रही होगी। आगे चलकर इन्हीं में से कुछ अंग लेकर विशेष परिवर्तन के साथ नाट्य के अन्तर्गत "गीत" प्रयोग होने लगा जिन्हें ध्रुवा कहा गया।

गीतक की अपेक्षा ध्रुवा में यही विशेषता है कि वह रसभावकृत औचित्य की समर्पिका और रंजन के उत्कर्ष से युक्त होती है।

ऐसी कोई ध्रुवा नहीं जिसमें गीतक का कोई अंग न हो। इसीलिए ध्रुवाओं में गीतकों के अंगों विनियोग बताकर अन्त में कहा कि पाँचों ध्रुवाओं में "नित्यश" इन अंगों की योजना होती है।

ध्रुवा के "वृत्त" अक्षरों की लघुगुरू योजना के आधार पर बनते है तथा अक्षर योजना के आधार पर द्रुतादि लय योजना होती है इस प्रकार अक्षर, अक्षर योजना, पद लय, गुरू, लघु पात आदि ये सभी परस्पर सम्बद्ध है।

संदर्भ ग्रंथ-

1 चौधरी डॉ0 सुभद्रा, भारतीय संगीत में निबद्ध गान, राधा पब्लिकेशन नई दिल्ली।

2 आचार्य बृहस्पति, ध्रुवपद और उसका विकास, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना 800004

प्रबंध की व्युत्पत्ति, अर्थ एवं उसके लक्षण

आरती वाही

प्रबन्ध शब्द की व्युत्पत्ति- प्रबन्ध की व्युत्पत्ति प्र उपसर्ग + बन्ध धातु + घञ् प्रत्यय लगाने से हुई है। इस उपसर्ग व प्रत्यय से संलिष्ट शब्द का समास गत विश्लेषण किया जाये तो उसके स्वरूप की सार्थकता को इस प्रकार अभिव्यक्त करेगा। प्र+बन्ध+घञ् से प्रबन्ध शब्द बनता है। जिसका अर्थ हैं "प्रकृष्टोबंधः" अर्थात् प्रकृष्ट रूप से बन्ध या बद्ध।

प्रबन्ध का अर्थ- प्रबन्ध का प्रयोग सामान्य भाषा में अनेक सन्दर्भ में होता है। जैसे- गठरी बाँधना, सूत्र में बाँधना, या खूटे से बाँधना आदि।

प्रस्ताव के अर्थ में एक प्रकार का छोटा लेख जो विद्यार्थी, अपनी लेखन शक्ति और विवेचन बुद्धि बढ़ाने के लिए अभ्यास के रूप में लिखते हैं। **"प्रबन्ध"** कहलाता है।

शाब्दिक अर्थ में योजना, वाक्य रचना, विस्तार, प्रवचन, व्यवस्थापन, अविच्छिन्न श्रेणी या परम्परा प्रबन्ध के पर्याय हैं।

संस्कृत भाषा में प्रबन्ध का अर्थ संविधा, उपायः आयोजनं, युक्तिः, प्रवर्तनः, निर्वहण, प्रयोगः, अधिष्ठानं, महाकाव्यं इत्यादि।

राजस्थानी भाषा में प्रबन्ध का अर्थ व्यवस्था, आयोजन, इन्तजाम, बँधा हुआ सिलसिला, पद्य संग्रह और अध्याय है।

मराठी भाषा में प्रबन्ध से अभिप्राय गाने हेतु एक चीज, काव्य, निबन्ध एवं छन्दोबद्ध रचना से है।

अंग्रेजी भाषा में प्रबन्ध को बाँड, अनइन्टरप्टेडनैस, कन्टिनुएन्स, कन्टिनुइटी, अन्इन्टरप्टेड् सीरीज और सक्सैशन मैनमेन्ट, डिसर्टेशन, अ म्युजिकल कम्पोजीशन इत्यादि प्रबन्ध के अर्थ में आते हैं। इस प्रकार विभिन्न शब्द कोषों में समक्ष प्रस्तुत होता है कि सभी अर्थों में प्रबन्ध से अभिप्राय एक निश्चित क्रमबद्धता, विविध तत्वों को एक सूत्र में पिरोना है।

प्रबन्ध का सांगीतिक अर्थ-

उपर्युक्त विभिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त होने वाले प्रबन्ध शब्द में जिस प्रकार सीमा में बंधे होने का अर्थ अन्वित हैं। उसी प्रकार संगीत में प्रयुक्त होने वाले प्रबन्ध शब्द में भी सीमा में बँधे होने का अर्थ निहित हैं। क्योंकि यहाँ भी धातुएँ, अंगों की सीमा में बंधकर जो स्वरूप बनता है वह प्रबन्ध कहलाता है।

संगीत में प्रबन्ध का अर्थ दो रूपों में ग्रहण किया गया है (1) सामान्य (2) विशिष्ट। सामान्य अर्थ में प्रबन्ध से अभिप्राय एक सम्पूर्ण संरचना हेतु विभिन्न सांगीतिक तत्वों के गठन से हैं। विशिष्ट अर्थ में "प्रकृष्टोबन्ध" अर्थात् 'प्रकृष्टो यस्य बन्ध स्यात् स प्रबन्धो निगद्यते" तात्पर्य यह है कि प्रकृष्ट रूप से बद्ध किसी भी संरचना को प्रबन्ध कहा जाता है।

इस प्रकार प्रबन्ध का सामान्य अर्थ बाँधना है एवं साहित्यिक अर्थ में विशिष्ट काव्य तथा सांगीतिक तत्वों पर आधारित सांगीतिक संरचना है।

भारतीय संगीत में त्रिविध तत्वों पर आधारित कोई भी गायकी प्रबन्ध गायकी कहलाती है।

शोध छात्रा, संगीतशास्त्र विभाग संगीत एवं मंचकला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रबन्ध से अभिप्राय सुनियोजित गीत या गाने से है। गीत में 3 तत्त्व हैं स्वर, पद और ताल। गीत के 2 भेद है- गान्धर्व और गान।

गान्धर्व- जो नियत रूप वाला, श्रेष्ठकारी, गन्धर्वो द्वारा रचित तथा जिसका प्रयोग देवताओं के परितोष के लिये किया जाता है।

गान- जिस संगीत का उद्देश्य मनोरंजन है तथा जो किसी आधुनिक वाग्गेयकार द्वारा रचित, लक्षणों से युक्त हो उसे गान कहते हैं। गान के 2 भेद हैं- निबद्ध और अनिबद्ध।

निबद्ध और अनिबद्ध संज्ञाओं का प्रयोग नाट्यशास्त्र, बृहद्देशी और संगीत रत्नाकर इन तीनों ही ग्रन्थों में हुआ है। लेकिन इन तीनों में इनकी व्यापकता और सन्दर्भ में कुछ भिन्नता है।

भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में छन्दोमय, तालबद्ध और सार्थक ध्रुवागीत को सर्वप्रथम निबद्ध की संज्ञा दी।

मतंगमुनि ने बृहद्देशी में निबद्ध और अनिबद्ध संज्ञाओं का प्रयोग मार्ग तथा देशी संगीत के लिये अर्थात् नियमबद्ध व नियमरहित अर्थ में भी स्वीकार करते हैं।

पं. शारंगदेव ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'संगीत रत्नाकर' में निबद्ध और अनिबद्ध संज्ञाओं का प्रयोग किया हैं। पं. शारंगदेव के अनुसार अंग एवं धातुओं से बद्ध रचना निबद्ध तथा अंग एवं धातुओं से रहित गेय रचना अनिबद्ध की श्रेणी में आती हैं।

वैदिक सामगान, भरतकालीन सप्तगीत प्रकार, छन्दक, आसारित, वर्धमानक, पाणिका, ऋचा, गाथा तथा ध्रुवा, शारंगदेव के ग्राम राग, उपराग आदि लक्षणों से युक्त गीत प्रकार इन सभी को निबद्ध के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है।

निबद्ध की तीन संज्ञायें है प्रबन्ध, वस्तु, रूपक। 'संगीत रत्नाकर' में पं. शारंगदेव ने निबद्ध गान को प्रबन्ध का पर्याय माना है। चार धातुयें (उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव, आभोग) एवं 6 अंगों (स्वर, विरूद, पद, तेन, पाट, ताल) से जो बद्ध होता है। उसे प्रबन्ध कहते हैं। प्रबन्ध का निरूपण सर्वप्रथम मतंग कृत 'बृहद्देशी' में है। उसके पश्चात् सोमेश्वर कृत 'मानसोल्लास', सुधाकलश कृत 'संगीतोपनिषत्सारोद्धार', पार्श्वदेव कृत 'संगीत समयसार', शारंगदेव कृत 'संगीत रत्नाकर', पंडित व्यंकटमखीकृत 'चतुर्दण्डीप्रकाशिका', पंडित मंडलिकृत 'संगीत शिरोमणि', महाराणा कुंभा कृत 'संगीत राज', शुभंकर कृत 'संगीत दामोदर', कृष्णदास बड़े कृत 'गीत प्रकाश', हरिनायक कृत 'संगीतसार', श्रीकण्ठ कृत 'रस कौमुदी', रघुनाथ भूप कृत 'संगीत सुधा', लक्ष्मी नारायण कृत 'संगीत सूर्योदय', तुलजेन्द्र कृत 'संगीत सारमृत', भावभव कृत 'अनूप संगीत रत्नाकर' तथा 'अनूप संगीत विलास' तथा गजपति नारायणदेव कृत 'संगीत नारायण' आदि ग्रन्थों में प्रबन्ध का निरूपण प्राप्त होता है।

प्रबन्ध के लक्षण

धातु

'धातु' शब्द की संरचना धा धातु में 'तुन्' प्रत्यय लगाने से हुई है, जिसका अर्थ, एक भाग या घटक होता है। शास्त्रकारों द्वारा धातु शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया गया है। यथा किसी भी संरचना के गेय पक्ष को धातु कहा जाता है। वीणादि वाद्यों पर प्रहार करने से उत्पन्न ध्वनियों को भी धातु कहते हैं। पद तथा ताल के समन्वय से धातु की उत्पत्ति होती है। किसी गीति या गीत में एक सांगीतिक भाग या अंश को 'धातु' कहते हैं। प्रबन्ध का अवयव धातु हैं। वस्तुतः धातु शब्द का प्रयोग आयुर्वेद शास्त्र में किया गया हैं। इस शास्त्र के अनुसार शरीर में तीन धातुयें मानी गई हैं। वात, कफ,व पित्त। शरीर को धारण करने वाले ये तीन तत्व अत्यन्त सूक्ष्मतम तत्त्व है, जो दिखाई नहीं देते जिस प्रकार ये धातुयें मानव शरीर में विद्यमान रहती हैं, उसी प्रकार धातुओं की धारणा प्रबन्ध में होती है।

''वातपित्तकफा देहींारणाद्धातवो यथा।
एवमेते प्रबन्धस्य धातवो देहींारणात्।।

प्रबन्ध के चार धातुयें :-

1. उद्ग्राह- यह प्रबन्ध का पहला धातु है। 'उद्ग्राह' का अर्थ शुरूआत या प्रारम्भ होता है।

2. मेलापक- 'मेलापक' का अर्थ है मिलाने वाला। ये दूसरे स्थान पर आता है। ये धातु ध्रुव और उद्ग्राह के मध्य आता है तथा दो धातुओं को मेल कराने के उद्देश्य से मेलापक कहलाता है।

3. ध्रुव- ध्रुव का अर्थ है 'अटल' अथवा 'स्थिर'। प्रबन्ध में जिस धातु का बार-बार प्रयोग किया जाये उसे 'ध्रुव' कहते हैं। ध्रुव धातु कभी भी किसी भी प्रबन्ध में वर्जित नहीं हो सकता। उद्ग्राह और मेलापक के बाद 'ध्रुव' की पुनरावृत्ति की जाती थी।

4. आभोग- गीत के अन्तिम भाग को 'आभोग' कहा जाता है। आभोग का अर्थ है परिपूर्णतः या पूरा करना। इसमें प्रबन्धकर्ता या नायक का नाम आता है।

इसके अतिरिक्त एक अन्य धातु 'अन्तरा' का प्रयोग 'संगीतरत्नाकर' में 'सूड' प्रबन्ध के अन्तर्गत किया गया है जो ध्रुव और आभोग के बीच में प्रयोग होता है। 'संगीतराज' में भी 5 धातु के प्रयोग का उल्लेख किया गया है। जिसमें 'अन्तरा' धातु का उल्लेख है किन्तु अन्य सभी परवर्ती आचार्यों ने चार धातुओं का ही उल्लेख किया है।

प्रबंध के अंग

जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में हाथ, पैर, आँख आदि अंग होते हैं। उसी प्रकार प्रबन्ध के 6 अंग कहे गये हैं। स्वर, विरूद, पद, तेन, पाट और ताल। इन अंगों में 2-2 के जोड़े बनाये गये हैं। तेन और पद, पाट और विरूद, स्वर और ताल। ये तीनों जोड़ें क्रमशः नेत्र, हाथ और पद स्थानीय है।

जैसे- नेत्र स्वरूप को प्रकाशित करने वाले हैं। उसी प्रकार प्रबन्ध के स्वरूप के प्रकाशक तेन और पद हैं। हाथों से उद्भव और दान की क्रिया होती है। उसी प्रकार पाटों का उद्भव हाथ से होता है। विरूद में यशदान क्रिया हाथों से सम्पन्न मानकर प्रबन्ध में इन्हें हाथ कहा। जैसे-शरीर को गति प्रदान करने वाले पैर हैं ठीक उसी प्रकार प्रबन्ध को गति प्रदान करने वाले अंग स्वर और ताल हैं।

प्रबन्ध के छः अंग का वर्णन इस प्रकार है।

1. स्वर- स्वर का अर्थ स्पष्ट ही है। सा, रे, ग, म, प, ध, नि स्वर कहलाते हैं। स्वर के बिना कोई बन्दिश नहीं हो सकती। इसलिए प्रबन्ध में स्वर प्रधान है।

2. विरूद- विरूद शब्द संस्कृत 'विरूद' का अपभ्रंश रूप है। विरूद अथवा बिरूद प्रशंसा सूचक विश्लेषण पद है। इसमें किसी बलवान नायक की वीरता का वर्णन किया जाता है।

3. पद- 'ततोऽन्यद्वाचकंपदम्' विरूदों के भिन्न वाचक शब्द पद के अन्तर्गत आते हैं। व्यापक अर्थ में स्वर ताल के अतिरिक्त गीत के जो बोल होते हैं। वे 'पद' कहलाते हैं।

4. तेन्- प्रबन्ध में मंगलसूचक शब्दों का प्रयोग 'तेन' कहलाता हैं। तेन मंगलवाचक है।

5. पाट- ताल वाद्यों से उत्पन्न होने वाले वर्ण समूह को पाटाक्षर कहा जाता है। मुख्य रूप से अवनद्ध वाद्यों के अक्षर 'पाट' कहलाते हैं।

6. ताल- ताल संगीत की संगति में प्रयुक्त किया जाता है। प्रबन्ध में ताल का विशेष महत्व है। ताल समस्त प्रबन्धों में विद्यमान रहता है। स्वर के समान ताल भी प्रबन्ध का अभिन्न अंग है।

प्रबन्ध की जातियाँ :-

अंगों की संख्या के अनुसर प्रबंधों की पाँच जातियाँ मानी गयी है।

1. मेदिनी- 6 अंग वाली जाति को 'मेदिनी' या 'श्रुति' कहते हैं। श्रुति को 'वेद' भी कहा जाता हैं। 'श्रुति' या 'वेद' के भी 7 अंग माने गये हैं।

(1) शिक्षा (2) व्याकरण (3) छन्द (4) ज्योतिष (5) कल्प (6) निरूक्त

2. आनन्दिनी- 5 अंगों वाली जाति को 'आनन्दिनी' या 'नीति' कहा जाता है। नीति के 5 प्रकार कहे गये हैं।

(1) भेद (2) परीक्षा (3) विश्वास (4) वचन (5) मित्रकार्य

3. दीपनी- 4 अंगों वाली जाति को 'दीपनी' कहा जाता है। जिसका दूसरा नाम 'सेना' भी है। सेना के 4 अंग होते हैं। 1. हाथी, 2. घोड़ा, 3. रथ, 4. पैदल।

4. भावनी- 3 अंग वाली जाति को 'भावनी' कहा जाता है। जिसका दूसरा नाम 'कविता' भी है। कविता के 3 अंग कहे गये हैं।

(1) शक्ति (2) व्युत्पत्ति (3) अभ्यास।

5. तारावली- 2 अंगों वाले प्रबन्ध को 'तारावली' कहा जाता है। जिसका दूसरा नाम 'चम्पू' हैं।

चम्पू के दो अंग होते हैं। (1) गद्य (2) पद्य।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. चौधरी सुभद्रा, भारतीय संगीत में 'निबद्ध' (ताल, गीतक, प्रबन्ध, छन्द और ध्रुवा का लक्षण-लक्ष्यमूलक अध्ययन), राधा पब्लिकेशन्स नई दिल्ली-110002 द्वितीय संस्करण-2004।
2. बहुगुणा डॉ०. स्मिता, भारतीय संगीत में प्रबन्ध की अवधारणा, अभिषेक पब्लिकेशन्स चण्डीगढ़, संस्करण-2005।
3. विजयलक्ष्मी डॉ०. एम., संगीत निबन्धमाला, संजय प्रकाशन दिल्ली (भारत), संस्करण-2006
4. शर्मा डॉ०. स्वतन्त्र, पाश्चात्य, स्वरलिपि पद्धति एवं भारतीय संगीत, मुद्रक- मोहन प्रिन्टर्स, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण-1989

संगीत में ताल की उपादेयता

डॉ. संजीव भण्डारी

संगीत नादात्मक तथा ध्वन्यात्मक है। संगीत का आधार नाद है। नाद का मुख्य उद्गम कण्ठ है, जिसका आस्वादन कर्णेन्द्रिय के माध्यम द्वारा होता है। अतः यह स्पष्ट है कि संगीतकला का संवाहक नाद है। सम्पूर्ण ब्रहमाण्ड नादमय है। नाद से वर्ण, वर्ण से शब्द-शब्द से वाक्य तथा वाक्यों से भाषा की उत्पति होती है। भाषा से संपूर्ण सृष्टि का व्यवहार चलता है अर्थात् समस्त सृष्टि ही नाद के अधीन है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी ध्वनि अंदोलनों द्वारा संगीत की उत्पत्ति होती है। दो वस्तुओं के घर्षण से वायु आन्दोलित होती है तथा वातावरण में कम्पन पैदा होता है जो हमारे कर्ण रन्ध्रों में प्रवेश कर उसे सम्पादित करती है जिससे हमारी चेतना को ध्वनि का अनुभव होता है।

मानव जीवन में संगीत को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। संगीत एक सार्वभौमिक कला है जिसका सर्वकालिक सार्वदेशिक स्वरूप निहित है। इसका प्रयोजन मानव जीवन में व्यस्ततम क्षणों में सौन्दर्यानुभूति के माध्यम द्वारा चरम आनन्द प्राप्त करना रहा है। संगीत मानव की मानसिक शक्ति को शाश्वत संतोष द्वारा पोषित करता है। व्यक्तित्व का उचित विकास, राष्ट्रीय एकता, मनोरंजन इत्यादि इन सभी दृष्टियों से संगीत अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। संगीत मानवता का पाठ पढ़ाता है, असभ्य को सभ्यता का और संकीर्ण ह्रदय को विश्वबन्धुत्व का संदेश देता है अर्थात् यूं कहा जा सकता है कि आत्मा को स्वस्थ रखने का कार्य संगीत करता है। परन्तु इतना सब होते हुये भी ताल के बिना संगीत अधूरा माना जा सकता है अर्थात् ताल-विहीन संगीत की कल्पना सम्भव नहीं है। बिना ताल के संगीत द्वारा हृदय में केवल उदासीनता का भाव आ सकता है। स्वरों का आनन्द, हृदय में उल्लास व उत्तेजना का सृजन केवल ताल द्वारा ही संभव है। तल् धातु से ताल की उत्पत्ति हुई है। ता से ताण्डव तथा ल से लास्य अर्थात् ताल को शिव-पार्वती से जोड़कर देखा जाता है। ताल से पूर्व लय विद्यमान थी। समस्त ब्रहमाण्ड लय के अधीन है। गतिमान प्रत्येक वस्तु में लय विद्यमान हैं। संगीत को एक निश्चित समय या नियम में यदि बांधने का कार्य करती है तो वह ताल है। तालविहीन संगीत में सार्थकता नहीं होती। ताल द्वारा संगीत को अनुशासित कर उसको सुगठित चमत्कारित तथा स्थायित्व रूप प्रदान किया जाता है। रस निष्पत्ति हेतु ताल में गति भेद द्वारा विभिन्न रसों का सृजन किया जाता है।

प्राचीनकाल से मनुष्यों, पशु-पक्षियों इत्यादि को आकर्षित करने हेतु ध्वनि तथा लय को विशेष महत्व प्राप्त था। जैसा कि सर्वविदित है कि सम्पूर्ण ब्रहमण्ड लय गति से बंधा है। लय में निश्चित काल खण्ड का आबंटन कर ताल का सृजन किया गया। ताल संगीत में स्फूर्ति उत्पन्न कर वितृष्णा दूर करते हैं तथा श्रोता ताल के निश्चित समय खण्डों की आवृति में विभोर हो असीम आनन्द की अनुभूति प्राप्त करते हैं। ताल संगीत में चमत्कारपूर्ण चलन शैलियों का विकास करता है जिसके बिना संगीत में आनन्द का स्फुरण संभव नहीं। इससे संगीत प्रतिभासम्पन्न कलाकारों को चलन शैलियों का सृजन एवं विकास होता हैं। मौलिक तत्वों से समन्वित होकर उनकी कला कई गुना अधिक प्रभावोत्पादक शक्ति समृद्ध होती है। ताल की विभिन्न चलन शैलियों, गीत के शब्दों में प्राणों का संचार कर देती

विभागाध्यक्ष वाद्य संगीत विभाग, विजयराजे शासकीय कन्या स्नातक महाविद्यालय, मुरार, ग्वालियर

है। चलन शैलियों के इन्हीं मौलिक प्रयोगों के फलस्वरूप भारतीय संगीत के राग तथा उनके गीत, कभी पुराने नहीं होते। इसके विपरीत इनके अभाव में विदेशों में उच्च कलाकारों की रचनायें भी कुछ समय पश्चात् अमान्य हो जाती है।

ताल, संगीत का अभिन्न अंग है। आवश्यकतानुसार गीत, गत व नृत्य संगीत को ताल द्वारा संतुलित करने की कला प्राचीनकाल से ही चली आ रही है। इसीलिये अतिविलम्बित, विलम्बित, मध्य तथा द्रुत लय का ताल में अत्यंत महत्व है। भारतीय संगीत की गुरू शिष्य परम्परा तथा घराना परम्परा के कारण भारतीय संगीत विभिन्न लय, ताल, राग, तानादि प्राचीन पद्धतियां वर्तमान में भी उपलब्ध हैं तथा भारतीय संस्कृति की उत्कृष्टता को सहेजे हुए है।

भारतीय संगीत की विशिष्टता रस-निष्पत्ति में निहित है तो ताल गति के बिना संभव नहीं है। नवरसों की उत्पति के स्वरों के साथ-साथ लय-ताल विशिष्ट भूमिका का निर्वाह करता है। शास्त्रीय संगीत के अतिरिक्त लोक संगीत तथा लोकनृत्य का ताल तथा ताल वाद्यों के बिना कल्पना संभव नहीं है। इस संगीत में ताल वाद्यों का मुख्य रूप से प्रयोग किया जाता है। कहा जाता है कि संगीत में बेताले का कोई स्थान नहीं है। मधुर संगीत भी बेताला होने पर अप्रिय हो जाता है।

प्राचीन तथा मध्यकालीन ग्रंथों में सौ (100) से अधिक तालों का उल्लेख मिलता है। वर्त्तमान में उत्तर भारत में एकताल, त्रिताल, झपताल, दादरा, आड़ाचौताल, दीपचन्दी, धमार, सूलताल, कहरवा पंजाबी इत्यादि तालों का प्रचार अत्याधिक है। लोकरूचि के परितर्वतन के साथ ही प्रचलित तालों में अन्तर भी परिलक्षित के परिर्वतन के साथ ही प्रचलित तालों में अन्तर भी परिलक्षित हुआ है। ताल वाद्यों की विविधता एवं उनसे सृजित विभिन्न ताल ध्वनियों के आस्वाद में भी क्रमिक विकास हुआ है। विभिन्न वाक्यों का प्रयोग भिन्न-भिन्न समय में समरूप तालों के लिये करना मनुष्य की अभिरूचि, बौद्धिक, मानसिक तथा अध्यात्मिक आनन्द का परिचायक है। भारतीय तालों में कालखण्डों का प्रयोग किया गया। विश्व के अनेक देशों में भी गायन, वादन तथा नृत्य हेतु निश्चित कालखण्डों का उपयोग किया गया परन्तु सम और विषम कालखण्डों को मिलाकर तालों की रचना केवल भारतवर्ष में ही हुई है। बुद्धि के साथ-साथ जब हृदय पक्ष पर भी इनका चमत्कारिक प्रभाव पड़ने लगा तब आगे चलकर कठिन तथा क्लिष्ठ तालों का गणित पर आधारित निर्माण किया जाने लगा।

संगीत का विकास भारतवर्ष में प्रमुख रूप से मन्दिरों तथा राजदरबारों में हुआ। मंदिरों में जिन गीत शैलियों का भक्ति रस के अंतर्गत विकास हुआ उनके लिये तदनुकुल ताल के निर्माण की आवश्यकता महसूस हुई। मात्राओं के समान होते हुये भी सभी ताल समस्त प्रकार के गायन वादन के लिये उपयुक्त नहीं मानी गयी। ख्याल अंग के तालों में तिलवाड़ा, एकताल, झूमरा, तीनताल आदि, ध्रुपद अंग के तालों में चौताल, आड़ाचौताल, सूलताल, धमार, तीव्रा, झपतालादि, टप्पा के लिये पंजाबी, ठुमरी हेतु झपताल, दीपचन्दी, अद्धा त्रिताल तथा सुगम संगीत के लिये दादरा, कहरवा, रूपक इत्यादि तालों का उपयोग किया जाता है। कुछ ताल ऐसे हैं जिनका प्रयोग बोल मात्राओं के आधार पर एक से अधिक गीत शैलियों में किया जाता है जैसे आड़ाचौताल, झपताल के लिये ध्रुपद एवं ख्याल, दीपचन्दी पंजाबी तथा अद्धात्रिताल हेतु ठुमरी तथा टप्पा इत्यादि। अनेक ताल एक निश्चित लय के साथ ही सुनने में अच्छे लगते हैं। जैसे कहरवा, दादरा, झपताल, तीव्रा, सूलतालादि ताल द्रुत लय, तीनताल, एकताल, धमार, चौतालादि ताल मध्यलय तथा पंजाबी, तिलवाड़ा इत्यादि ताल विलम्बित लय में अच्छे लगते हैं।

अतः इस प्रकार भारतीय संगीत में उपर्युक्त समस्त ताल महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते आ रहे हैं। अर्थात् यूं कहा सकता है कि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। संगीत के बिना ताल-ताल के बिना संगीत की कल्पना नहीं की जा सकती है।

संदर्भ ग्रंथ

1. जैन विजयलक्ष्मी, संगीत दर्शन
2. कुलकर्णी वसुधा, भारतीय संगीत एवं मनोविज्ञान
3. सेन डॉ. अरूण कुमार, भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन
4. शर्मा डॉ0 स्वतंत्र, भारतीय संगीत एक ऐतिहासिक विश्लेषण

भारतीय लोक संस्कृति व संगीत - परम्परा और प्रतिबिम्ब

डॉ. प्रेम किशोर मिश्र

भारत देश, विश्व का वह भू-भाग है जहाँ पग-पग पर सांस्कृतिक भिन्नता पाई जाती है। अतएव इसने सभ्यता के अति प्राचीन काल से ही विश्व में आदरपूर्ण स्थान प्राप्त किया। हमारी भारतीय संस्कृति का इतिहास अत्यन्त पुराना एवं गौरवपूर्ण है। हमारी संस्कृति के संवर्धन में लोक संस्कृति का बहुत बड़ा हाथ रहा है। लोक शब्द के प्रयोग ऋग्वेद से प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद व अथर्ववेद में इसका प्रयोग 'दिव्य' व पार्थिव अर्थों में किया गया है। बुद्ध के बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय में भी लोक की भावना निहित है।

किसी भी कला को समझने के लिए सिद्धान्तः दो पक्ष होते हैं। लोक पक्ष और शास्त्र पक्ष। लोक का अर्थ है- संसार, मानव, जाति, प्रज्ञा, क्षेत्र, प्रान्त दिशा, सांसारिक व्यवहार आदि पूर्ण रूप से स्वर्ग लोक, भूलोक और पाताल लोक ये तीन लोक माने गये हैं।

जब हम सांस्कृतिक और सांगीतिक सन्दर्भ में लोक शब्द प्रस्तुत करते हैं तो एक विशिष्ट स्थान के जनसमुदाय की ओर संकेत करता है। यह शब्द किसी प्रदेश के जनसमूह की नैसर्गिक एवं सहज अनुभूतियों का सम्बन्ध माना जाता है या तर्क वैज्ञानिकता पर आधारित ना होकर अनुभव जन्य माना जाता है। किसी भी देश एवं जाति की सभ्यता का विकास उसके जनजीवन की गतिविधि और सांस्कृतिक धरातल के विभिन्न स्तरों की झांकी उस देश और जाति की लोक-साहित्य, लोक संगीत और लोक कला विधाओं में निहित रहती है। लगभग विश्व के सभी प्रमुख विद्वानों द्वारा यह सत्य सर्वमान्य है क्योंकि लोक साहित्य कला और संगीत में लोक की आत्मा अपने वास्तविक रूप में प्रतिबिम्बित होती है।

परम्परा यह शब्द अपने आप में बड़े व्यापक अर्थ को प्रकट करता है। जिसका सदियों पुराना इतिहास है तथा लोक परम्परा जिसमें लोक का अर्थ भी इसी संदर्भ में लिया जाता है। परम्परा के लोक साहित्य का व्यापार इस अबाध और निरंतर चलती रहने वाली रचना प्रक्रिया के अलावा एक विशेष भारतीय कालबोध है जिसमें प्राकृतिक समय का ऋतु और पौराणिक समय का समावेश है। इसमें अभी भी पश्चिम के ऐतिहासिक कालबोध का कोई प्रभाव नहीं है। जिसकी समय चेतना में सारा आधुनिक शहरी भारत सराबोर है। विभिन्न ऋतुओं के लोक-गीत विभिन्न अवसरों अनुष्ठानों तीज त्योहारों के साथ संबंधित गीत, नृत्य संगीत और चित्र तथा शिल्प निर्माण की लोक परम्पराएं प्राकृतिक भौतिक समय चक्र और पौराणिक समय की स्मृति में संभव होते रचे गये हैं। यह भी हमारे अवधान में होना चाहिये कि लोक समाजों के लिए प्रकृति का अर्थ केवल पर्यावरण नहीं है। वह अपने को उससे अभिन्न और अटूट मानता है- प्रकृति पूजा के सभी रूप इस धारणा से निकले हैं। यही कारण है कि पंच तत्वों के अधिष्ठाता देवता, वर्षा के देव लोक देवताओं की विराट समष्टि के साथ यहाँ एकामेक है। देवता और प्रकृति तथा मनुष्य के इस समवेत में लोक की साहित्य रचना विश्व निर्मित होता है। जीवन के इस द्वन्द्व में संगीत की स्वर लहरियों पर तैरती यह शब्द रचना एक पूरी शब्द संस्कृति है।

असिस्टेन्ट प्रोफेसर वाद्य विभाग संगीत एवं मंच कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

लोक कला-लोक से जुड़ी है। लोक सीमित है। प्रकृति से इसका सीधा सम्बन्ध है इसलिये लोक कलाकार जो भी प्रस्तुत करता है वह उसका अपना मौलिक नहीं, निजी नहीं, उसकी विषय वस्तु सबकी जानी पहचानी है। महत्वपूर्ण यह है कि सामान्य जन उसे महसूस करते हैं और कलाकार जो कि स्वयं भी सामान्य रूप का ही एक हिस्सा है, उसे अपने प्रतिभा के सहारे विभिन्न रूप रंग प्रदान करता है। इस प्रकार इसमें परिश्रम तो कलाकार का है किन्तु प्रेरणा सामान्य जन की है। अतः लोक कला व्यक्तिपरक नहीं है यह सार्वजनिक है।

आज संगीत के जो प्रारम्भ हमारे समक्ष उपस्थित है। प्रथम लोक संगीत, द्वितीय शास्त्रीय संगीत, तृतीय सुगम संगीत, लोक संगीत मूल है। शास्त्रीय संगीत का विकास लोक संगीत से ही हुआ है। शास्त्रीय कण्ठ संगीत में प्रयुक्त कवित्त्व लोक संगीत से ही आया है। लोक संगीत को जब अभिजन के द्वारा व्यवस्थित करने का प्रयास किया गया तब इस प्रकार विकसित विद्या की तुलना में लोक संगीत को अपरिमार्जित कहा गया। नेहरू जी के अनुसार- लोक कला में हमको अपने उस सांस्कृतिक वैभव को देखने का अवसर मिलता है जिसने हमारे देश को एकता के सूत्र में बाँधा है।

लाला लाजपतराय जी के शब्दों में- ''लोकगीत हमारे विकास के इतिहास की अमूल्य निधि के समान है। जातीय हृदय की उथल-पुथल सुख-दुःख संयोग वियोग आदि की भावनायें भिन्न-भिन्न प्रथाओं के गीतों के रूप में व्यक्त हुई है। देश का सच्चा इतिहास व उसका नैतिक और सामाजिक आदर्श इन गीतों में सुरक्षित है।

अतः भारत देश की खेती खलिहानों का धर्मों आदर्शों का तथा ऋतुओं के साथ-साथ लोकगीतों का देश कहा जाए तो अतिशयोक्ति न होगी।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. चौहान विद्या, लोकगीतों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि
2. डॉ०. अनिता, राजस्थान के लोकगीत और उनमें प्रयुक्त लोक वाद्य
3. संगीत कला विहार पत्रिका

शास्त्रीय संगीत और वैज्ञानिकता (मानव - देह के सन्दर्भ में)

गौरी खन्ना

संगीत केवल शब्द, काव्य, भाषा अथवा माधुर्य, रस का ही नहीं, अपितु उस वैज्ञानिक आधार पुंज का भी सहगामी है जो इसके मूल प्रभाव को प्राण प्रदान करता है। प्राचीन ग्रन्थों, साहित्य, काव्य आदि का सूक्ष्म अवलोकन कर यह ज्ञात होता है कि संगीत व उसकी वैज्ञानिकता को हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने अर्थपूर्ण सन्दर्भो में प्रकट किया है। जहाँ हम संगीत में विज्ञान की बात करते हैं तो सर्वप्रथम 'विज्ञान' के अर्थ व सन्दर्भ को जानना भी आवश्यक है। 'Science could be understood at three levels. 'science', in accordance with the primary sense of the word, was originally a 'body of knowledge'. This conception of science is traced to ancient Greece. Next, we have the science that began to take shape in the period of the Industrial revolution in Britain. And finally we have the tried of pure science, Applied science and Technology.'1

विशेषतःविज्ञान को व्यवस्थित ज्ञान के सन्दर्भ में व्यक्त किया जाता है। विज्ञान की विभिन्न शाखाएँ हैं और इन सभी का उद्देश्य ज्ञान, सिद्धान्तों और कारणों का अध्ययन कर सत्य तथ्यों को उजागर करना है।

अर्थात, 'विज्ञान' का आधार व्यवस्थित ज्ञान है और ज्ञान तथा चेतना के जागृतिकरण से फलीभूत अनुभूति की सौंदर्यमयी अभिव्यक्ति ही 'संगीत' है। अतः विज्ञान से संगीत का, विशेष रूप से शास्त्रों में बँधे शास्त्रीय संगीत का सम्बन्ध स्वयं जाता है, निश्चित रूप से यह सम्बन्ध चिरकालिक है।

मानव शरीर अपनी कर्म, ज्ञान व इन्द्रियों के व्यवहार के कारण समस्त जगत में अत्यन्त विकासशील माना जाता है। मानव-शरीर में क्रिया व प्रतिक्रया के गुण विद्यमान हैं। मानव-शरीर में पाँच कर्म इन्द्रियाँ, पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ, बुद्धि, विवेक, मन व प्राण शक्ति विराजमान हैं। मानव-शरीर ही भाव, विचार, क्रिया व प्रतिक्रिया का आधार है।

मानव-शरीर में ध्वनि उत्पन्न कर, उसे स्वर, शब्द या भाव देने के लिए विभिन्न अंगों का सहयोग रहता है। जैसे—Lungs, Throat, Thyroid, Larynx, Teeth, Tongue, Lips, Nose, Ear, Uvuth, Mouth Chamber आदि। 'गीता' में कहा गया है—

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृहणाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि
संयाति नवानि देही।।"2

शरीर को आत्मा का वस्त्र या कवच कहा गया है। आत्मा सर्वोपरि व अमर है। शरीर आत्मा का वस्त्र है। ठीक उसी प्रकार स्वर व ध्वनि, शरीर की आत्मा का ही प्रत्यक्षीकरण है। जिस प्रकार जीवन आत्मा की शक्ति से प्रकट होता है, उसी प्रकार स्वर, भावों को जन्म देता है। अर्थात् स्वर या ध्वनि से मानव-शरीर व मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ता है और स्वर का आधार कवच तो शरीर ही है।

शोध छात्रा, संगीत विभाग दयालबाग शिक्षण संस्थान, आगरा

मानव शरीर में स्थित विभिन्न चक्रों का वर्णन शास्त्रकारों ने किया है। ये मुख्य चक्र निम्नलिखित हैं–1. मूलाधार चक्र, 2. स्वाधिष्ठान चक्र, 3. मणिपुर चक्र (वाम भाग), 4. मणिपुर चक्र (दक्षिण भाग), 5. अनादृत चक्र, 6. विशुद्धि चक्र, 7. आज्ञा चक्र, 8. मनस चक्र, 9. सोम चक्र, 10. सहस्रार चक्र। मानव के शरीर में यह चक्र पंचतत्वों को संगठित व संचालित कर देह की क्रियाओं को गति प्रदान करते हैं। उपनिषद् ग्रन्थों में नाड़ियों का भी विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है। सभी नाड़ियों के विभिन्न कार्य बताए गए हैं। इन नाड़ियों में इडा, सुषुम्ना, पिंगला, गान्धारी आदि का उल्लेख प्राप्त होता है।

संगीत मानव के भीतर उपस्थित समस्त तत्वों को गति देने के साथ-साथ तारतम्य भी प्रदान करता है और वह संगीत ही है जो शरीर में उपस्थित करोड़ों कोशिकाओं व नाड़ी तंत्र को तरंगित अनुभूति प्रदान करता है।

मानव-शरीर में उपस्थित ऊर्जा स्त्रोतों, इन्द्रियों, कुण्डलिनियों व ज्ञान के चक्रों सहित, अग्नि (ऊर्जा), वायु (प्राण), द्रव्य (रसायन), भूमि (मन), व आकाश (चिन्तन) से मानव की देह-रचना हुई है। मानव-देह की संरचना, उसकी ग्रंथियों, स्नायु तंत्र-तंत्रिकाओं का संगीत से प्रगाढ़ सम्बन्ध है। श्रवण, त्वक, गंध, स्वाद इत्यादि इन्द्रियों का संगीत से सम्बन्ध, इसी मानव देह की संरचना की गति का परिणाम है। यह मानव देह ही समस्त ज्ञान, जिज्ञासा व परिवर्तन के धरातल का सत्य है।

वर्तमान में संगीत द्वारा जीव चिकित्सा में विभिन्न प्रयोगों व उनकी सफलताओं ने संगीत की वैज्ञानिकता तथा उसकी सार्थकता को और भी प्रखर व विश्वसनीय बना दिया है। संगीत एक पवित्र अनुभूति व अभिव्यक्ति है। संगीत का साधक अपनी देह के यंत्र से सर्वप्रथम, स्वयं ही संगीत के गुणों व कणों को ग्रहण व संग्रहीत करता है। इस दृष्टि से स्वयं शरीर से संगीत का रिश्ता जुड़ जाता है।

हमारे प्राचीन संगीत शास्त्रकारों ने मानव-देह व संगीत के अटूट सम्बन्ध को वृहद् रूप से अंकित किया है। स्वर अथवा ध्वनि शब्द की अभिव्यक्ति, देह के बिना तो सम्भव ही नहीं है। 'प्रत्येक देह, नाद की अभिव्यक्ति एक ही विधि से नहीं किया करता, इसीलिए भरतमुनि ने स्वर के आधारभूत देह पिण्ड का महत्त्व बताते हुए सामान्यतः चार विधियों को स्वरोत्पत्ति में सहायक बताया है।[3] अर्थात स्वर का सम्बन्ध क्रिया से होता है और क्रिया किसी न किसी देह में ही होती है।

यह एक नैसर्गिक नियम है कि प्रत्येक क्रिया, देह के आश्रित ही होती है। संगीत क्रियात्मक विद्या है अतः संगीत की क्रियात्मकता को देह का आधार मिलना अनिवार्य है।

शरीर के अंग व अवयव ही ऊर्जा व वायु के माध्यम से ही गठित ध्वनि को जन्म देते हैं। यह अवयव फेफड़े, डायफ्राम, श्वास, स्वरयंत्र, मुख आदि हैं। यह मुख्य अवयव ध्वनि को निर्माण से अर्थपूर्ण स्वर तक ले जाने में सहयोग करते हैं।

संगीत और मानवीय देह के सम्बन्ध को भारतीय संगीत शास्त्रियों ने वृहद् रूप से वर्णित किया है। शारंगदेव के मतानुसार 'गीत, वाद्य और नृत्य के अतिरिक्त समस्त जगत तथा उसके समस्त व्यवहार का कारण वाणी है। वाणी, 'नादाधीन' है, नाद का आधार शरीर है। इसलिए 'स्वर' से पहले शरीर को कहते हैं, क्योंकि सभी 'शरीर' एवं 'वाघ' सजीव तथा निर्जीव आदि 'नाद' से ही प्रशंसनीय होते हैं।'4 संगीत की दृष्टि से मानव शरीर के दो अंगों श्रवण यन्त्र कान और ध्वनि यन्त्र कंठ का अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्राचीनकाल से ही दर्शनशास्त्री संगीतकारों ने संगीत व मानव देह के विषय में अपने विचार प्रकट किए हैं। मानव देह में नाड़ी-संस्थान को सभी संस्थानों में श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण समझा जाता है, क्योंकि सभी चक्र नाड़ी संस्थान में स्थित होते हैं। अतः सभी ग्रन्थकारों ने प्रसंगतः प्राप्त नाड़ियों का यथोचित्त वर्णन और उनकी संख्या का निरूपण किया है।

नाद का आधार पिण्ड है और उसमें स्थित शक्ति केन्द्र, केवल नाड़ियों के माध्यम से ही सूचनाओं का आदान-प्रदान करता है। अर्थात् ये नाड़ियाँ ही शक्ति की धारा के प्रवाहित होने का मार्ग हैं जिनमें होकर शक्ति आती जाती है। 'देहस्थित सभी नाड़ियों में से तीन नाड़ियाँ श्रेष्ठ हैं, और उनमें भी 'सुषुम्ना' श्रेष्ठतम है। ''सुषुम्ना'' को ''वैष्णवी'' भी कहते हैं। ''सुषुम्ना'' की बायीं ओर ''इड़ा'' तथा दाहिनी

ओर, "पिंगला" नाड़ी होती है। "इड़ा" नाड़ी में संचार करने वाले प्राणवायु को "चन्द्र" संज्ञा दी गई है वहीं "पिंगला" नाड़ी में संचार करने वाले प्राणवायु को "भास्कर (सूर्य)" की संज्ञा दी गई है। "चन्द्र" और "सूर्य" से लोक-व्यवहार में काल का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। संगीत में गायक का "प्राण" ही "स्वर" के रूप में प्रकट होता है अतः काल के माध्यम से जो भी वैविध्य और सौन्दर्य का सर्जन किया जाता है, उसमें अवश्य ही इन नाड़ियों का योगदान रहता होगा। यही कारण है कि सभी गायकों की "लय" यानी श्वास और उच्छ्वास के बीच की विश्रान्ति एक सी नहीं हुआ करती।'5

आचार्य शारंगदेव द्वारा रचित 'संगीत-रत्नाकर' के पिंडोत्पत्ति प्रकरण में 'भ्रूण के गर्भ में आने से लेकर जन्म तक एवं उसके बाद के विकास की सब अवस्थाओं का निरूपण किया गया है।'6 अर्थात् हमारे प्राचीन संगीतशास्त्रकारों ने मानव-शरीर विज्ञान एवं संगीत का सम्बन्ध पूर्णतः निरूपित किया है। कंठ ध्वनि की उत्पत्ति की प्रक्रिया के विषय में कहा गया है, 'पहले आत्मा में विवक्षा, आत्मा से मन को प्रेरणा, मन द्वारा प्राणवायु को प्रेरणा, प्राणवायु का अग्नि से संयोग, संयोग होने पर मन द्वारा वायु को ऊपर उठने की प्रेरणा, तब वायु संचरण द्वारा कंठ ध्वनि की उत्पत्ति होती है।'7

दर्शनपरक दृष्टि में भारतीय संगीतशास्त्रकारों ने मानव देह को केवल हड्डियों का ढांचा न समझकर उसे देवताओं का मन्दिर माना है। शुक्ल यजुर्वेद का यह मंत्र इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि 'प्रत्येक शरीर में सात ऋषि निवास करते हैं, ये सातो ऋषि बड़ी सावधानी से शरीर रूपी यज्ञशाला की रक्षा करते हैं। ये सात ऋषि, सात जल प्रवाह हैं। ये जल-प्रवाह निद्रा लेने वाले के स्थान तक जाते हैं। उस निद्रा में भी दो देवता जागरूक रहकर इस शरीररूपी यज्ञशाला की रक्षा करते है।'8 अथर्ववेद में मानव देह का वर्णन देवों की नगरी के रूप में किया गया है।

संगीत शास्त्र में मानव देह का उल्लेख निम्न रूप से दृष्टवत होता है- मानव-शरीर के मुख्य अंग कंठ तथा जीभ के विषय में संगीत-रत्नाकर में इस प्रकार उल्लेख किया गया है–

"कंठ में भारती (सरस्वती) का स्थान 16 दल वाला 'विशुद्ध' नामक चक्र है। प्रवण, उद्गीथ, हुँफड़, विषड, स्वधा, स्वाहा, नमः, अमृत, सप्त स्वर और विष ये 16 फल (विशुद्ध चक्र के) पूर्व आदि पत्रों (दलों) में स्थित हैं।

घण्टिका (जिह्वा मूल) में 12 दल वाला 'ललना' नामक चक्र है। मद, मान, स्नेह, शोक, खेद, लोभ, अरीत, सम्भ्रम, ऊर्मि, श्रद्धा, संतोष और दक्षता ये 'ललना' चक्र के पूर्व दलों में फल हैं।"9

अर्थात् कंठ में सरस्वती का स्थान होता है, जिसे विशुद्ध चक्र कहते हैं। यह चक्र 16 दलों से युक्त होता है, जिसमें सप्त स्वर यथा स्थान स्थित होते हैं तथा जीभ में 12 दलों से युक्त ललना चक्र स्थित होता है।

'संगीत-दर्पण' में दामोदर पण्डित ने हृदय के विषय में लिखा है–

"नाभौदशदलं चक्रं मणिपूरकसंज्ञकम
हृदयेऽनाहतं चक्रं शिवस्य प्रणवाकृतेः
पूजा स्थानं तदिच्छन्ति युतं द्वादशभिर्दलैः
कण्ठे नु भारतीस्थानं विशुद्धि ाेशच्छदम्।।"10

अर्थात् हृदय में 'प्रणवाकृति' (ओंकार रूपी) शिव का पूजा स्थान, जिसकी सभी योगी इच्छा करते हैं, ऐसा बारह पंखुड़ियों से युक्त अनादृत नाद नामक चक्र है।

पण्डित सातवलेकर ने मानव-शरीर में सप्त ऋषियों का विवेचन इस प्रकार किया है–

'मनुष्य देह सात ऋषियों का आश्रम है। दो आँखें, दो कान, दो नासापुट और एक मुख ये ही सात ऋषि हैं, ये सातों ज्ञान-ग्राहक होने से इन्हें सप्तऋषि कहा गया है। ज्ञान ग्रहण करने वाली ये सात इन्द्रियाँ इस शरीर का रक्षण करती हैं। इन्हें सात जल प्रवाह भी कहते हैं। जाग्रत अवस्था में ये सात प्रवाह बहिर्मुख रहते हैं और निद्रा के समय वे अंतर्मुख हो जाते हैं। इनके अर्न्तमुख होने से ही यह शरीर निद्राधीन हो जाता है। निद्रा के समय जगने वाले दो देवता 'प्राण' और 'अपान' हैं। इनका जाग्रत रहना आवश्यक है, अन्यथा देह की मृत्यु हो जाएगी।'11

पण्डित अहोबल ने मनुष्य-शरीर से मंद्र, मध्य तथा तार ध्वनियों के विषय में कहा है–

"कंठे विशुद्ध चक्रं स्यात् सहस्त्रारन्तु मूर्द्धनि।
मन्द्रमध्यमताराख्या भवेयुस्तेषु तु क्रमात्।।"[12]

अर्थात् कंठ में विशुद्ध नामक चक्र होता है और मस्तक में सहस्रार नामक चक्र है। उनमें क्रमानुसार मन्द्र, मध्य, तार यह होता हैं।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि मानव-देह को लेकर प्राचीन संगीतशास्त्रियों ने जो व्याख्या प्रस्तुत की है, वह जितनी प्राचीन, दार्शनिक, पूर्ण एवं सूक्ष्म है, उतनी ही वैज्ञानिक भी है। यद्यपि यह वर्णन आधुनिक शरीर-रचना विज्ञान एवं आधुनिक ध्वनि शास्त्र से भिन्न है, तथापि इसे विज्ञान द्वारा गलत सिद्ध नहीं किया जा सकता। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में वर्णों की उत्पत्ति, स्थान, उच्चारण, स्वर-व्यंजनों के क्रम आदि का वैज्ञानिक अध्ययन वर्णित किया गया है, जो सैकड़ों वर्ष प्राचीन है एवं स्वयं में अभूतपूर्व भी है। निःसन्देह मानव-देह तथा संगीत के सम्बन्धात्मक विचार को प्रस्तुत करते संगीत मनीषियों के विचार, इस सम्बन्ध का विज्ञान तथा दर्शन दोनों का आधार प्रदान करते हैं।

सन्दर्भः-

1. Hema Ramanathan & Ramanath, paper entitled "science and music vis-a-vis science in music" presented at the National Symposium on 'Science in India Classical Music' Organised by Indiranagar sangeeta sabha, Banglore on 26, 28 & 29 January 2006.
2. श्रीमद् ए. सी. भक्ति वेदान्त, स्वामी, प्रभुपात, श्रीमद् भगवतगीता-यथारूप, अध्याय-2 श्लोक 22
3. मुसलगाँवकर डॉ. विमला , भारतीय संगीत शास्त्र का दर्शनपरक अनुशीलन, अध्याय-3 पृष्ठ 116
4. आचार्य शारंगदेव, संगीत रत्नाकर भाग-1 ;पिण्डोत्पत्ति प्रकरणद्ध अध्याय-2, पृष्ठ 5
5. मुसलगाँवकर डॉ. विमला , भारतीय संगीत शास्त्र का दर्शनपरक अनुशीलन, अध्याय-3 पृष्ठ 109
6. आचार्य शारंगदेव, संगीत रत्नाकर भाग-1 ;पिण्डोत्पत्ति प्रकरणद्ध पृष्ठ 5-14
7. मिश्र डॉ. अरूण , भारतीय कंठ संगीत और वाद्य संगीत, पृष्ठ 3
8. मुसलगाँवकर डॉ. विमला , भारतीय संगीत शास्त्र का दर्शनपरक अनुशीलन, पृष्ठ 124
9. आचार्य शारंगदेव, संगीत-रत्नाकर भाग-1 पृष्ठ 15
10. पं. दामोदर कृत संगीत दर्पण, प्रथम स्वराध्याय, श्लोक 18 - 19, पृष्ठ 5
11. मुसलगाँवकर डॉ. विमला , भारतीय संगीत शास्त्र का दर्शनपरक अनुशीलन, पृष्ठ 124
12. पं. अहोबल, संगीत-परिजात, श्लोक 37, पृष्ठ 12

भरतोक्त रस की अवधारणा : गीत (Melody) एवं छंद के संदर्भ में

रजनीश

संगीत से प्राप्त आनंद के संदर्भ में आम धारणा यह है कि अमुक राग से अमुक रस की निष्पत्ति होती है। ज्ञातव्य है कि सर्वप्रथम 'भरत' ने 'नाट्यशास्त्र' में रस की चर्चा 'नाट्य' के संदर्भ में की , न कि संगीत के संदर्भ में। जिसमें संगीत प्रयोग की आवश्यकता पर बल इसलिए दिया गया है कि किसी परिस्थिति विशेष के मंचन में किसी खास संगीत का प्रयोग उस भाव विशेष को उद्दीप्त करने में सहयोग करता है जिससे रस विशेष की पुष्टि होती है। यदि नाट्य में राम-सीता के माध्यम से श्रृंगार रस का मंचन किया जा रहा है तो स्थायीभाव दोनों में रति के रूप में विद्यमान हो सकता है। ऐसी स्थिति में राम के लिए सीता और सीता के लिए राम आलंबन विभाव के रूप में होते हैं। उद्दीपन विभाव के रूप में वहाँ के दृश्य-परिदृश्य, अनुभाव के रूप में उनके हाव भाव एवं उनकी चेष्टाएँ एवं संचारी भाव के रूप में उनकी प्रायः बदलती हुई मनःस्थितियाँ होतीं है। जिनका विशेष वर्णन नाट्य शास्त्र में किया गया है और उनके नामों का भी उल्लेख है। यहाँ संगीत का प्रयोग आवश्यक होता है क्योंकि भावों को उद्दीप्त करने में संगीत की बहुत बड़ी भूमिका होती है। इसे हम स्पष्टतः उद्दीपन विभाव के रूप में देख सकते हैं। फलतः 'साधारणीकरण' के द्वारा हम 'रस' की अवस्था को प्राप्त करते हैं। कालान्तर में संगीतज्ञों ने ऐसी धारणा बनाली कि संगीत ही 'रस' को उत्पन्न करता है। जबकि 'रस' सबका मिला जुला रूप है। स्पष्ट है कि यदि हमें खीर का स्वाद लेना है तो वह चावल, दूध, चीनी, इलायची आदि सबके संयोग से प्राप्त होता है। जिसमें सभी घटकों की महत्वपूर्ण भूमिका है। केवल दूध से या चीनी से हम खीर का स्वाद कदापि नहीं ले सकते। यहीं बात नाट्य के संदर्भ में भी लागू होती है कि केवल संगीत से हम रस का आनंद कैसे प्राप्त कर सकते हैं? जो कि नाट्य का एक घटक मात्र है।

भरत ने नाट्य के संदर्भ में संगीत प्रयोग को इस प्रकार कहा-हास्य तथा श्रृंगार रस में मध्यम तथा पंचम स्वर का, वीर, रौद्र तथा अद्भूत में षड़ज् एवं ऋषभ स्वर का, करूण रस में गंधार एवं निषाद का तथा वीभत्स एवं भयानक रस में धैवत स्वर का प्रयोग करना चाहिए। स्पष्ट है कि भरत ने उस रस विशेष की स्थिति में उस स्वर विशेष के विनियोग के बारे में कहा। यह नहीं कहा कि षड़ज्- ऋषभ स्वर स्वयं ही वीर, रौद्र तथा अद्भुत रस उत्पन्न करने में समर्थ है। भरत के स्वर-रसों की व्याख्या 'नाट्यशास्त्र' के टीकाकार 'अभिनव गुप्त' ने की। यहाँ षड़ज् से अभिप्राय षड्ज से प्रारंभ होने वाली मूर्च्छना से है एवं ऋषभ से अभिप्राय ऋषभ से प्रारंभ होने वाली मूर्च्छना से है। अर्थात् वीर, रौद्र, अद्भुत के प्रसंग में सा-रि का मूर्च्छना के रागों का, करूण रस के प्रसंग में ग-नि की मूर्च्छना वाले रागों का, हास्य तथा श्रृगांर के प्रसंग में म-प की मूर्च्छना वाले रागों का तथा वीभत्स एवं भयानक रस के प्रसंग में ध की मूर्च्छना के रागों का प्रयोग करना चाहिए। 'नाट्यशास्त्र' के '29वें अध्याय' में भरत ने जातियों के रस बताये हैं और वहाँ भी यही कहा गया है कि किस रस के प्रसंग में किस जाति का प्रयोग करना चाहिए।

शोध छात्र, संगीत एवं मंचकला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

यदि भरत के 'रस-सूत्र पर दृष्टि डालें-'
"तत्र विभावानुभावव्यभिचारी संयोगाद्रसनिष्पत्तिः"

तो गायन की बंदिश में चूँकि काव्य मिश्रित है अतः यह बात कुछ हद तक लागू हो सकती है। लेकिन केवल वाद्य संगीत और सार्थक पद विहीन संगीत की बात करें, जैसे गायन के पूर्व का आलाप या वाद्य संगीत पर बजने वाले कोई राग जो काव्य से पृथक हैं तो उसमें स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भावों की अनुपलब्धता है। यदि हम अपनी कल्पना से राग विशेष के स्थायी स्वर का आलंबन 'अंश स्वर' को 'स्थायी भाव' कहें 'संवादी स्वर' को उद्दीपन विभाव, एवं स्थायी स्वर को उभारते रहने वाले 'संचारी स्वर' को 'संचारी भाव' तो इन भावों का भरत के 'नाट्यशास्त्र' में जिनका हम रस-संदर्भ में अनुसरण करते हैं, कहीं उल्लेख नहीं है। अन्य सभी ग्रंथों में विभिन्न राग, लय, प्रबंध, विशेष पाटाक्षर आदि का विभिन्न रसों में विनियोग ही बताया गया है न कि इससे रस की निष्पत्ति कही गई।

परन्तु संगीत से प्राप्त आनंद को रस नहीं तो कम से कम कुछ भावों में अवश्य वर्गीकृत किया जा सकता है। जैसे मंद्र सप्तक के स्वरों का प्रयोग शोक, गंभीरता, उदासीनता, शांत आदि भावों के प्रकटीकरण के लिए, मध्य सप्तक के स्वरों का प्रयोग सामान्य भाव एवं तार सप्तक के स्वरों का प्रयोग चंचलता, क्रोध, उत्साह आदि भावों के प्रकटीकरण के लिए किया जा सकता है। यहीं बातें क्रमशः विलम्बित मध्य एवं द्रुत लय के लिए भी लागू होती है। विभिन्न प्रकार के काकु के प्रयोग भी विभिन्न प्रकार के भावों का सृजन करते हैं। 'मम्मट' के तीन गुणों माधुर्य, ओज एवं प्रसाद के आधार पर हम स्वर, लय और पटाक्षरों की अभिव्यक्ति को भी तीन श्रेणी में रख सकते हैं। माधुर्य के अंतर्गत वैसे रागों को जिनमें श्रृंगार, हास्य एवं करूण की प्रबलता हो, आवेग (उद्दता का भाव, उद्धेग, दीप्ति) के अन्तर्गत वीर, रौद्र प्रधानता वाले एवं प्रसाद के अंतर्गत वे राग जो शुरू से ही अपना प्रभाव शुरू कर देते हैं जैसे बागेश्वरी यमन, मालकौंस, केदार आदि रागों को रख सकते हैं।

'रस सिद्धान्त' की उत्पत्ति का श्रेय भारतीय साहित्य को ही जाता है। लेकिन इसका निरूपण सर्वप्रथम नाट्य के प्रसंग में किया गया है। नाट्य का एक 'घटक' संगीत भी है। अतः संपूर्ण नाट्य से जिसमें संगीत भी सम्मिलित है, 'रस' की निष्पत्ति बताई गई। प्राचीन संगीत शास्त्रज्ञों ने रस से संगीत का संबंध जोड़ते समय मात्र इसी बात का निर्देश किया है कि किसी स्वर की मूर्च्छना, जाति, राग अथवा लय आदि का किसी रस विशेष के प्रसंग में विनियोग करना चाहिए। किसी भी शास्त्रज्ञ ने यह नहीं कहा कि अमुक जाति या राग आदि से अमुक रस की निष्पत्ति होती है। परंतु आधुनिक काल के अनेक विचारकों ने संगीत के साथ रस का संबंध इस प्रकार जोड़ने का प्रयास किया है कि मानों किसी राग विशेष आदि से किसी रस विशेष की निष्पत्ति होती है। इसमें या तो उनकी प्रतिष्ठा की भावना (जिससें संगीत अधिक प्रतिष्ठित हो सके) काम कर रही हो या उन्हें सही जानकारी का अभाव हो या यह भी हो सकता है कि वे रस और भाव के अंतर को ठीक तरह से नहीं समझ पाए हों। क्योंकि जो स्वाद हमें संपूर्ण व्यंजन से प्राप्त होता है उसे हम उसके केवल एक घटक से कैसे प्राप्त कर सकते हैं? इसका यह अर्थ नहीं कि संगीत से प्राप्त आंनद संपूर्ण नाट्य से प्राप्त आनंद की अपेक्षा तुच्छ है बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि संगीत द्वारा प्राप्त आनंद सर्वश्रेष्ठ है। किन्तु उसे हम पारिभाषिक दृष्टि (भरत के अनुसार) से 'रस' की संज्ञा नहीं दे सकते। यदि हम संगीत से प्राप्त आंनद को भी रस कहें तो 'रस' की नई परिभाषा की आवश्यकता होगी और ऐसी स्थिति में हमें विभिन्न प्रकार के स्थायी भाव, संचारी भाव, विभाव, अनुभाव, आदि का संगीत के संदर्भ में निर्धारण करना होगा। फिर भी यदि हम संगीत से प्राप्त आनंद को 'रस' ही कहें तो जिस शब्द का प्रयोग संपूर्ण नाट्य से प्राप्त आनंद के संदर्भ में किया गया है। उसी को संगीत से प्राप्त आनन्द के संदर्भ में प्रयोग करने पर कम से कम शब्द के शाब्दिक अर्थो में भिन्नता का बोध हमें अवश्य होना चाहिए।

जैसे- **"कनक कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय"** में एक ही शब्द कनक का दो अर्थ है।

पहला कनक जहाँ 'स्वर्ण' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वहीं दूसरे कनक का अर्थ 'धतुरा' है जो एक विषैला (मादक) पदार्थ है।

छंद और रस

छंद को जानने से पूर्व लय को समझना आवश्यक है क्योंकि 'लय' ही छंद का आधार है। 'लय' काल खंड के बीच की विश्रान्ति है। ''क्रियाओं के द्वारा जब हम अनंत काल का विभाजन करते हैं तो वह लय कहलाती है।'' आगे चल कर लय दो दिशाओं में विकसित हो जाती हैं। यदि लय के साथ लघु-गुरू क्रम, मात्रा संख्या, अक्षर संख्या आदि का आरोप सार्थक शब्दों के साथ किया जाए तो वह छंद एवं यदि लय के साथ सशब्द निःशब्द क्रियाओं का आरोप किया जाए तो वह ताल कहलाती हैं। अतः छंद की परिभाषा इस प्रकार दे सकते हैं- -''साहित्य में अक्षर संख्या, मात्रा संख्या, अथवा वर्णक्रम आदि नियमों के आधार पर की गई रचना छंद कहलाती है।'' किसी भी प्राचीन शास्त्र ग्रंथ में हम विशेष रस के सन्दर्भ में विशेष छंद का प्रयोग तो देखते हैं किन्तु ऐसा वर्णन किसी भी शास्त्र ग्रंथ में नहीं है कि अमुक रस के संदर्भ में अमुक छंद का ही प्रयोग करना चाहिए। अब यदि 'भरत' के रस सूत्र छंद के संदर्भ में विचार करें तो-

''तत्र विभावानुभावव्यभिचारी संयोगाद्रसनिष्पत्तिः''

में प्रत्यक्ष रूप में छंद का रस से कोई संबंध नहीं स्थापित होता है किन्तु चूँकि छंद का आधार लय है और लय नाट्य में प्रयुक्त भावों को उद्दीप्त करने में सहायक है अतः अप्रत्यक्ष रूप में छंद का भी रस से संबंध स्थापित हो जाता है।

नाट्य में लय की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है । नाट्य में संगीत का प्रयोग भावों को उद्दीप्त करने के लिए होता है, और संगीत का एक मुख्य घटक 'लय' है। नाट्य में शिथिलता, उदासीनता, कोमलता, शोक आदि भावों के संदर्भ में प्रयुक्त संगीत का लय धीमा (विलंबित) एवं क्रोध, उत्साह भय, चंचलता आदि भावों के संदर्भ में प्रयुक्त संगीत का लय द्रुत (तेज) होती है। इसी प्रकार नाट्य के विभिन्न संवादों में भी विभिन्न भावों के प्रकटीकरण के लिए संवादों की लय अर्थात् गति में परिवर्तन होता रहता है। प्रायः शोक, शिथिलता, गंभीरता प्राधान्य सवांदों की गति धीमी एवं क्रोध, उत्साह चंचलता प्राधान्य संवादों की गति तेज होती है। इस प्रकार सीधे रस के साथ लय का संबंध न जोड़ते हुए हम रस में विद्यमान कुछ भावों से रस का संबंध अवश्य स्थापित कर सकते हैं।

हमारे मत में 'मम्मट' के द्वारा बताये गए काव्य के तीन गुणों 'माधुर्य, ओज और प्रसाद' के आधार पर हम नौवों रसों को मुख्य दो वर्गो में रख सकते हैं। माधुर्य के अन्तर्गत वे रस जिनमें शिथिलता, द्रवीभाव, कोमलता आदि का भाव हो एवं 'ओज' के अन्तर्गत वे रस जिनमें आवेग दीप्ति आदि का भाव, जिससे चित्रवृत्ति का विस्तार हों, को रखा जा सकता है। उपर्युक्त दोनों वर्गों में 'प्रसाद' सामान्य रूप से विद्यमान होता है, जिसका काम प्रारम्भ से अपना प्रभाव दिखाना है। इस प्रकार हम प्रथम वर्ग 'माधुर्य' के अन्तर्गत हास्य, श्रृंगार, करूण एवं शान्त रस को तथा 'आवेग' के अन्तर्गत रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्‌भुत रस को रख सकते हैं। इस प्रकार दोनों वर्गो का क्रमशः दोनों प्रकार के लयों (विलम्बित और द्रुत) के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। मध्य लय प्रायः सामान्य भाव का द्योतक होता है।

छंद में मुख्यतः दो ही तत्वों की प्रधानता होती है पहला तत्व लय है जिसका रस के साथ सम्बन्ध स्थापित हो चुका है और दूसरा तत्व है 'छंद की लम्बाई'-जिस छंद की लम्बाई अधिक होती है उसमें प्रयुक्त मात्राओं की संख्या अधिक होती है और उसकी लय प्रायः घटी हुई होती है, एवं जिस छंद की लम्बाई कम होती है, उसमें प्रयुक्त मात्राओं की संख्या कम होती है और उसकी लय प्रायः बढ़ी हुई होती है। इस प्रकार छंद की लम्बाई का भी लय के आधार पर रस से परोक्ष सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

भारतीय संगीत में राग-रागिनियों के ध्यान-चित्र

रितु सिंह

रागों के ध्यान आगम-पुराण परम्परा का प्रभाव है। 'ध्यान' का अर्थ है "अपने चित्त को अपने ईष्ट में तदात्कार करना।" किसी भी राग की मूल प्रवृत्ति के अनुसार उसकी आकृति की मानसिक रूप से अनुभूति करना ही राग-ध्यान है।

मानसिक ध्यान में गायक राग के देवता पर चित्त समाहित करता है जबकि उपांशु ध्यान में वह भीतर ही भीतर गुनगुना कर देवता का आवास करता है और नादात्मक ध्यान में वह खुले स्वरों में गाकर उस देवता का आह्वाहन करता है।

प्रो. रानाडे के अनुसार

"Dhyan is a cultivated state of contemplation where in the mind is not allowed to wander. In normal life ideas come and go and concentrations is usually brief. Through Dhyans, the mind is deeply concetrated on even current of thought and the full nature of the objecr is revealed. Religious dhyana culminates in samadhi."1

Indian Philosophy

भारत का संगीत विशेष रूप से आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में पला बढ़ा है। इसलिए राग-रागनियों का सम्बन्ध विशेष रूप से देवी-देवताओं से जोड़ा गया है, और प्रत्येक का काव्यमयी भाषा में ध्यान और भावात्मक चित्र चित्रित किया गया है।

संगीत के क्षेत्र में ध्यान की आवश्यकता उस युग में पड़ी जब संगीत की श्रृंखला नाट्य से एकदम विच्छिन्न हो गई थी। भारतीय संगीत में आध्यात्मिक चेतना के रूप में देवी-देवताओं की आराधना की जाती रही अतः राग को धर्म के चेतना के लिये लोक स्वर पर मूर्त रूप देना आवश्यक हो गया और ध्यान परम्परा की पद्धति पनपी। रागों को देवी-देवताओं से सम्बद्ध करने की भावना केवल आगम-पुराण परम्परा से सम्बन्धित नहीं है, वरन् भरत परम्परा में भी इसके बीज है। उदाहरण के लिये रसों के देवताओं की चर्चा नाट्यशास्त्र अध्याय 6, श्लोक 45-46 में उपलब्ध है। जिसके अनुसार श्रृंगार के देवता विष्णु, हास्य के प्रथम गण, रौद्र के रूद्र, करूण के यम, वीभत्स के महाकाल, भयानक के काल, वीर के महेन्द्र तथा अद्भुत के देवता ब्रह्म बताए गए हैं।

रागों के विधिवत ध्यान की परम्परा मतंगमुनि तक जाती है। सर्वप्रथम उन्होंने ही 'बृहद्देशी' में रागों के ध्यान वर्णित किये हैं। भारतीय संगीतशास्त्रियों का यह विश्वास है कि प्रत्येक राग अथवा रागिनी का, उसके गेय स्वरूप के अनुसार अपना एक स्वर्ग-निवासी आत्मिक रूप होता है, जो उसके गेय स्वरूप का अधिष्ठाता होता है। स्वर-संगति के निर्धारित प्रयोग की सहायता से, संगीतज्ञ अपनी आराधना द्वारा राग-रागिनी के काल्पनिक दैवी रूप को स्वर्ग से भूतल पर बुला सकता है। किसी भी राग-रागिनी की देवी को अपनी आराधना द्वारा बुलाने के पहले गायक को अपने मन-मस्तिष्क में उसकी झाँकी को साकार करना पड़ता है। इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिये ध्यान निर्धारित किए गए हैं। जिस वातावरण में प्रत्येक राग-रागिनी की

शोध छात्रा, संगीत एवं मंचकला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रतीक भावना का उदय होता है, उसकी कल्पना कर प्रत्येक राग-रागिनी को मूर्त रूप देने के लिए संगीतज्ञ एवं कवियों ने संस्कृत के श्लोक बनाए। 'रागमाला' के चित्र इसी प्रकार के श्लोकों को चित्रित करते हैं।[2]

भातखण्डे जी ने 'संगीत पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन' में राग के देवात्मक रूप अथवा चित्र का ध्यान करने के महत्व पर लिखा है-

ध्यानं बिना राग समूहमते
गायंति रागे निपुणो जना ये।
संगीतशास्त्रोक्त फलानि रागाः
तेभ्यः प्रयच्छन्ति कदापि नैवः।।

अर्थात् जो लोग राग में निपुण होते हैं, किन्तु ध्यान के बिना राग समूह को गाते हैं, उस राग का फल कभी नहीं प्राप्त होता है। रागों के ध्यान की एक प्रक्रिया है, जिस प्रकार जप के तीन रूप हैं-अजपा, उपांशु, वाचिक, उसी प्रकार राग ध्यान के भी तीन रूप है-मानसिक, उपांशु और नादात्मक जिसका वर्णन मैंने ऊपर की पंक्तियों में किया है।

विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित रागों के ध्यान एवं चित्र-

आचार्य मतंग ने प्रथम बार रागों को भगवान शंकर से सम्बन्ध स्थापित कर रागों के ध्यान का वर्णन किया है-

''अनुक्त-देवात्तानां तु रागाणां देवतं शिवः।''

बृहद्देशी के खंडित देशी राग प्रकरण में प्रारम्भ में ही रक्त वस्त्रा, त्रिनेत्री, गहरे लाल वर्ण वाली, तरूणावस्था से युक्त, स्वर्णालंकारों से विभूषित, विश्व की माता के रूप में जिस देवी की वन्दना की गई है, वह आगम परंपरा की ही प्रतीक है।

'संगीत राज' में राग नट नारायण को विष्णु भगवान के रूप में वर्णित किया गया है-

नट नारायणो रागो नीलवर्णचतुर्भजः।
शंखचक्रगदावीणाकारः स्याद्गरूड़ासन।।[3]

राग बिबोध में 'मारवी' रागिनी का ध्यानचित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है-

''मारवी रागिनी चन्द्रमुखी, चन्द्रबदना, कनक के समान आभावाली, ऊँची देहवाली, लंबी वेणी वाली, लालाबंर युक्त, अनुपम सुन्दर है और राजश्रेष्ठों को वीरता के लिये प्रेरणा देती है।

पं. लोचनकृत रागतरंगिणी में 'कौशिक' राग का ध्यान इस प्रकार किया गया है।

पीतवसन सिददमन हेमसम रूप मनोहर।
वीर सिरोमय मालगरु गहि होत भयंकर।।

राग हिंडोल का श्रृंगार प्रिय धीर ललित नायक के रूप में ध्यान दिया गया है-

रूपगर्वयुक्त रवर्पपर्व हिम धाम समानन
गंधर्वादिक सर्वकला विद्याकुल कानन।

राग दीपक का ध्यान वर्णन रस नायक के रूप में किया गया है-

कुन्दधवल अभिराम धाम पर अंक सुशोमन।
सुतीता में नकताए दिआगहि मीन महाधन।।
तोड़ी का ध्यान पद
मृगनैनी मारुति मृगनि रागत लेकर बीन।
सम्पूरन दोपहर सिसिर तोड़ी कनक रंगीन।।[4]

भैरवी का राग ध्यान देखिए-

स्फटिकरचित्तपीठे रम्यकैलासश्रृंगे,
विकचकमलपत्रैरर्चयंती महेशम्।
करतलधृतवीणा पीतवर्णायताक्षी, सुकविभिरियमुक्ता भैरवी भैरवस्त्री।

लक्षण-गीत में भैरवी को प्रथम प्रहर की रागिनी माना गया है। भैरवी राग को 'राग-माला' चित्र में अंकन कर वातावरण को सजीव करने की कोशिश की है, जिसमें उसे सफलता भी मिली हैं यदि राग-ध्यान के आधार पर ही वह चित्र अंकित करता, तो निश्चय ही भैरवी का यह सम्मोहक रूप हमारे सामने न आ पाता। चित्र में मानव से लेकर प्रकृति आदि सभी चीजें आलंकारिक सूत्र में एक-दूसरे से सुसंबद्ध होकर हृदय में मधुर भावना का संचार कर रही हैं। प्रकृति के उल्लासित वातावरण में गान, वाद्य और नृत्य के साथ राग का सम्यक् स्वरूप उपस्थित किया गया है। भैरवी की प्रकृति के अनुसार सरसता के साथ सरलता भी अंकित की गई है। इस चित्र की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसे देखते ही भैरवी का यह लक्षण-गीत स्मरण हो उठता है-

स्थायी : भैरवी कही मनमानी, कोमल सुर कर गावत गुनि जन, प्रथम पहर की रानी।।
अंतरा : मध्यम वादी, सा संवादी, भक्ति-रस की खानी।[5]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राग-ध्यान परंपरा में प्राचीन काल से ही साहित्य, संगीत और कला इन तीनों का सुन्दर समन्वय है। ये तीनों कलाएँ क्रमशः रागध्यान को स्थूलतर आधार प्रदान करती आई है, यह परंपरा हमारे संगीत की अपूर्व निधि है, उसे हमें सुरक्षित एवं संचालित करना चाहिए।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. शर्मा डॉ०. स्वतंत्र , सौन्दर्य, रस एवं संगीत, पृ.सं. 229।
2. गर्ग डॉ०. लक्ष्मी नारायण , निबन्ध संगीत, पृ.सं. 337।
3. शर्मा डॉ०. स्वतंत्र , सौन्दर्य, रस एवं संगीत, पृ.सं. 233।
4. शर्मा डॉ०. स्वतंत्र , सौन्दर्य, रस एवं संगीत, पृ.सं. 235।
5. गर्ग डॉ०. लक्ष्मी नारायण , निबन्ध संगीत, पृ.सं. 384।

घराना संगीत के लिए है संगीत घराने के लिए नहीं

डॉ जितेन्द्र शुक्ला

बात चौदहवी शताब्दी की है। अलाउद्दीन खिलजी के दरबार में दो फनकार थे-गोपालनायक और अमीर खुसरो। गोपाल नायक उस समय के संगीतज्ञों के सिरमौर थे। वे जब रियाज करते तो अमीर खुसरो उसे चोरी छुपे सुनकर अलग से अभ्यास कर लेते थे। एक दिन वह भी समय आया जब अमीर खुसरो ने जुगलबंदी के लिए गोपालजी को ललकार दिया। जुगलबंदी हुई और खुसरों ने गोपाल नायक को हरा दिया। अमीर खुसरो को ताजदारो मौसीकी की उपाधि से विभूषित किया गया और गोपाल नायक को गुजारे के लिए दिल्ली-मेरठ के बीच नवसाढ़ी में पाँच गाँव दे दिये गए। यही यमुना के किनारे दोहती कस्बे में गोपाल नायक 'ध्रुवपद' साधना में लग गए।

सम्राट अकबर के शासनकाल में भयानक अकाल पड़ा। भूख की शांति हेतु गोपाल नायक की पीढ़ियों ने 'दीने-इलाही' ग्रहण किया। कालांतर में जहाँगीर के शासनकाल में दोहती कस्बा यमुना जी की भीषण बाढ़ की चपेट में बह गया। अब धर्मपरिवर्तित गोपाल नायक का परिवार मुसलमान कहलाया, जिन्हें मुजफ्फरपुर के किराना (कौराना) नामक कस्बे में बसाया गया। इसी सम्प्रदाय के शिष्यों से किराना घराने ने जन्म लिया।

इसप्रकार 'घराना' शब्द की जड़े भारतीय संगीत में बहुत गहरे तक उतर चुकी हैं। घराने की सार्थकता भी एक सीमा तक है। यदि गुरू के परिप्रेक्ष्य में घराने को देखा जाय, न कि घराने के परिप्रेक्ष्य में गुरू को । गुरू हमारा परिचय संगीत सरोकारों से कराता है। संगीत संस्कृति के अनुरूप उठने बैठने से लेकर सुर की अतल गहराइयों तक हमारा मार्गदर्शन करता है। अतः गुरू के परिप्रेक्ष्य में घराने की एक आवश्यक भूमिका होती है, किंतु यह धारणा भ्रामक है कि किसी घराना विशेष में जन्म लेने वाला हर व्यक्ति विद्वान ही होगा। यह किसी भी दृष्टि से संभव नहीं, और यह भी संभव नहीं कि कोई प्रतिभा किसी घराने के खूँट में बंध जाने को अपनी नियति मान बैठे। सारी जकड़नों को झनझना कर तोड़ देना किसी प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का पहला काम होगा। चाहे बात किसी भी क्षेत्र की हो, उसके लिए खुली सोच का आसमान होना जरूरी है।

"लीक छोड़ तीनों चले, शायर, सिंह, स्यार' घराना किसी व्यक्ति की अपनी प्रतिभा, लगन एवं अथक प्रयासों के समन्वित रूप में उभरता है। उस कलाकार की कापिक संरचना, कंठ और सोच उसकी अपनी होती हैं। किसी व्यक्ति की सोच की संवहन-क्षमता भी उसकी अपनी होती है, जिसे वह अपने से भिन्न क्षमता वाले व्यक्ति पर थोपने का प्रयास करता है तो कोई ऐसा कारण प्रतीत नहीं होता जिससे उसे नकल न कहा जाए। सामनेवाला यदि प्रतिभाशाली है, और नकल में भी कुछ अकल लगाने लगा तो गनिमत अन्यथा सृजन-प्रक्रिया में घोर प्रतिरोध खड़ा हो जाए गा। यहाँ पर एक दूसरा प्रश्न भी उभरता है-"जड़ चेतन गुण-दोष भय"- कोई भी व्यक्ति इतना पूर्ण नहीं होता कि सृष्टि में गुण-दोष का समन्वय जब हो सकता है तो व्यक्ति की सृष्टि में क्यों नहीं? ऐसे में हम गुण-दोष दोनों का संवहन एक साथ करने लग जाते है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि गुणों के साथ दोष भी गुण होने

अतिथि प्राध्यापक संगीत विभाग शास. कन्या महा. सतना, मध्यप्रदेश

का भ्रम पैदा करते है। दोष में यदि रंजकता का अंश हो रहा हो तो व्यक्ति उस पर केंद्रित होने लगता है। फलतः सृजन-प्रक्रिया एक विपरीत धारा पकड़ लेती है। इन हालातों में हमें सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पहलुओं की समीक्षा करनी चाहिए। संगीत नये घराने को जन्म दे सकता है किन्तु घराना नए संगीत को जन्म नहीं। अतः घराना संगीत के लिए, न कि संगीत घराने के लिएं बहुधा लोग घराने को परंपरा के रूप में देखते है; लेकिन परंपरा वह धारा है जो अतीत से चली आ रही है और आगे की ओर बढ़ती चली आ रही है। परंपरा का अर्थ ठहराव कदापि नहीं। कलाएँ समय के साथ जीती हैं। अतः समय स्वयं कलाओं का मौलिक मापदंड निर्धारित करता रहता है।

हमें जो परंपरा प्राप्त है वह हमारे पूर्वजों के सदियों तक के मंथन का प्रसाद है। इससे हमें ठोस दिशा-निर्देश तो मिलता ही है। किंतु उसमें से कई बातें आज के संदर्भ में अप्रासंगिक हो चली है। उन्हें ढ़ोते भर रहने से कोई खास मकसद पूरा नहीं होता। एक विवेकशील व्यक्ति का उत्तरदायित्व यह होता है कि वह उपलब्ध पूँजी को बढ़ाये उसे फ्रीज करने को चतुराई नहीं कहते। उत्तराधिकार में जो कुछ मिला है उसे यथावंत बिना किसी संकल्प के यूँ ही स्वीकारने के नाम को परंपरा नहीं कहते, अपितु उसे निरंतर प्रवाहमान रहने का कहते हैं। परंपरा के संदर्भ में हमें भावुकता या अंधश्रद्धा के बजाए यदि तर्क और विवेक से काम लें तो भ्रम की स्थिति से उबरा जा सकता है। यह भी सोचने की बात है कि यदि आदमी सिर्फ घराना ही गाता-बजाता रह जाए, तो सृजन सदा-सदा के लिए अलविदा कह जाएगा। घराना कोई जड़ वस्तु नहीं है। वह भी समय के साथ चलता है। जहाँ सब कुछ परिवर्तनशील है वहाँ सिर्फ घराना स्थिर रहे या उसके मापदंडों में परिवर्तन न हो यह कहाँ संभव है। हम रीति-रिवाज, रहन-सहन, वेश-भूषा पर अत्याधुनिकता की हिमायत करते है; किंतु संगीत का नाम लेते ही चिपक जाते हैं घराने से और तथाकथिक परंपरा से। सारे आदर्श और सारे तर्क रख देते हैं ताक पर। यह क्या विरोधाभास नहीं हैं? कई गायक बड़े गर्व से घोषणा करते हैं कि वे अमीर खाँ या बड़े गुलाम अली का गाना गाते हैं। ऐसे में प्रश्न उठता है कि अमीर खाँ का गाना आप से सुनने के बजाए अमीर खाँ के ही स्वर सुनने में क्या बुराई है। ऐसे में आप की पहचान क्या होगी? श्रोता आस लगाये बैठे है आप का गाना सुनने के लिए और आप है कि अन्य का गाना सुनाने पर उतारू हैं।

पुराने जमाने में उस्ताद लोग अपने शागिर्द को किसी अन्य का गायन सुनने नहीं देते थे। उन्हें डर रहता था कि कही उस पर दूसरी गायकी की छाया न पड़ जाए। जब शागिर्द अपने घराने की गायकी में प्रवीण हो जाता तो उसे वैसी अनुमति दी जाती थी। इस तरह के चिंतन से समूची पीढ़ी के मानसिक विकास तो लग ही जाता है। सौंदर्य बोध से उसका यथा समय परिचय न होने की भरपाई पूरी पीढ़ी को करनी पड़ती है। कला में सौंदर्य बोध न हो, केवल व्याकरण ही उसका मूलधन हो तो वह गणित बनकर रह जाता। कला के विकास के लिए खुला आसमान चाहिए। उसे चाहिए उन्मुक्त सृजन ऐसा न हुआ तो संगीत 'संगीत' न रहकर केवल घराना रह जाएगा। "रागी, वागी, पारखी, नाड़ी और नियाव। इन पाँचों के गुरू सहीं उपजे अंग सुभाव"।

भोजपुर क्षेत्र की प्रचलित गीत विधा कजरी

डॉ. विजय कपूर

कजरी का इतिहास :- ग्रामीण क्षेत्रों में कहीं कजरी खेलने की, तो कहीं दुनमुनियाँ खेलने की प्रथा है। लोकजीवन में धान की रोपाई के बाद हाथ में कीचड़ ले कर, रोपाई करने वाली औरतें, किसान या भू मालिक को कीचड़ से पोतती हैं एवं उससे नेग लेतीं हैं। अर्थात कजरी खेलने का सम्बन्ध जल क्रीड़ा से भी है। जगह-जगह वर्षा का मटमैला जल एकत्रित रहता है वहीं पर कजरी खेली जाती हैं। वेद में भी जल क्रीड़ा का वर्णन होता है। अन्य संस्कृत ग्रंथों में भी जलक्रीड़ा का वर्णन प्राप्त होता है। कजरी का इतिहास सही रूप में पृथ्वीराज चौहान के समय में प्राप्त होता है। जयचन्द के दरबारी वीर आल्हा-ऊदल का सम्बन्ध भी कजरी से प्राप्त होता है। आल्हा चुनार भी रहे थे। यहाँ उनके द्वारा स्थापित देवी का मन्दिर भी है। परन्तु यह कहीं स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता कि कजरी गीत उनके साथ गाया अथवा कजरी नामक कोई नायिका थी। परन्तु महोबा में पिछले लगभग 100 वर्षों से कजरी महोत्सव का आयोजन होता चला आ रहा है। कुछ वर्ष पहले ही महोबा में कजरी का शताब्दी महोत्सव मनाया गया है। आल्हाखण्ड में एक स्थान पर वर्णन आता है कि उसकी रानी फुलवा कजरी गाती थी। साहित्य ग्रन्थों में सर्वप्रथम लक्ष्मीसखी की कविताओं में कजरी नामक गीत का वर्णन प्राप्त होता है। उनका भी कार्यकाल लगभग 500 वर्ष पूर्व का है। आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व अखाड़ेदारी परम्परा का प्रारम्भ कजरी में हो गया था। कवि शिवदास (1815 ई0 - 1915 ई0) जो प्रथम अखाड़ेदार मुहम्मद की तीसरी पीढ़ी के शिष्य थे। आज शिवदास की चौथी पीढ़ी भी छः दशक पार कर चुकी है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि दो सौ वर्षों से कजरी गीतों में मर्दानी कजरी का वर्चस्व प्रारंभ हुआ। ऐसे प्रमाण भी मिलते है जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि कजरी लगभग 1000 वर्ष पूर्व से गायी जा रही है। इसके पूर्व के प्रमाणों की खोज अभी बाकी है।

कजरी के प्रकार :- कजरी का नित्य विकास होने के कारण इसका वर्गीकरण आवश्यक हो गया है। अन्यथा अंतर करना कठिन हो जाता है कि कजरी जनानी है या मर्दानी, मिर्जापुरी है या बनारसी। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर कजरी का वर्गीकरण आवश्यक हो जाता है। आज कजरी गायन की कई विधायें प्रचलित हैं और कई लुप्त हो रही हैं। कुछ को तो लोकगायकों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों की लोकगीत विधाओं से भी मिला दिया जा रहा है। अतः कजरी का वर्गीकरण करते समय उसके निम्नलिखित वर्ग बनाये जा सकते हैं।-

जनानी कजरी :- प्रधानतः कजरी स्त्री गीत है, और कई सौ वर्षों तक उसका पालन-पोषण, परिवर्द्धन नारी समाज के द्वारा ही होता रहा है। वर्षा की प्रथम बूँदों के समय से दुनमुनियाँ के रूप में प्रारम्भ होकर भाद्रपद तीज एवं बहुला तक यह गीत स्त्रियों के ही गतिविधियों, क्रियाकलापों के साथ ही संचालित होता था। विभिन्न रूपों में दुनमुनियाँ, चौलर, झूमर एवं झूले के साथ कजरी पुष्ट एवं परिपक्व होती रही है। देवी पूजा के साथ सुख समृद्धि एवं मंगलकामना के

संगीत एवं मंचकला संकाय काशी हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी

गीत, घर परिवार की समस्या, प्रेम विनोद, जीवन के सुख-दुःख, अनुभव, मान-मनुहार, लालसा-जिज्ञासा, श्रृंगार के दोनों पक्ष-संयोग-वियोग आदि इसके विषय थे। अधिकांशतः कजरियों में बलमू, हरी, ना,सांवरिया, जीरवा, झालरिया, लोय, ननदी, आदि टेक अंत में या पहले आते हैं। इसे प्राचीनतम जनानी कजरी का ही रूप समझना चाहिये। जनानी कजरी के शब्द सहज, त्वरित प्रभावोत्पादक अपील करने वाले होते हैं। लोकगीत की अधिकांश विशेषतांए इन कजरियों में मिलती है। वैयक्तिकता का प्रायः अभाव रहता है। गीतकार का नाम वर्णन नहीं होता।

जनानी कजरी के भी कई रूप हैं। प्राचीन समय में समाज कई वर्गों में विभक्त था। सभी की अपनी मर्यादा थी। कजरी के साहित्य के प्रथम उन्नायक श्री बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमधन' के कजरी कादम्बिनी में कई धुनों का वर्णन करते हुए सबके अलग-अलग लयों का वर्णन किया है। जैसे- गौनहारिनों की लय, गृहस्थिनियों की लय, नटिनी लय, बनारसी लय, रेडियो की लय आदि। उनके लय शब्द का तात्पर्य है 'धुन'। इन सबकी अलग अलग धुनें थीं। उस समय सामान्य लोक नारी की कजरी एवं सभ्य सुशिक्षित घर के नारी की कजरियों में भी थोड़ी बहुत भिन्नता अवश्य होती थी।

मर्दानी कजरी :- मर्दानी कजरी का इतिहास बहुत प्राचीन नहीं है। कथानक और विषय बाहुल्य की दृष्टि से, अथवा कजरी के प्रचार और प्रसार करने में मर्दानी कजरी ने अहम भूमिका निभाई है। कजरी के सीमा क्षेत्र, वर्ण्य विषयों, स्वरों एवं धुनों का विस्तार होने लगा। कजरी-परिवार समाज से आगे बढ़ कर देश, राजनीति आन्दोलन, सामाजिक समस्याओं साहित्यिक क्षमता में अपनी उपादेयता सिद्ध करने लगी। जो कजरियाँ मैके से ससुराल तक की सीमा क्षेत्र में बंधी थी, बाहर निकली तथा उसका साहित्यिक पक्ष भी सुदृढ़ होने लगा। नई धुनों का भी आविष्कार होने लगा। आध्यात्मिक, पौराणिक आख्यान भी कजरी की परिधि से बाहर नहीं रह गये। कजरी दंगलों का भी प्रचार मर्दानी कजरी के कारण ही हो सका। कजरी का विकसित रूप जो हमें उपशास्त्रीय रूप में प्राप्त होता है, इसमें भी जिन लोगों के सहयोग से कजरी यहाँ तक पहुँची, वे मर्दाना कजरी से ही प्रभावित थे। कजरी के मर्दाने स्वरूप में, जनानी धुनों को तो लिया ही गया शेरों शायरी एवं शास्त्रीय धुनों तथा रागों का भी प्रभाव पड़ा।

उपशास्त्रीय कजरी :- कजरी के विकास को मुख्य रूप से तीन अवस्थाओं में रखा जा सकता है। जनानी कजरी, मर्दानी कजरी एवं उपशास्त्रीय कजरी। कजरी के अखाड़ेदारी परम्परा के प्रारम्भ होने पर मिर्जापुर के अखाड़े से श्री लालता महाराज ने बनारस में अपना अखाड़ा स्थापित किया। लोकजनमानस के साथ-साथ कजरी कुलीन वर्ग व संभ्रान्त वर्ग द्वारा भी बड़े चाव से सुनी जाने लगी। भारतेन्दु बाबू एवं काशी नरेश श्री ईश्वरी नारायण सिंह इससे अछूते नहीं रहे। मिर्जापुर में उस समय बदरी नारायण चौधरी कजरी के विकास के लिए अत्यधिक प्रयत्शील थे। भारतेन्दु बाबू ने साहित्यिक कजरियाँ लिखीं, अपने मित्र मंडली को प्रेरित किया और बनारस की गुणी तवायफों एवं शास्त्रीय गायकों को कजरी की तरफ ध्यान देने की प्रेरणा दी। उन्हें पुरस्कृत करके कजरी को परिमार्जित रूप में देखने-सुनने के लिए अनेक कार्यक्रम कराये। उनकी प्रेरणा एवं लोगों की कजरी के प्रति बढ़ते लगाव के कारण कजरी को शास्त्रीय एवं उपशास्त्रीय कलाकारों ने अपनाया। इस प्रकार कजरी दिनों दिन विकास करने लगी और वर्षा के समस्त आयोजनों में ठुमरी की जगह कजरी ने ले ली। लोक और शास्त्र का सुन्दर मिश्रण लोगों द्वारा और भी सराहा गया। गंगूबाई हंगल, शोभा गुर्टू आदि कलाकारों ने इसे अपनाया और यह दिनों दिन पुष्ट होती चली गई।

कजरी का क्षेत्र :- कजरी गाने का प्रमुख क्षेत्र मिर्जापुर से प्रारम्भ होकर उ. प्र., बिहार, मध्य प्रदेश तक ही है। कजरी मिर्जापुर से रीवाँ सीधी-सरगुजा क्षेत्र में लोकप्रिय होते हुए ग्वालियर तक पहुँच गयी। इसके विकास में लोगों के परिवारिक सम्बन्ध का प्रमुख स्थान है। मिर्जापुर के लड़कियों की शादियाँ उन क्षेत्रों में हुई या उधर की लड़कियाँ विवाहित होकर यहाँ आतीं, तो इस प्रकार जनानी कजरी का प्रसार जहाँ जहाँ सम्बन्ध बने, वहाँ तक फैलता

गया। ये मेरे मैके की कजरी है, अथवा वहाँ से लौटी बहुवें अपने पितृ घर में जाकर अपने ससुराल की कजरियाँ वहाँ सुनातीं थी।

दूसरा प्रसार का माध्यम गंगा नदी के द्वारा जो व्यापार होता था, यहाँ के लोग व्यापार करने, गंगा के रास्ते इलाहाबाद होते हुए उत्तर की तरफ एवं पूरब बिहार, बंगाल तक गए। उनके साथ भी कजरी वहाँ तक गयी। तीसरा प्रसार माध्यम आश्विन नवरात्रि में विन्ध्याचल का मेला है। जिसमें पूरब से लोग आते थे, आज भी शारदीय नवरात्रि में बिहार, बंगाल और आसाम से दर्शनार्थी अधिक आते हैं। अतः उनके साथ कजरी वहाँ तक फैली। चैत्र नवरात्रि में पश्चिम मध्य प्रदेश, झाँसी तथा बुन्देलखण्ड से दर्शनार्थी आते हैं। आश्विन तक कजरी का गायन चलता रहता है। अतः उनके द्वारा कजरी बिहार तक पहुँच गयी।

चौथा प्रसार का माध्यम मर्दाना कजरी के गायक बने। अखाड़े एवं प्रतिद्वंदिता ने भी कजरी का यश महाराष्ट्र तक फैलाया एवं कजरी को लोकप्रिय बनाया।

पांचवाँ माध्यम बनारस के शास्त्रीय एवं उप शास्त्रीय कलाकारों के द्वारा कजरी समस्त भारत में प्रचलित एवं प्रसारित हुई।

कजरी का सांगीतिक पक्ष :-

उपशास्त्रीय कजरी का आधार ही राग है। इसमें वर्षाकालीन राग के अतिरिक्त जिन-जिन रागों में ठुमरी गायी जाती है लगभग उन सभी रागों में कजरी भी गायी जाती है। कुल मिलाकर देश, काफी, पीलू, भैरवी, खमाज, गारा, धानी, झिंझोटी, जैजैवन्ती, तिलककामोद, वृन्दावनी सारंग आदि रागों में कजरियाँ गायी-बजायी जाती रही हैं। कजरी का गायन प्रायः एक राग में ही न रहकर, दूसरे रागों के स्वर प्रयोग से भी श्रृंगारिक होता रहा है। एक-एक कजरी में चार-चार धुनों का भी समावेश होता रहा है।

<u>ताल</u> :- लोक कजरी में जो ताल प्रयोग होते हैं, उनमें प्रमुख हैं- दीपचंदी, खेमटा, दादरा एवं कहरवा। कभी-कभी स्थायी को कहरवा में, अन्तरा को दादरा ताल में तो कभी स्थायी को दादरा एवं अन्तरा को कहरवा में भी गाते हैं। कभी-कभी स्थायी दीपचंदी एवं अन्तरा कहरवा में भी गाते हैं। उपशास्त्रीय कजरी में जत, अद्धा, दीपचंदी, दादरा, कहरवा आदि ताल प्रयुक्त होते है। बढ़त के समय लग्गी-लड़ी एवं बाँट भी बजाते हैं।

<u>संगत वाद्ययंत्र</u> :- कजरी गायन की लोक शैली में आज से चालीस साल पूर्व तक हारमोनियम का प्रयोग नहीं था। ढोलक, चंग डफ एवं झांझ बजाकर कजरी गाते थे। क्लोरनेट, हारमोनियम एवं बैंजो बाद में जुड़ता गया। अब शहनाई एवं अन्य वाद्ययंत्र भी सम्मिलित होते जा रहे हैं। उपशास्त्रीय शैली में सारंगी, तबले एवं हारमोनियम की संगत भी ली जाती है।

वाल्मीकि रामायण में छन्द प्रयोग

डॉ. आशू गौतम

छंद वेद के छः अंगों में से एक है। उसे वेद के चरण कहा गया है- 'छंदः पादौ तु वेदस्य।' इससे काव्यांश के रूप में छंद की प्राचीनता और अनिवार्यता दोनों ही प्रकट होती है। मनुष्य के भाषावेग प्रकट होते समय प्रायः छंद का रूप ग्रहण कर लेते हैं। उनमें 'अनायास ही लय-ताल और प्रायः तुकबन्दी भी आ जाती है। क्रौंच के प्रसंग से आदिकवि के मुख से अनायास फूट पड़ने वाला सुव्यवस्थित श्लोक इसका प्रमाण है। गायत्री छंद के विषय में भी ऐसा ही कहा जाता है कि गायन की चेष्टा में अचानक छंदमयी वाणी फूट पड़ी थी। मन की सूक्ष्म, संवेदनमयी सुकोमल भावनाओं को लपेटने के लिए छंद आवरण और आश्रय का कार्य करता है। कवि की वाणी छंद का आश्रय पाकर अजर और अमर हो जाती है। यदि ऐसा ना होता तो, न तो वैदिक वाड़गमय हमारे पास सुरक्षित रहता और न ही वाल्मीकि रामायण और अन्य पुरातन ग्रन्थ। छंद का संगीत से घनिष्ट सम्बन्ध है। इसका प्रमाण भी वाल्मीकि रामायण से मिलता है। जो गाने और पढ़ने में अत्यन्त मधुर संगीत के तीन लय-द्रुत, मध्य और विलम्बित से युक्त सातों स्वरों में बंधी हुई और वीणा आदि पर गाने योग्य रचना मानी गई है। संगीत शास्त्र में गाने की दो विधाएँ होती हैं। एक-लयात्मक और दूसरी-स्वरात्मक। पहले वर्ग में ताल होता है। जिसका सीध सम्बन्ध छंद से है। वाल्मीकि रामायण के विषय में यह तो प्रसिद्ध ही है कि कुशीलवों ने गा-गा कर रामायण का प्रचार किया था।

छंद का मूल तत्व लय है जो कि संगीत से जोड़ता है। वस्तुतः लय ही संगीत की आत्मा है। छंद में लय का संचार उपयुक्त यतियों के द्वारा होता है इस प्रकार छंद का अंतरंग है, लय और बहिरंग है यति। यति पर लघु-गुरू की योजना होती है। यति से सम्बन्धित ही छंद का दूसरा तत्व गति है। जिसमें विशिष्ट वर्णाक्रम अर्थात् अनुप्रास योजना का भी योग होता है। वैदिक साहित्य सभी छंदों का मूलआधार हैं। उनमें भी अनुष्टुप सर्वप्रधान है,

जिसका विकास त्रिष्टुप, जगती और गायत्री से हुआ। परन्तु वैदिक छंद विधान अत्यन्त स्वच्छन्द था। इसमें केवल अक्षर संख्या का ही नियम था और छंद का सौन्दर्य, स्वरित, उदात्त और अनुदात्त के आधार पर उच्चारणकर्ता के कण्ठ पर ही निर्भर करता था। लौकिक साहित्य में वर्णवृतों को प्रधानता मिली। जिनमें लघु-गुरू के क्रम का महत्व बढ़ गया और साथ ही मात्रिक छंद प्रयोग में लाये गये। मात्रिक छंदों में मात्राओं को विशेष महत्व प्राप्त हुआ और तुक का भी गौरव बढ़ा। वाल्मीकि रामायण के प्रचलित संस्करणों में तीनों प्रकार के छन्द मिलते हैं जहां तक वाल्मीकि रामायण की बात है, उसमें उन्होंने अनुष्टुप छंद को ही अपनाया है। विद्वानों का कहना है यही सबसे प्राचीन अर्थात छंद परिवार का आदि पुरूष है। वैदिक अनुष्टुप को आदि काव्य में शौक की व्यंजना करते हुए 'मा निषाद' के रूप में श्लोक की संज्ञा प्राप्त हुई, अनुष्टुप के स्थान पर तब से श्लोक शब्द ही चला आ रहा है। यह ऋग्वेद के

असिस्टेंट प्रोफेसर के.यू.पी.जी.आर.सी., जालंधर

तीन प्रधान छंदो में से एक है, संख्या के विचार से ऋग्वेद में सबसे अधिक प्रयोग त्रिष्टुप का, उसके बाद जगती का और उसके बाद अनुष्टुप का हुआ है। वाल्मीकि ने तो रामायण में इसका सबसे ज्यादा प्रयोग किया। कुछ विद्वानों का विचार है कि वैदिक अनुष्टुप वर्णाक्रम से नियंत्रित होकर संस्कृत में श्लोक ही नहीं बना, बल्कि आगे चलकर यह गाथा और आर्या बना तथा हिन्दी में पहुँचकर यह दोहा बन गया।

इसका विपरीत स्वरूप सोरठा है। यह एक पृथक खोज का विषय है, परन्तु इससे अनुष्टुप के महत्त्व का आभास मिलता है। राम के नाम से सम्बन्धित होकर यह और भी पुनीत हो उठा। व्याकरणों, दार्शनिकों और अलंकारिकों ने भी इसी का मात्रिक रूप आर्या, तथा कारिका के नाम से प्रयुक्त किया है। यह श्रेय वाल्मीकि को ही है कि उन्होंने राम को लोकप्रिय अमर काव्य नायक और उनके कीर्तिगायक श्लोक को अमर छंद नायक बना दिया। वैदिक युग का यह छंद आज तक भारतीय भाषाओं में परिव्याप्त है। वाल्मीकि रामायण का छंद अनुष्टुप या श्लोक है। वाल्मीकि ने आधन्त अनुष्टुप का प्रयोग किया है। वाल्मीकि ने अनुष्टुप के विविध प्रयोग किये हैं अथवा यह कहना भी उपयुक्त है कि कथा की परिस्थिति के अनुसार उन्होंने छंद के एक निश्चित नियम में ना बन्ध कर, उसका उल्लंघन भी किया है। अनुष्टुप या श्लोक का नियम वाल्मीकि रामायण के आधार पर ही निर्धारित हुआ है। जिसके अनुसार प्रत्येक चरण का पांचवा अक्षर लघु, छठा दीर्घ और प्रथम तृतीय चरण का सातवां दीर्घ तथा द्वितीय-चतुर्थ का सातवां लघु होना चाहिए। वाल्मीकि के अधिकांश श्लोक इसी प्रकार के हैं परन्तु कुछ स्थानों पर इस नियम का उलंघन हुआ है। वाल्मीकि ने आवश्यकता के अनुसार लघु-गुरू के स्थान-विषयक विविध प्रयोग किये हैं जिन्हें विपुलता, पथ्या, आदि जाति के श्लोक कहा गया है। वाल्मीकि रामायण के कुछ सर्गों के अन्त में अधिकांशत त्रिष्टुप या जगती, अथवा दोनों का प्रयोग किया गया है। वे दोनों छंद अनुष्टुप के विकास हैं, तीन अक्षरों की वृद्धि से त्रिष्टुप और चार अक्षर की वृद्धि से जगती बन जाता है। अतः वाल्मीकि ने रामायण में इनका प्रयोग किया है।

प्रचलित वाल्मीकि रामायण में अक्षर-छंद अनुष्टुप के अतिरिक्त अनेक प्रकार के वर्णावृत और मात्रिक छन्दों का भी प्रयोग हुआ है। इस सभी छन्दों में से त्रिष्टुप और उसके बाद जगती की संख्या सबसे अधिक है। त्रिष्टुप छन्दों में काव्य सौन्दर्य भी विशेष रूप से निखरा हुआ दिखलाई पड़ता है और उनके लिए चुनाव भी विशेष रूप से भावपूर्ण, अदभुत और मार्मिक प्रसंगों का किया गया है। प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण (किष्किंधा काण्ड में वर्षा और शरद के वर्णन तथा सुन्दर काण्ड के 5 वें सर्ग में चन्दमा वर्णन) पुष्पक विमान का वर्णन (सुन्दर काण्ड सर्ग 7.8) और सीता-विलाप (सुन्दर काण्ड सर्ग 28) का वर्णन त्रिष्टुप छन्दों में किया गया है। इनमें विषय की आवृति है और अलंकरण का अतिरेक है। अतः वाल्मीकि की काव्य शैली में इन्हें भिन्न मानकर प्रक्षिप्ताओं को स्थान दिया गया है। प्राकृतिक चित्रण वाल्मीकि की एक विशेषता है और प्रकृतिगत सौन्दर्य के दर्शन से भावविभोर होने पर कवि की अभिव्यक्ति में कुछ नवीनता का आ जाना स्वाभाविक है। जिस कारण वह इतिवृत के लिए चुने गये।

वाल्मीकि रामायण में छन्दों का संगीत के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में रामायण के संगीत गुण का उल्लेख हुआ है, रावण राज के महलों में संगीत सुनाई पड़ता है (5.4.10. 12) और वाल्मीकि के अप्रस्तुत विधान में भी संगीत को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। उनके छंद-विधान का भी विशेष गौरव उसके संगीत तत्व में है, परन्तु वह शास्त्रीय रागाश्रित न हो कर, सहज लयात्मक भावाश्रित संगीत है। वाल्मीकि रामायण के संगीत तत्व की चर्चा सब ने की है, पर शास्त्रीय दृष्टि से उसका विवेचन किसी ने नहीं किया है।

बालकाण्ड में तथा सुन्दर काण्ड में ताल, लय तथा तीन स्वरों का उल्लेख है। श्री सी. बी. वैद्य उसे प्रधानतः वाद्य-यन्त्र पर गेय रचना मानते हैं उनका कहना है कि वाल्मीकि ने अनुष्टुप को श्लोक में परिणत करते हुए, उसमें एक सुनिश्चित लय का संचार किया है। वास्तव में लय ही वह तत्व है, जो साहित्यिक संगीत को शास्त्रीय संगीत से जोड़ता है क्योंकि लय का सम्बन्ध ताल के साथ होता है। छंद में लय यति के द्वारा उत्पन्न होती है। यति दो प्रकार की होती है। पूर्णक और लयात्मक। पूर्णक यति छंद के अन्त में होती है और लयात्मक मध्य में । वैदिक छन्दों में पूर्णक यति का ही नियम था, वाल्मीकि ने माध्यमिक यति के प्रयोग द्वारा लय के रूप में संगीत तत्व की वृद्धि की, जो कि लौकिक संस्कृत साहित्य से संबधित हुई और फिर प्राकृत और अपभ्रंश में मात्रिक छंदो का उत्कर्ष होने पर उनमें पूर्णक यति में अन्तयानुप्रास या तुक का प्रयोग होने पर छन्दात्मक संगीत की ओर भी अधिक वुद्धि हुई। अतः हम कह सकते हैं कि वाल्मीकि रामायण के छन्दों में उत्कृष्ट संगीत, सहज और काव्य के अनिवार्य उपादान के रूप में विद्यमान है।

कथक नृत्य एवं भित्ति चित्रों और शैल चित्रों में संगीत एवं नृत्य की भूमिका

डॉ. संजय कुमार सिंह

कथक शब्द प्राचीन परम्परागत शास्त्रीय नृत्य शैलियों में से एक है। ऐतिहासिक दृष्टि से कथक शब्द सर्वप्रथम 'महाभारत' में प्राप्त होता है, किन्तु वहॉ 'कथक' व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में प्राप्त होता है। वहॉ नृत्य की कोई चर्चा प्राप्त नहीं होती है। 'कथक' शब्द के बिषय में यह कहावत प्रचलित है कि - 'कथा कहे सो कथिक कहावे' अर्थात पौराणिक कथाओं को मन्दिरों में नृत्य संगीत के माध्यम से सुनाने वाले 'कथिक' कहलाते थे।

वस्तुतः कथक नृत्य अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व बोध के लिये 'कथक' शब्द पर ही अविलम्बित है। संस्कृत, पाली, प्राकृत के अतिरिक्त नेपाली भाषा के साहित्य व शब्दकोशों में प्राप्त अर्थ परम्परा कथक शब्द को मुख्यतः तीन विशेषताओं से सम्बद्ध करती है- कथा, अभिनय और उपदेश । अतः कथक वह व्यक्ति विशेष है, जो लोकोपदेश के लिये अभिनय के माध्यम से कथा प्रस्तुत करे।

संस्कृत के शब्दकोशों में 'कथक' एक और पर्यावाची शब्द 'कुशीलव' प्राप्त होता है जो इन कथकों के उद्‌भव की ओर संकेत करता है। कहा जाता है कि भगवान राम के दरबार में लव और कुश ने महर्षि वाल्मीकि रचित रामायण गाकर और उससे जन मानस को प्रभावित कर अपने छीने हुये अधिकारों को प्राप्त किया था तब इसी को माध्यम बनाकर जिन कथकों (कथाकारों) ने संगीत द्वारा इसे अपने आजीविका के लिये अपनाया वे लव-कुश की पावन स्मृति में कुशीलव कहे जाने लगे। इस प्रकार नाट्य कला के प्रचार 'कुशीलव वृत्ति' के जनक होने से वाल्मीकि ऋषि ही प्रथम कथक कहे जाते हैं।

अतः प्राचीनकाल में 'कथक' का आरम्भ अयोध्या के वैष्णव मन्दिरों से माना जाता है। मुख्यतः उस समय इसका स्वरूप कथा- वाचक जैसा था जिसमें कथिक जाति के कलाकार देवदासियों को नृत्य की शिक्षा प्रदान करने के अतिरिक्त आंगिक अभिनय एवं वाचिक अभिनय द्वारा पौराणिक कथायें प्रस्तुत करते थे। यह परम्परा अब भी स्फुट रूप में अयोध्या तथा उत्तर-प्रदेश के अन्य भागों में जीवित हैं। लगभग ईसा की 7 वीं शताब्दी से 17 वीं शताब्दी के मध्य के जितने भी संगीत शास्त्रीय ग्रन्थ है उन सभी में 'कथकों' का उल्लेख कथावाचक, देशीगायक तथा वैष्णव गायक के रूप में ही प्राप्त होता है ना कि नर्तक के रूप में। वस्तुतः इस काल में भक्ति-भाव की प्रधानता होने के कारण नृत्त-पक्ष बहुत जटिल न होकर साधारण था किन्तु जब भी 13 वीं शताब्दी के लगभग इस्लामी सत्ता का प्रवेश हुआ तब भारतीय सभ्यता, संस्कृति व कला के क्षेत्र में सबसे अधिक प्रभाव कथक नृत्य पर पड़ा जिससे देश,काल व परिस्थिति के अनुसार इन कथकों में भी संकुचित मनोवृत्ति और व्यक्तिवाद का प्रसार होने लगा तथा विविध नृत्य-गीतों का उद्‌भव हुआ। मंदिरो के टूटने से ये लोग क्रमशः बिखरने लगे और हिन्दु मुस्लिम दरबारों में पहुँच गये और उन्हीं की रूचि के अनुसार नृत्यों का सृजन करने लगे। इस प्रकार नवाबों के दरबारों में कथक नृत्य को संरक्षण व प्रोत्साहन मिला और उसका चहुमुँखी विकास हुआ। इसमें नृत्त एवं अभिनय दोनों ही पक्षों में सूक्ष्मता, जटिलता और कलात्मक सौन्दर्य की वृद्धि हई।

इसी युग में संगीत जगत में बहुशः व्याप्त 'घरानेदारी' की प्रथा का आरम्भ हुआ। हिन्दु राजाओं

असिस्टेंट प्रोफेसर विभागाध्यक्ष, गायन विभाग, रा.मा.तो.सं.एवं क.वि.वि. ग्वालियर, म.प्र.

के दरबारी कथकों की परम्परा को 'जयपुर घराना' तथा मुस्लिम दरबारों की नृत्य परम्परा को 'लखनऊ घराने' के अन्तर्गत माना गया।

सर्वप्रथम सन् 1854 ई. के 'मआदनुल मूसीकी' नामक ग्रन्थ में कथक और नृत्य को एक संदर्भ में, एक-दूसरे के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट रूप से कहा गया है। यह तथ्य इस ग्रन्थ में प्राप्त कुछ प्रसिद्ध नृत्यकार जिसमें लखनऊ के कथक प्रकाश जी, पुत्र दुर्गा जी मानसिंह एवं ठाकुर जी इत्यादि नामों से प्रमाणित हो जाता है।

कथक मुख्यतः एकल नृत्य हुआ करता था किन्तु आधुनिक काल में इसमें युगल नृत्य व सामूहिक नृत्य संरचनाओं का भी समावेश हुआ है। आधुनिक काल में कथक नृत्य के तीन घराने हैं-

(1) लखनऊ घराना
(2) जयपुर घराना
(3) बनारस घराना

जयपुर तथा बनारस घराने का विकास 'लखनऊ घराने' से ही हुआ है। जयपुर घराने के लच्छु और शम्भू महाराज 'अभिनय कला' के सम्राट माने जाते हैं। इन्हीं के पितामाह महाराज ठाकुर प्रसाद के द्वारा लखनऊ घराने की नीव पड़ी जो लखनऊ के नवाब वाज़िद अली शाह के दरबारी आचार्य थे। लखनऊ के नवाब वाज़िद अली शाह को कथक घराने के वास्तविक इतिहास का प्रवर्तक माना गया है। इनके दो पुत्र महाराज कालकाप्रसाद और बिन्दादीन ने अनेक भजनों, ठुमरियों, होरियों तथा नृत्य-बोलों की रचना की। स्वर्गीय कालका प्रसाद के तीन पुत्र - स्व. अच्छन, लच्छन तथा शम्भु महाराज इसी घराने में सर्वत्रेष्ठ आचार्य हैं।

कथक नृत्य अपने प्रस्तुतीकरण में जितना स्वतंत्र है उतनी कदाचित कोई भी नृत्य शैली नहीं है। कथक नृत्य में भिन्न-भिन्न भावनाओं व मनोस्थिति को दर्शाने के लिये नायक-नायिका को माध्यम बनाया जाता है जो किसी भी कथानक में मुख्य भूमिका निभाते हैं। मोटे तौर पर कथक नृत्य का प्रदर्शन दो भागों में विभाजित किया जा सकता है (1) नृत्त पक्ष (2) अभिनय पक्ष

कथक नृत्य का आरम्भ उसके नृत्त पक्ष से ही होता है जिसके अन्तर्गत ठाट, आमद, बोल,तोड़े-टुकड़े परन, ततकार, का प्रस्तुतीकरण सामान्य रूप से किया जाता है। कथक शैली में घुँघरूओं का वास्तविक प्रयोग किया जाता है वह संसार में अद्वितीय है। तबला-पखावज़ से निकलने वाले एक -एक बोल को ये कथक नर्तक बहुत सफाई के साथ अपने घुघंरूओं से प्रतिध्वनित करते हैं। कथक नृत्य में पद-संचालन घुंघरू पर निर्भर करता है। घुंघरू की ध्वनि को 'श्रृजंन' कहते हैं। कथक नृत्य में प्रत्येक बोल के अन्त में तिहाई होती है जो भ्रमरों या चक्री से ही सम्पन्न होती है।

अभिनय या भाव प्रदर्शन के अन्तर्गत गत-निकास गत-भाव और ठुमरी भाव, पदाभिनय प्रस्तुत किया जाता है। गत भाव में श्री कृष्ण लीला का निरूपण हस्त तथा मुख की भांगिमाओं द्वारा किया जाता है जिसमें अकेला नर्तक ही विभिन्न पात्रों का अभिनय करते हुये एक पूरी कहानी प्रस्तुत करता है।

इसमें पैर से केवल लय दिखाने वाला आघात किया जाता है जबकी ठुमरी भाव व पदाभिनय में नर्तक या नर्तकी किसी ठुमरी, दादरा या भजन के शब्दों को गाकर मुद्रा व भावों से व्यक्त करते हैं। इस प्रकार कथक नृत्य में ध्रुपद व ख्याल की संगत रहती है और स्वर, तान,बोल तराना तथा मृदंग व तबला-पखावज के बहु विचित्र 'टुकड़े' एवं 'परन' आदि के साथ विविध छन्द व ताल में इसे प्रस्तुत किया जाता है। नर्तक व नर्तकी ताण्डव, लास्य नाट्य व अभिनय सभी का समन्वय करते हुये अति विलम्बित से अति द्रुत लय में यह नृत्य सम्पन्न करते हैं। कथक नृत्य की वेशभूषा पर मुगलकालीन दरबारी प्रभाव है। पुरूष नर्तक चूड़ीदार पैजामा, कुर्ता या अगंरखा पहनते हैं और कमर में दुपट्टा बांधते हैं तथा सिर पर साफा या दुपल्ली टोपी होती है। स्त्रियों की वेशभूषा के आजकल तीन रूप प्रचलित हैं- (1) साड़ी, (2) लहंगा-चोली व दुपट्टा (3) मुगल अंदाज का चूड़ीदार पैजामा, जाकेट व दुपट्टा जिसे 'पेशवाज' कहा जाता है। गले, कान व हाथों में उपयुक्त आभूषण भी धारण किये जाते हैं।

कथक नृत्य का वाद्य-वृन्द बहुत सीमित होता है इसमें तबला, पखावज एवं सारंगी का प्रमुख स्थान है।

कथक सम्पूर्ण उत्तर-भारत की प्रतिनिधि शास्त्रीय नृत्य शैली है। भारतीय इतिहास के समस्त राजनीतिक

व सांस्कृतिक परिवर्तनों का इस पर गहरा प्रभाव पड़ा। अतः इसमें योग और भोग दोनों का चरम विकास देखा जा सकता है। वर्तमान युग में इस नृत्य को एक नवीन संस्कार देने का गम्भीर प्रयास चल रहा है। श्री शम्भू महाराज, श्री बिरजू महाराज, श्री गोपीकृष्ण, सितारा देवी, दमयन्ती देवी, कृष्ण कुमार आदि वर्तमान युग के प्रसिद्ध कथक नृत्य कलाकार हैं।

कथक शिक्षक- मेनका, कार्ल खाण्डेवाल, मनीषी डे, विष्णु शिरोडक, रामचन्द्र गांगुली आदि।

इसी प्रकार भित्त चित्रों और शैल चित्रों में संगीत एवं नृत्य की कलाओं का क्रमिक विकास हजारों वर्षों से लगातार होता रहा, भारतीय चित्रकला शैल चित्रों से विकसित होते हुए अजंता जैसी समृद्ध भित्ति चित्रों तक आई, वहीं उसके बाद चित्रकारों ने अपने अनुभवों से भित्ति जैसे विशाल अंतराल से सिमटकर ताड़तत्र जैसे सकरें अंतराल में चित्र बनाने की दिशा में नये मार्गों की खोज की।

शैल चित्र विश्व में मानव की कला अभिव्यक्ति के प्रारम्भिक प्रमाण हैं, पृथ्वी पर समस्त जीव अपने को किसी न किसी से अभिव्यक्त करते हैं। मनुष्य के लिए भारतीय शास्त्रों में 64 कलायें बताई गई हैं, जो मनुष्य जिसका गुणी होता है,वो उस कला के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करता है। चित्रकार चित्रों के माध्यम से नर्तक नृत्य के द्वारा गायक गायन के माध्यम से व्यक्त करते हैं।

भारतीय कला का रंजन-मनोरंजन करना लक्ष्य नहीं रहा, अपितु विश्लेषण एवं अंतर उद्बोधन भारतीय कला में अपूर्व रही है। चित्रों व मूर्तियों में गायन, वादन, नृत्य के प्रमाण प्राचीन काल से दिखाई देते हैं जो शैल चित्रों से मोहन जोदड़ो से प्राप्त नर्तकी की कांस्य प्रतिमा (9 से.मी) में दिखाई देता है। इसका दाहिना हाथ कमर पर और बांया पैर ताल देने की मुद्रा में मुड़ा हुआ है, और जोगीमारा गुफा (सिरगुजा-म.प्र तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व) के भित्ति चित्रों में एक नर्तकी का चित्र था उसके चारों ओर गायन वादन में रत अन्य मानव आकृतियॉ पालथी मारे बैठी थीं। गुप्तकालीन सुप्रसिद्ध शासक समुन्द्रगुप्त का वीणा बजाते हुए शिल्प संगीत एवं कला प्रेम का प्रतीक है। कल्प-सूत्र (1475 ई. गुजरात) में रागमाला के उदाहरण प्राप्त हुए हैं। इसकी आकृतियॉ सीमाबद्ध शैली में कठपुतलियों के समान हाथों में विभिन्न वस्तुएँ धारण किये हुए हैं। पैरों के समीप वाहन के रूप में पशु आकृतियॉ हैं।

इस परिवर्तन का प्रभाव शैली तथा तकनीकी दोनों पर पड़ा, और एक प्रकार से चित्रकला के नये इतिहास का अंकुर लघु चित्रों के रूप में फूटा।

मध्य काल में ग्रन्थों पर आधारित चित्रण कल्पसूत्र, कालकाचार्य कथा, नियमतनामा, गीतगोविन्द, रसिकप्रिया, यथारागार्णव, हनुमानमत, रागतरंगिणी, संगीत रत्नमाला, सारसंहिता, मानमनोरंजन, मानकुतूहल तथा रागमाला ग्रन्थ-तानसेन, रागरत्नाकर आदि ग्रन्थों पर आधारित चित्रों में संगीत, प्रेम भक्ति से संबंधित चित्र बनाये जाने लगे, इस प्रकार रागमाला चित्रों का सृजन शुरू हुआ जिसकी परिणामी कृतियॉ शास्त्रीय संगीत के विभिन्न पक्षों का चित्रांकन करती है। इस चित्रांकन का मूल आधार राग और रागिनियॉ रहे हैं। इनका श्रृंखलाबद्ध चित्रण रागमाला अर्थात् रागों की माला कहा गया है। राग रागिनी पद्धति में प्रमुख 6 रागों तथा उनकी तीस अथवा छत्तिस रागिनियों का अंकन भित्ति एवं लघु चित्र श्रृंखला के रूप में प्राप्त होता है। कहीं कहीं रागिनियॉ, रागपुत्रों तथा राग भार्याओं आदि प्रशाखाओं में विभक्त इन राग रागिनियों की संख्या चौरासी से लेकर 108 तक पहुँच गयी हैं। संगीत शास्त्र-विज्ञों के अनुसार रागोत्पत्ति का मूल स्त्रोत शिव है। इनके पॉच मुखों से पॉच राग तथा गिरिजा (पार्वती) मुख से एक राग इस तरह से कुल छः रागों की उत्पत्ति हुई है । 36 राग रागिनियों की संख्या सर्वमान्य है। इन रागों को विभिन्न ऋतुओं में विभाजित किया गया है। बसंत (हिन्डोल), ग्रीष्म (दीपक), वर्षा (मेघ) आदि।

संदर्भ

1. दाधीच डॉ. पुरू, कथक नृत्य शिक्षा प्रथम भाग
2. खरे शिखा, सौन्दर्यात्मक शास्त्रीय नृत्य गहन अध्ययन एवं चिन्तन
3. ज्योतिषीव्योहार डॉ. चेतना, कथक कल्पद्रुम (अभिनव ग्रन्थमाला-प्रथम पुष्प)
4. परांजपे डॉ. श्री शरच्चन्द्र, संगीत बोध

संगीत के माध्यम से मूल शिक्षा का विकास

डॉ0 कुमारी बीभा

संगीत के माध्यम से मूल शिक्षा का क्षेत्र व्यापक है। "All round development of student personality" विद्यार्थी के व्यक्तित्व का समग्र विकास उसका शारीरिक, भावनात्मक, बौद्धिक, नैतिक एवं आत्मिक विकास की अवधारणा ही संगीत शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है। आज प्रत्येक विषय का विशद् विश्लेषण हो रहा है। संगीत और उसमें अनुसंधान कार्य हो रहा है। वैसे तो संगीत का उद्देश्य आनन्द प्राप्ति और सौन्दर्यबोध रहा है किन्तु आज के परिप्रेक्ष्य में संगीत का एक प्रमुख उद्देश्य सामाजिक उपयोगिता भी है। आज विश्वविद्यालयों व महाविद्यालयों में संगीत एक पूर्ण विषय के रूप में पढ़ाया जा रहा है, जो कि पहले गिने-चुने व्यक्तियों की अमानत समझा जाता था। आज संगीत सामाजिक उपयोगिता एवं मूल्य परक शिक्षा का सशक्त माध्यम बन चुका है। विभिन्न व्यवसायों आदि के लिए छात्रों को प्रशिक्षण देना, छात्रों के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना, छात्रों में नैतिकता, सदाचार व आदर्श नागरिकता विकसित करना उच्च शिक्षा के मुख्य उद्देश्य हैं।

संगीत कों एक विषय के रूप में मान्यता प्रदान की गई है। संगीत के प्रयोगात्मक एवं शास्त्रात्मक पाठन के साथ-साथ संगीत के मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व चिकित्सा पक्ष को भी पाठ्यक्रम का अंग बनाया गया है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में संगीत को गुरुकुल पद्धति के स्थान पर संस्था के माध्यम से शिक्षा देने का मुख्य उद्देश्य है-(i) लक्ष्य का निर्धारण (ii) उचित शिक्षा पद्धति (iii) संगीत की मूल्य परक शिक्षा।

संगीत शिक्षा व्यक्ति व समाज से ऊपर उठकर संस्कृति व सभ्यता को भी संरक्षण प्रदान करती है। गांधर्व युग में संगीत की शिक्षा जब वैदिक प्रणाली के अनुसार आश्रमों में दी जाती थी, उस काल में संगीत को व्यवसाय के रूप में अपनाना निषिद्ध था। शिक्षा द्वारा आध्यात्मिकता, चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, सामाजिक कल्याण, भारतीय संस्कृति का प्रचार आदि पर विशेष ध्यान दिया जाता था। अध्ययन करने वाले व्यक्तियों के भरण-पोषण का दायित्व समाज पर होता था। गुरु गृह या गुरुकुल ही संगीत शिक्षा के केन्द्र होते थे।

कला का उद्देश्य मानव मन के आन्तरिक मनोभावों को मूर्त्त रूप देना है। कला का लक्ष्य मानव के जीवन को सौन्दर्यमय बनाना और उसे दिव्यता का दर्शन कराते हुए उसका आत्मिक उत्थान करना है। विद्यार्थी की मानसिक, शारीरिक, कलात्मक प्रवृत्तियों का सम विकास शिक्षा के द्वारा ही संभव है। भारतीय समाज में शिक्षा के द्वारा ही विद्यार्थी में त्याग, सेवा, साधना और तपस्या के गुण भरे जाते हैं। Intellectual Development के साथ-साथ चरित्र निर्माण का उद्देश्य विद्यार्थी में गुणों की स्थापना करना है। छात्र के चरित्र का निर्माण कार्य शिक्षण पर ही आधारित है। अतः संगीत का उद्देश्य आदर्श चरित्र का निर्माण, नैतिक चरित्र की स्थापना करना है।

पं. भातखण्डे एवं पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने प्राचीन परम्परा में निहित शिष्यों के इन्हीं आत्मिक गुणों का विकास नई संगीत शिक्षा पद्धति में किया।

पूर्व शोध छात्रा, संगीत विभाग तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

पं. पलुस्कर जी ने संगीत शिक्षा को विकसित करने के लिए 5 मई 1901 ई. को लाहौर में एक संगीत संस्था 'गांधर्व महाविद्यालय' की स्थापना की। विद्यार्थियों में अनुशासन, ज्ञान व संगीत के प्रति लगाव उत्पन्न करने के लिए निवास, भोजन व निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की। शिक्षा को आदर्श मानना विद्यार्थियों के लिए आवश्यक था।

पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी के जीवन का मूल-मंत्र 'रघुपति राघव राजाराम' था। उनके विद्यालय की पद्धति प्राचीन गुरुकुलों पर आधारित थी। इन नियमों का पालन किया जाता था। उन्होंने संगीत पर लगभग पचास पुस्तकें लिखी, जिनके नाम हैं-संगीत बाल प्रकाश, बाल बोध, राग प्रवेश बीस भागों में, संगीत शिक्षक, महिला संगीत आदि। पं. पलुस्कर जी की शिक्षा पद्धति में गुरुकालीन सिद्धांतों का अधिक समावेश था जिसमें विद्यार्थियों के चारित्रिक, सांस्कृतिक, व्यवहारिक विकास पर भी जोर दिया जाता था। पं. विष्णु नारायण भातखण्डे ने भी संगीत के विकास हेतु देश के विभिन्न भागों में भ्रमण किया और संगीत के प्राचीन ग्रंथों की खोज की। उनके द्वारा रचित मुख्य पुस्तकें निम्न हैं-हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति (क्रमिक पुस्तक मालिका 6 भागों में), भातखण्डे संगीत शास्त्र चार भागों में, अभिनव राग मंजरी, लक्ष्य संगीत, स्वर मालिका आदि। इन पुस्तकों द्वारा विद्यार्थियों को संगीत सीखने में आसानी हुई। वास्तव में पं. पलुस्कर और पं. भातखण्डे एक दूसरे के पूरक थे।

संगीत शिक्षा का तात्पर्य संगीत के साधना पक्ष में विद्यार्थी के अंदर अटूट श्रद्धा व आस्था उत्पन्न करना भी आवश्यक अंग है। प्राचीन समय में आश्रमों में छात्रों के अंदर संगीत शिक्षा के माध्यम से उनके अंदर प्रेम, भक्ति, परस्पर- सहयोग, विनम्रता, संचय, धैर्य आदि गुणों का भी विकास किया जाता था।

संगीत का प्रभाव मनुष्य के Central Nervous System पर पड़ता है। संगीत के माध्यम से जो ध्वनि तरंगे उत्पन्न होती हैं वे स्नायु प्रवाह पर वांछित प्रभाव डालकर सक्रियता बढ़ाती है और विकृत चिंतन को रोक कर मनोविकारों को भी मिटाती है। संगीत सुनकर मस्तिष्क में स्थित आठ मुख्य ग्रंथियाँ सक्रिय हो जाती है और Healthy Harmon का स्राव प्रारंभ हो जाता है। राग विविध मनोभावों के द्योतक है और इसी कारण वे अपनी भावदशा के अनुरूप व्यक्ति में रसानुभूति का संचार करने में समर्थ होते हैं।

संगीत के प्रभाव से व्यक्ति विशेष व्यवहारों का प्रदर्शन करता है इसीलिए आधुनिक काल में संगीत चिकित्सा पद्धति को व्यक्ति के नैतिक, आध्यात्मिक और सर्वांगीण विकास में उपयोगी पाया जा रहा है। संगीत मानव के व्यक्तित्व का एक विशिष्टि अंग है, जिसके कारण मानव का आत्मिक उत्थान भी होता है और उसके व्यक्तित्व का विकास भी। संगीत चिकित्सा द्वारा व्यक्ति की असामाजिक भावनाओं पर अंकुश लगाया जा सकता है तथा एक दूसरे के प्रति शत्रुता और हिंसा की सामान्य भावनाओं पर भी प्रभाव डाला जा सकता है। संगीत हमारे Nervous System Brain function से जुड़ा है।

संगीत द्वारा आचरण को साकारात्मक मार्ग पर लाया जा सकता है। संगीत शिक्षा न केवल व्यक्तिगत रूप से वरन सामूहिक रूप से भी महत्त्वपूर्ण है। विद्यालय के प्रारंभ के समय जब बच्चे एकत्रित होकर सामूहिक गान करते हैं तो उनमें एकता और सहचर्य की भावना का उदय होता है। समूह गान, समूह नृत्य तथा वाद्यवृन्द के माध्यम से उत्पन्न आनन्द परस्पर सहयोग की भावना जागृत करता है, एक-दूसरे के प्रति प्रेम व सहृदयता का भाव जागृत करता है। मानव के सम्यक विकास, उत्कृष्ट चरित्र निर्माण, बौद्धिक विकास, सामाजिक उत्थान में संगीत शिक्षा सहायक है।

प्राचीन शिक्षालयों में व्यक्ति के चरित्र निर्माण के लिए ब्रह्मचर्य पालन, गुरु द्वारा सदुपदेश आदर्श व सात्विक जीवन-यापन, विद्यार्थियों में आत्म सम्मान विवेक व सद्भावना आदि पर बल दिया जाता था। आज भी शिक्षा का महत्त्वपूर्ण अंग है ईश्वर, धर्म, अलौकिकता, दिव्यात्मकता, विद्या, सच्चरित्रता आदि। वैदिककालीन गुरु-शिष्य संबंध का एक उदाहरण 'कठोपनिषद्' में मिलता है-

"ब्रह्म हम दोनों की समान रूप से रक्षा करे एवं हम दोनों को समान रूप से विद्या फल का भोग

कराएं, हम दोनों एक दूसरे से विद्वेष न करें, हमारे आध्यात्मिक, आधि-दैविक और आधिभौतिक इन त्रिविध विघ्नों की शांति हो ऊँ शान्ति शान्ति शान्ति।"

भारतीय संगीत में गुरुकुल पद्धति के रूप में संगीत को योग के समान ईश्वर प्राप्ति के मार्ग पर चलने का श्रेष्ठतम माध्यम माना जाता था। इसलिये नाद को नादब्रह्म कहकर उपास्य तत्व व उपासना का माध्यम स्वीकार किया गया। गांधर्व शिक्षा में संगीतज्ञ के सच्चरित्र अनिवार्यता का उल्लेख मिलता है। स्मृति ग्रंथों में महाभारत काल में संगीत को आत्मिक उपलब्धि का साधन माना गया, सम्यक शिक्षा के रूप में धार्मिक भाव की प्रबलता, चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिक व सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन, मानसिक उन्नति, संस्कृति का प्रचार-प्रसार, ब्रह्मचर्य पालन आदर्श व सात्विक जीवन-यापन, आत्म सम्मान, सद्भावना आदि शिक्षा के मूल उद्देश्य में निहित था।

मुस्लिम शासन काल में श्रृंगारिक वातावरण और भोग-विलास प्रधान वातावरण होने के कारण भारतीयों का चारित्रिक संतुलन स्थिर न रह सका। फलतः समाज का नैतिक पतन हो गया। 15वीं शताब्दी में उत्तर भारत में आंदोलन का आविर्भाव हुआ। बंगाल में चैतन्य महाप्रभु के द्वारा संगीतमय संकीर्त्तन का प्रचार-प्रसार होने लगा, कुछ सूफी संतों ने भी संगीत के आधार पर ईश्वरीय ज्ञान एवं धर्म निरपेक्षता का उपदेश जनता के बीच देना प्रारंभ कर दिया। अनेक सम्प्रदाय, वैष्णव सम्प्रदाय, रामानंदी सम्प्रदाय, राधावल्लभीय, सूफी आदि बने। संगीत के प्रचार-प्रसार में भक्त कवि सूर, कबीर, मीरा, तुलसी, गुरुनानक, अष्टछाप के आचार्य पुष्टिमार्गीय संगीत आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार कीर्त्तन, भजन द्वारा संगीत का आत्मिक सौन्दर्य निखरता गया।

1947 ई0 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह के अवसर पर तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. नेहरू ने कहा था-'विश्वविद्यालय का दायित्व मानवता, सहनशीलता, तर्क, विचारों के विकास तथा सत्य की खोज करना है।' राधाकृष्णन आयोग में 1952 ई0 - 53 ई0 में विश्वविद्यालय शिक्षा के मुख्य उद्देश्यों का उल्लेख किया है। विश्वविद्यालय में भाषा का अध्ययन कलाकार को चिंतन एवं विचारों को भाषा के माध्यम से प्रस्तुत करने का अवसर प्रदान करता है।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में संगीत राष्ट्रीय संस्कृति का क्रमिक अंग बन गया है आज संगीत को अधिक से अधिक सीखने समझने लगे हैं। जगह-जगह Seminar, Workshop का आयोजन किया जा रहा है। संगीत के मूल्यों की शिक्षा प्रदान करने के लिए अधिक से अधिक केन्द्रों की रामलीला, कामायनी, नृत्य बैले सभी भारतीय मूल्यों की शिक्षा देते हैं। भारतीय संगीत की आधारशिला आध्यात्मिक है। यह विविध रूपों में सामने आती है, कही ईश्वर, कही अल्लाह, कही ईसा मसीह। आध्यात्म, धर्म भक्ति का संबंध मानव अंग के भावों से होता है।

इस प्रकार ललित कलाओं की शिक्षा व्यक्ति के मानसिक, आध्यात्मिक एवं आत्मिय शक्तियों का परिष्कार करती है। गीत के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ योग्य शिक्षक, कलाकार आदि उत्पन्न करना व समाज को नैतिक उत्कर्ष की ओर ले जाना संगीत शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है।

संदर्भ

1. शर्मा डॉ0 स्वतंत्र, भारतीय संगीत एक एतिहासिक विश्लेषण
2. गर्ग लक्ष्मीनारायण, संगीत विशारद
3. जोशी उमेश, भारतीय संगीत का इतिहास

साहित्य व संगीत

डॉ. कुमारी कंचन

संगीत और साहित्य का घनिष्ठ संबंध है। इसमें से किसी एक के नहीं रहने पर उसकी रोचकता और रंजकता नष्ट हो जाती है। 'स' के उच्चारण से ही साहित्य एवं संगीत का संबंध स्पष्ट होता है। 'स' संगीत है और उसके पीछे जो आकार है, वही साहित्य है। साहित्य समाज का दर्पण है तो संगीत मानव की आत्मा का अमर नाद है। संगीत यद्यपि एक स्वतंत्र कला है, तथापि जब वह साहित्य से सम्पृक्त होता है तो उसका उत्कर्ष और भी बढ़ जाता है। राजा भर्तृहरि ने 'साहित्य एवं संगीत विहीन' मनुष्य को पशु के समान माना है। संगीत और साहित्य दोनों का उद्देश्य है वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक उत्थान। जो कार्य मानव-जीवन के लिए साहित्य करता है वही कार्य संगीत भी करता है।

संगीत वह ललित कला है जिससे संगीतज्ञ अपने मनोगत भावों को स्वर, लय और ताल के माध्यम से व्यक्त करता है। साहित्य वह ललित कला है जिसमें साहित्यकार अपने मनोगत भावों तथा जीवन की अनुभूतियों को शब्द और अर्थ के माध्यम से व्यक्त करता है। संगीत के साधन हैं स्वर, लय और ताल तथा साहित्य के साधन हैं शब्द और अर्थ। संगीत साहित्य के अर्थ को व्यक्त करने में सहायक होता है और साहित्य संगीत के रुप को व्यक्त करने में सहायक होता है।

जब हम भावों को व्यक्त करते हैं तब केवल 'वाणी' से काम नहीं लेते। विशिष्ट मुद्राएँ, वाणी का उतार-चढ़ाव इनसे काम लेते हैं। परिणामस्वरुप संगीत के सात स्वरों और तीनों सप्तकों का विकास हुआ है। शीघ्रता से कुछ भय प्रकट करते समय हमारे शब्दों की गति द्रुत हो जाती है। उसी तरह प्रेमयुक्त शब्दों के प्रयोग के समय शब्दों की गति धीमी एवं मध्य हो जाती है।

संगीत के तीन प्रमुख अंग होते हैं। गायन, वादन और नृत्य। इनमें गायन कला प्रमुख मानी जाती है। गायन के लिए हमें गेय पदों की आवश्यकता पड़ती है, जो साहित्य कहे जाते हैं। सच्चा संगीत वही है जो काव्य के भावों को उद्दीप्त करने में सहायक हो। अच्छी से अच्छी कविता साधारण ढंग से पढ़ने में प्रभावोत्पादक नहीं होती। जब उसमें संगीत का पुट दिया जाता है तब उसका सौन्दर्य मुखरित होने लगता है। संगीत में अनेक गीत शैलियाँ प्रचलित हैं। गीतों की अनेकता भिन्न-भिन्न छन्दों पर निर्भर है।

काव्य और संगीत दोनों ही ललित कलाएँ हैं तथा एक-दूसरे के पूरक हैं। काव्य सापेक्ष है और संगीत निरपेक्ष। दोनों की अपनी सीमाएँ हैं। जहाँ भाषा और कविताएँ किसी भी प्रकार की अभिव्यक्ति स्पष्ट करने में असमर्थ होती है, वहीं संगीत के द्वारा यह कार्य सुगमता से सम्पन्न हो जाता है। उदाहरणार्थ युद्ध में विजय प्राप्त करने का उल्लास कविता/साहित्य द्वारा स्पष्ट प्रकट नहीं किया जा सकता, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति संगीत द्वारा सहज ही हो जाती है। इसी प्रकार कोई इच्छित वस्तु हमें प्राप्त करनी हो अथवा उसके विषय में किसी विवादास्पद उद्देश्य को प्रकट करना हो तो यह कार्य काव्य अथवा भाषा

पूर्व शोध छात्रा, संगीत विभाग तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

द्वारा ही सम्पन्न होगा, संगीत द्वारा नहीं। इसके विपरीत यदि काव्य/साहित्य और संगीत दोनों संयुक्त रुप से किसी विषय की अभिव्यक्ति करे तो निःसंदेह वह बहुत ही सशक्त होगी।

पाश्चात्य विद्वान 'कॉरताइल' के अनुसार संगीतमय विचार ही काव्य है। 'ऑलफाल्ड ऑस्टिन' ने तो यहाँ तक कहा है कि, "कविता में और कितने ही गुण क्यों न हों, पर वह यदि संगीत विहीन और अर्थ की रमणीयता से हीन है तो फिर वह कविता नहीं कहला सकती।" तात्पर्य यह है कि, काव्य का प्राण संगीत में ही है। साहित्य में जो गीतों की प्रथा है वह संगीत के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। गीत काव्य में भी लोकगीत तथा प्रगीत मुक्तक इत्यादि हृदय के संगीतमय उद्‌गार ही हैं। जब मानव किसी चेतना विशेष में अभिभूत हो उठता है तो शब्दों के आवरण में उसके जो भाव निकलते हैं वे ही संगीत हो जाते हैं। अतः भाव कारण हुआ और संगीत कार्य हुआ। इसी को साहित्य में भाव पक्ष कहते हैं और यही भाव रस का आधार होता है। डॉ. राजकुमार वर्मा ने संगीत को काव्य का आवश्यक गुण मानते हुए बताया है कि इन दोनों में अन्योन्याश्रय संबंध है।

शास्त्रीय संगीत को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए भी शब्दों की आवश्यकता है क्योंकि जनसाधारण शब्दों के द्वारा आकृष्ट होता है। भिन्न-भिन्न गेय पदों की रचना साहित्य में न की गई होती तो संगीत में भिन्न-भिन्न गीत शैलियाँ देखने को न मिलती। ध्रुपद, धमार गीत शैलियों में साहित्य हमें वीर और रौद्र रस की कविता प्रदान करता है। संगीत वीर रस को उद्दीप्त करने के लिए तदनुकूल स्वर-समुदाय प्रदान करता है। जब स्वर से उत्पन्न भाव अथवा रस काव्य से उत्पन्न भाव अथवा रस से मिल जाते हैं तो संगीतज्ञ और श्रोता दोनों का हृदय रसाप्लावित हो जाता है। तभी राग मुखरित होकर अपनी रंजकता और रोचकता को सार्थक बनाने में सफल होता है।

संगीत और काव्य दोनों में कल्पना का प्रयोग होता है। 'ख्याल', 'टप्पा', 'ठुमरी' आदि में कल्पनात्मक सृजन शक्ति के द्वारा ही हम तान, तोड़ों के विस्तार से एक-एक राग को घंटों तक गाते-बजाते हैं। काव्य में यदि एक वस्तु को लेकर हम बार-बार कल्पना करेंगे तो उसका स्थान अलंकार ले लेता है और अलंकारों का अत्यधिक प्रयोग नीरसता उत्पन्न कर देता है। परन्तु संगीत में नई कल्पना या विचार के साथ एक नई उमंग की सृष्टि होती है।

ख्याल, टप्पा, ठुमरी गीत शैलियों में शृंगार और करुण रस की बहुलता रहती है। अतः इनकी रचना के लिए शृंगार और करुण आदि रसानुकूल काव्य साहित्य की आवश्यकता है। संगीत के द्वारा रसोत्पत्ति में काव्य का महान योग रहता है। यदि राग का रस भिन्न हो और गेय पदों में वर्णित रस भी भिन्न हो, तो ऐसी दशा में रस की उत्पत्ति नहीं होगी। विरुद्ध रस के प्रयोग से राग की रंजकता और रोचकता नष्ट हो जाती है।

निष्कर्षतः संगीत रुपमयता के लिए काव्य का अंश लेता है और काव्य श्रोता को रसविभोर करने के लिए संगीत का याचक बनता है। काव्य की कल्पना और संगीत का राग, दोनों अभिन्न है। भावजगत् में जो कल्पना है, शब्दजगत् में वही राग है। ध्वनि दोनों का प्राणस्वरुप है। कविता में भावों की गतिमयता संगीत से आती है। जीवन सत्ता ही गाने की एक समिष्ट है और काव्य जीवन की अभिव्यक्ति तथा गीत संगीत का एक आवश्यक अंश है। अतः संगीत से भी जीवन का अत्यधिक संबंध है। जिन अप्रत्यक्ष रुप-तरंगों और प्राणशक्ति की प्रेरणा से सृजन का आवेग जन्म लेता है, वह प्रेरणा मूल रुप में नाद ही है। उसी के स्थूल परिणति है शब्द-ध्वनि-मूर्च्छना। संगीत में स्वर मूल है। भावात्मक ध्वनि पहले बनी, बाद में शब्दों की वर्णनात्मकता बनी। रुपरेखा भंगिमाओं में जो अभिनवता है, वही स्वर है। काव्य की आत्मा रस ही है और चित्र शरीर। जो भाव सब कलाओं के मूल में है, वही अपनी अभिव्यक्ति चाहता है। अतः अनन्त सृष्टि के असीम रहस्य में 'सत्' और 'सुन्दर' की जो भावमय सत्ता आभासित होती है, 'संगीत'

उसी को स्वर देने की चेष्टा करता है। रुप के उसी आभास को निश्चित अर्थ और रुप में बाँधने की चेष्टा चित्र है। उसी को शारीरिक बना देना 'वास्तु मूर्तिकला' है तथा रुप के उसी अचल मूक विग्रह को गति और वाणी देने की चेष्टा 'काव्य' है। इसके मनमाने भेद और प्रकार, श्रेणी और विभाजन की चेष्टा चाहे जितनी हो पर उसके मर्म, वाणी की एकरुपता में विषमता नहीं आती।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में संगीत की अपेक्षा स्थूलता अधिक है और अन्य कलाओं की तो संगीत से तुलना ही नहीं की जा सकती। केवल संगीत ही भाव-सृष्टि से अपना निर्माण करता है। अतः सूक्ष्मता के कारण ही हम संगीत को काव्य से भी श्रेष्ठ कह सकते हैं।

संदर्भ

1. पाठक पंडित जगदीश नारायण, संगीत निबंध माला पृ0- 16-17
2. बसंत संगीत विशारद पृ0-598
3. कुलकर्णी श्रीमती वसुधा भारतीय संगीत एवं मनोविज्ञान पृ0-39

भारतीय लोक संगीत तथा उसके प्रकार

पूनम वर्मा

लोक मानस, अर्थात्, 'सब' जब, जहाँ और जिस रूप में अपने अन्दर की हलचलों, उमंगों तरंगो, काम और अभिलाषाओं, आदर्शों आदि को रूपित, सृजित और अभिव्यक्त करते है तो लोक कला का उदय होता है।

पं. ओंकार नाथ ठाकुर जी का मत है- ''देशी संगीत की पृष्ठभूमि ही लोक संगीत है।''

रवीन्द्र नाथ टैगोर कहते है कि संस्कृति का सुखद संदेश दे जाने वाली कला को लोक संगीत कहते है।

संपूर्ण भारतीय समाज का रथ लोक तथा वेद के दो पहियों पर अनंतकाल से गतिमान है। लोक शब्द अत्यंत व्यापक है। हिन्दी का लोक शब्द अंग्रेजी शब्द फोक का पर्यायवाची है, जिसका अर्थ है, देखने वाला अर्थात समस्त दर्शक जन समुदाय, लोक है।

लोक संगीत के लिये कहा जा सकता है कि जीवन से जुड़ी हुई स्थितियां जब लोकगीतों के माध्यम से फूट पड़ती है तो वे अनायास ही रस की वर्षा करने लगती है।

लोक संगीत की शब्दावली प्रत्येक की समझ में आसानी से आ जाती है जो अपने अर्थ से श्रोताओं को तन्मय कर देती हैं इसलिए लोक संगीत मनुष्य को अधिक आकर्षित करता है। मनुष्य अपने मनःगत भावों को लोकसंगीत या लोकगीत के माध्यम से स्पष्ट करता है। नीचे एक उदाहरण से यह स्पष्ट है-

'ऐसी मिजाजिन दाई,
लाल कौ नरा न छीनौ।
नरा न छीनौ मों हूँ न बोलै,
ठाड़ी ओठ बिलोरै।
कन्हैया को नरा न छीनौं।

ऐसी कला और जीवन एक दूसरे के पूरक हैं। समाज का आर्थिक सामाजिक राजनैतिक ढाँचा बदलते ही कला के सारे रूपों में अनुपातानुसार परिवर्तन परिलक्षित होता है। इसी प्रकार संस्कृति और सभ्यता में भी एक ओर जहां हमारा देश खेतों खलिहानों, आदर्शों तथा ऋतुओं का देश है वही इसे लोक कलाओं का भी देश कहा जाता है। लोक कला जनसामान्य के भावों की अभिव्यक्ति का सबसे बड़ा माध्यम है। इसके संबंध में लक्ष्मी नारायण गर्ग कहते है- ''लोक संगीत उस सुरसरि के समान है, जिसका लक्ष्य लोक कल्याण, सन्तप्त मानस भूमि को आप्लावित कर उसे सरस एवं उर्वर बनाना है।

लोक शब्द का अर्थ समझाते हुए आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी कहते है कि ''लोक वह दृश्य है जो आधुनिक जीवन से परे है, विलासिता एवं आडम्बर से दूर है और जो सीधा सच्चा है।''

''लोकसंगीत समाज में अपना प्रभाव यथावत् बनाए हुए है। उन्हें ना सीखना पड़ता है, न याद करना होता है। सामाजिक संस्कारों के परिणाम स्वरूप ये धुनें या गीत विरासत के रूप में चले आ रहे है।''

लोकगीतों के महत्व को समझते हुए गांधी जी ने इसके बारे में कहा कि लोकगीतों में धरती गाती है, पहाड़ गाते हैं, नदियाँ गाती हैं, फसलें गाती है, उत्सव, मेले, ऋतुएं और परम्पराएं गाती हैं।

लोक संगीत मनोरंजन का एक ऐसा साधन है जिसमें किसी विशिष्ट समुदाय अथवा प्रान्त के लोगों की भावनाएं जुड़ी रहती है। लोक संगीत विभिन्न प्रांत की अपनी-अपनी भाषाओं में बंधा रहता है।

शोध छात्रा, संगीत विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

यह संगीत मनोरंजन के साथ-साथ प्रांतीय एकता का भी परिचायक है।

लोक जीवन के प्रति मानव मन की आस्था के परिणाम स्वरूप अनेक अंतर्भूत तथ्यों के साथ लोकगीतों का विकास हुआ। गीतों के मूल में वस्तुतः भावों के साथ संगीत और नृत्य के तत्व भी मिले हुए हैं। तीनों को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता क्यों कि तीनों मिलकर लोक मानस की पूर्ण अभिव्यक्ति करते है। लोकगीत में मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक होने वाली घटनाओं का उत्सवों का वर्णन मिलता है। प्रत्येक प्रदेश के अपने अपने प्रांतीय भाषा में लोकगीत हैं। लोकगीतों का निर्माण प्रकृति के गोद में होता है इसलिए प्रकृति में होने वाले परिवर्तनों का रूप लोकगीतों में दिखता है। ऋतुसंबंधी गीत इसका एक उदाहरण है। समाजिक, राजनैतिक आर्थिक परिवर्तनों से संबंधित गीत भी लोकगीतों में मिलता है।

लोकगीतों में मानव सभ्यता एवं संस्कृति के चित्र, इतिहास से भी अधिक सूक्ष्म रूप में अंकित एवं सुरक्षित रहते हैं। किसी जाति के विश्वास, धार्मिक विचारों का स्रोत लोकगीत होते हैं।

सत्यार्थी जी कहते हैं- ''लोकगीत प्रकृति के उदगार हैं इनमें अलंकरण नहीं केवल रस है। छन्द नहीं केवल लय है, लालित्य नहीं केवल माधुर्य हैं।''

लोकगीतों की धुनें, ताल, काव्य बहुत ही सरल होते हैं, इन गीतों के रचनाकारों का कोई पता नहीं वरन् देशकाल के अनुसार ये स्वतः निर्मित होते जाते है और परंपरा से आगे बढ़ते जाते हैं।

तुलसीदास जी ने लोकगीतों की व्यापक महत्ता का प्रदर्शन किया है। उनके कार्य में कोई भी पावन क्षण गीतों की वसुंधरा से आप्लावित हुए बिना नहीं रहता है।

लोक संगीत जातीयता से जुड़ी एक सहज भावनात्मक अभिव्यक्ति है जो प्राकृतिक झरने की तरह स्वतः प्रस्फुटित होती रहती है। दूर किसी बस्ती से आ रही गीत की ध्वनि सुनकर राह पर चलता राही भी मोहित हो जाता है। लोक संगीत का यह पक्ष बड़ा ही सशक्त है। दिन भर मेहनत से हुई सारी थकान राही लोक संगीत सुनकर उतार देता है।

लोककला का आरंभ कब और कैसे हुआ यह ठीक-ठीक कहना कठिन है। किन्तु यह सर्वविदित है कि कलाएँ जितनी नियम और शर्तों में नही जीती, उतनी परंपराओं में जीती है।

इनका मूल स्त्रोत है प्रकृति और कुछ अलौकिक शक्तियाँ जो मानव जीवन में स्वतः जन्म लेती और पनपती है। भारत में लोककला की जड़ें इतनी गहराई तक धँसी है कि उनकी थाह लगा पाना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

लोकगीत के प्रकार :

(1) संस्कार गीतः

संस्कारों का उद्देश्य व्यक्ति को तथा उसके द्वारा समाज को धर्म परायण और कर्तव्यनिष्ठ बनाना हैं ये दोनों बाते ही किसी भी मनुष्य को सुसंस्कृत या संस्कारी कहलाने का अधिकार देती है। इसीलिए हमारी प्राचीन संस्कृति के सभी आदर्श एवं विधि विधान ऐसे रखे गए हैं कि उनके द्वारा मनुष्य की भौतिक उन्नति होने के साथ-साथ मानसिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से भी उनका उत्थान हो सके।

सोलह संस्कार इस प्रकार है-

(1) गर्भाधान (2) पुंसवन
(3) सीमन्त (4) जातकर्म
(5) नामकरण (6) निष्क्रमण
(7) अन्नप्राशन(8) चूड़ाकर्म
(9) कर्णवेध (10) व्रतादेश (उपनयन)
(11) वेदारम्भ (12) केशान्त
(13) स्नान (समावर्तन) (14) विवाह
(15)विवाहग्निपरिग्रह (आवसथ्याधान)
(16) त्रेताग्निसंग्रह (श्रौताधान)

इस प्रकार भिन्न-भिन्न विद्वानों ने सोलह संस्कार भिन्न-भिन्न मानें किन्तु कुछ प्रमुख संस्कार इस प्रकार हैं-

(1) जन्म संस्कार :

इस अवसर पर बेटे व बहू को चौक पर बिठाया जाता है। तथा उत्तम संतति की कामना की जाती है। उदाहरणार्थ-

"बहू दूधो नहाओ पूतों फलो
कुल वंश की परंपरा को आगे बढ़ाओ।"

(2) गर्भाधान संस्कार :

इस अवसर पर गर्भिणी को चौक पर बिठाकर हर्षतिरेक में महिलायें कोकिला कण्ठ से गा उठती है-

"दुलैया चौके आई
सोने का दिया धराओ, दुलैया चौकें आई
चन्दन चौक पुराओ, दुलैया चौके आई"

(3) पुंसवन संस्कार :

इस संस्कार में गर्भवती स्त्री को चौक पर बिठाकर औषधि विशेष पिलाई जाती है, शुभ मुहूर्त एवं शुभ नक्षत्र में लक्ष्मणा, वटशुंगा, सहदेवी और विश्वदेवी आदि जड़ी बूटियों को सिल पर पीस कर पिलाया जाता है ताकि गर्भ में अन्य हानिकारक तथ्य नष्ट हो जाये और गर्भस्थ शिशु का विकास उचित ढंग से हो उदाहरणार्थ-

"दुलैया चौके आई
बम्मन देव 'बुलाओ, पत्रा वेग दिखाओ

(4) सीमन्तोन्यन संस्कार :

इसे लोक भाषा में सादें कहा जाता है। यह संस्कार गर्भधारण के सातवें, आठवें, महीने में किया जाता है। गर्भिणी को चौक पर बिठा कर भाई बहन की गोद भरता है ओर नवजात शिशु का इंतजार अत्यंत बेचैनी से करता है।

"ऐसी किरपा कब करहै भगवान मोरे अंगना बजै बधाऔ"

(5) जातकर्म संस्कार :

नवजात शिशु के जन्म लेने के पश्चात् दाई नवजात शिशु को माँ, दादी बुआ या अन्य परिजन की गोद में डालने से पहले धरती पर लिटा देती है। इसे भू लोटनी भी कहा जाता है।

(1) मोरे डरें डरें कहरायें
गोविन्द लाल भू पे डरैं।

प्रसूति गृह के दरवाजे पर ननद के द्वारा गोबर का सतिया बनाया जाता है। इस अवसर पर सोहर गाए जाते है-

तुम धन ललना जाय
सुखई सुख भोगियो महाराज

(6) नामकरण संस्कार :

जन्म के 12वें दिन 'बरहीं' या नामकरण संस्कार किया जाता है। इस दिन ब्राह्मण काष्ठ के पाटा पर जातक का नाम, जाति इत्यादि लिख देता है। नक्षत्र एवं वर्ण के अनुसार बच्चे के नाम का चयन किया जाता है।

इस अवसर पर महिलायें सामूहिक रूप से गीत गाती हैं-

"दसरथ जू की रनियां रामा लए कनिया
कौसिलया के रामा भयें, सुमित्रा के लछमनिया

(7) निष्क्रमण संस्कार :

निष्क्रमण संस्कार जन्म से चौथे मास में किया जाता है- इस दिन प्रसूता स्त्री नवजात शिशु के साथ प्रसूति गृह से बाहर निकलती है, चांद अथवा सूर्य के दर्शन कराये जाते है।

"ललन खाँ लै के निकरी दसरथ जू की रनियां,
कौसिलया की गोद में राम जू लदे हैं,
भरत कैकई की कनिया।"

(8) अन्नप्राशन संस्कार :

16 संस्कारों में यह भी विशेष संस्कार है जिसमें नवजात शिशु के प्रथम अन्न खिलाने की क्रिया का विधिवत् शुभारम्भ किया जाता हैं यह छठवें महीने में किया जाता है इस अवसर पर स्त्रियाँ गीत गाती हैं-

"जनक जू के महलन मैं कैसी परी भीर
हरस भई भीर, हुलस भई भीर
मामा चटा रए ललन खां खीर

(9) चूड़ाकरण (मुण्डन) संस्कार :

प्रथमबार सिर के बाल मुंडवाने को चूड़ाकरण, मुण्डन या 'छौर-कर्म; कहते हैं। यह संस्कार जन्म से

एक वर्ष के अंदर अथवा जन्म के तीसरे वर्ष में संपन्न होता है।

"झालर मोरी पाहुनी
झालर जबई मुड़ाओं जब आजुल घर होय।"

(10) कर्णवेध संस्कार :

यह जन्म के तीसरे, पाँचवें, सातवें वर्ष में किया जाता है। इसे 'कन छेदन' के नाम से संबोधित किया जाता है। इस अवसर पर महिलाओं द्वारा लोकगीत व बधायें, गाये जाते हैं-

"जो मैं जानती लाल के कान छिदने
तो सोने की बारी मंगाती।"

(11) यज्ञोपवीत संस्कार :

इस संस्कार का अर्थ है बालक को बटुक बनाकर गुरू गृह में शिक्षा-दीक्षा के लिये भेजना। यह एक अत्यंत पुनीत संस्कार है। इस अवसर पर महिलायें मंत्रों के अलावा जनेऊ की महिमा का वर्णन करती हैं-

"तीन तगा को डोरा री दमरू को सुत ए भैया, भिक्षा मांगन चले लड़ैते आजुल के दरवार, भीख दे आजी भीख दे, काशी पढ़े चटसार, घरई में अजा तेरे बेदियां, घरई पढ़ौ चटसार"।

(12) समावर्तन संस्कारः

जब चातक पूर्ण रूप से शिक्षित होकर घर आता है। तब समावर्तन संस्कार किया जाता है। वर्तमान समय में यह संस्कार उपनयन संस्कार के साथ ही कर दिया जाता है। क्योंकि वर्तमान समय में 'गुरूकुल' शिक्षा पद्धति समाप्त हो गई है।

(13) विवाह संस्कार :

षोड्स संस्कारों में यह संस्कार सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्कार है। यह एक धार्मिक प्रथा है, यह संस्कार सभी जातियों, धर्मों में अत्यंत उल्लास के साथ मनाये जाने वाला संस्कार है। धर्म और नियम के अनुसार स्त्री-पुरूष के पारस्परिक संबंध दाम्पत्य सूत्र में आबद्ध होते हैं।

"देस निकर स्वामी धिया वर खोजों, धिया भई व्याहन जोग।"

जब विवाह की बात तय हो जाती है तो सभी हर्षित हो जाते हैं।

"राजा दशरथ फूले ना समाय
लगुन आई हरे-हरे लगुन आई मोरे अंगना।"

विवाह कार्यक्रम पाँच दिन चलता है। तिलाई, तेल, मण्डप, द्वारचार, विदा। तिलाई वाले दिन मण्डप स्थापित किया जाता है-

"सुगर बड़ैया चंदन मड़वा,
रूचि रूचि के गढ़ ल्याओ रोपो अंगन बीच फूफाने,
जामुन पवन सौं छाओं"।

जब लड़की वाले के दरवाजे बारात पहुँचती है तो कन्या का पिता आगे बढ़कर वर का स्वागत करता है, उसकी आरती करता है, इसी बीच लोकगीत गूंज उठते है-

"कहना के भले मलिया जिन बाग लगाये
कहना की बेटी कोकिला फूल भीनन आये"।

द्वारचार की रस्म के बाद चढ़ावा कार्यक्रम होता है, जिसमें वर पक्ष कन्या के लिये वस्त्र आभूषण लेकर आता है-

"अरि एरी जनक भवन में मैं दिख आई सिया के चढ़ाये

इसके पश्चात् कन्या का पिता वर को मधुपर्क कराता है तथा माता-पिता कन्या के हाथ पीले कर कन्या का हाथ वर को सौंप देते हैं- "इति गंगा उत जमुना बीच कछारन रे, तिन बिच बाबुल मोरे देत कुंवरिन दान"।

हवन करने के पश्चात भांवर पड़ने लगती हैं हर भांवर के बीच कन्या का भाई धान बोता है, जिसका आशय होता है कि भले ही कन्या आज से पराई हो गई हो किन्तु फिर भी आपत्ति काल में मैं तुम्हारी सहायता करूँगा। "धान बोओ बीरन धान बोओ धनवंती होय।"

ऋतु संबंधी गीत :

भारतवर्ष में ऋतुओं के अनुसार त्यौहार मनाये जाते हैं और इन त्यौहारों को प्रसन्नता, और उत्साह से गा बजाकर व्यक्त करते हैं और इस प्रकार उनके द्वारा गाये जाने वाले ये गीत जो इन ऋतुओं, महीनों

में त्यौहारों के लिए अपनी बोली में गाते हैं, उन्हें ही हम ऋतुपरक लोकगीत कहते है। इन गीतों को अधिकतर ईश्वर या प्रीतम के लिए गाते हैं।

इन गीतों में ऋतु संबंधी गीत, श्रृंगारिक गीत, विरह गीत, से ओत प्रोत गीत गाये जाते है।

हमारे हिन्दू धर्म में नव वर्ष का प्रारंभ चैत की नवदुर्गा से माना जाता है। जिसके अनुसार हमारे यहाँ बारह महीनों के नाम इस प्रकार है।

चैत, बैशाख, जेठ, आषाढ, सावन, भादों, क्वार, कार्तिक, अगहन, पूस, माघ, फाल्गुन।

ऋतुएं भी पाँच प्रकार की होती है। ग्रीष्म ऋतु, वर्षा ऋतु, शीत ऋतु, बसंत ऋतु और पतझड़।

चैत :

सबसे पहला महीना चैत का महीना है। इस महीने में ग्रीष्म ऋतु का आगमन हो जाता है। किसान भाई अपनी फसलों को काटने में लग जाते हैं। और इसी समय नवदुर्गा का प्रारंभ हो जाता है। नवदुर्गा में नौ दिन तक देवी के गीत गाये जाते हैं। इन गीतों में भगत, अचरी, दिवरी, जस सुअटा लाचारी आदि गाये जाये हैं।

इन गीतों में ढोलक मंजीरा झींका करताल, लोटा, आदि वाद्यो का प्रयोग किया जाता है।

उदाहरण : अचरी-

पहले हो सुमर लो भैया शारदा हो माँ
दूजो जानि हनुमान जगत की भैया

इसी प्रकार भगत भी देवीगीत का एक प्रकार है ये अधिकतर जवारे के समय गाई जाती है। बुंदेलखण्ड में जवारे बोकर लोग अच्छी फसल होने के लिये देवी माँ से भगत गाकर प्रार्थना करते है।

"हो जा हो जा दयाल किरपाल महा माई अबकी बेर"

इसके अलावा चैत के महीने में फसल काटते समय चैती, बिलवारी आदि गाये जाते है।

उदाहरण : चैती

1."चैता के चरेरे धाम छैल की मुंइयां
तो मुरक गई धामें में-3"

अरे हाँ रे छैल खाँ जो मैं ऐसो जानती
मैं तो घुंघटा में लेती लुकाय। छैल की.
2. अरे हाँ रे छैल खाँ जो मैं ऐसो जानती,
मैं तो कजरा में लेती छुपाय। छैल

बैसाख, जेठ :

चैत के बाद वैशाख जेठ का महीना आ जाता है। जिसमे अक्षय तृतीया, आदि त्यौहार आते है और शादी व्याह शुरू हो जाते है। इसमें तरह-तरह के बन्ना बन्नी, मण्डप आदि के गीत गाये जाते है।

उदाहरणः के लिये एक गारी इस प्रकार से है जो कि बारह मासी गीत है।

ताल- दादरा बारह मासी गीत-धुन (गारी)
चलन बरषों में अब तो किसान की
रात दिना फिकर काम की।
छ. महीना भयो जेठ का भारी कैसी

आषाढ़ गीत :

इसके बाद आषाढ़ सावन भादों के महीने आते हैं और इसमें बारिश की रिमझिम फुहार पड़ने लगती हैं वर्षा ऋतु का आगमन हो जाता हैं चारों ओर हरियाली फुहार पड़ने लगती है। ऐसे में ही पानी की बड़ी-बड़ी बूंदों की टपटप देख किसानों की आँखों में खुशी झलकने लगती है, इसी समय धान की बुवाई होती है।

आषाढ़ गीत ताल- दादरा
गरजन बरसन लागो बदरा
गुइंया न आये चित्तचोर

राछरे :

काना से उन आई कारी बदरिया
बदरिया अरी काहाँ बरस गये मेघ
बदरिया बरसों वीरन के देसा में।

सावन गीत- ताल दीपचंदी :

आसो के सावन राजा घर करो
परके के करियो विदेश आसो के

1. *सावन ने घोरी नौनी कांचरी,*
नदिया ने घोरी कगार आसों

इसमें वियोग श्रृंगार रस का वर्णन है और पत्नी अपने प्रियतम से विदेश जाने को मना कर रही है। इसी प्रकार इस महीने में कजरी गाई जाती है कजरी की घुन अलग होती है।

कजरी कहरवा तालः

मोरे रामा लागी सावन के महीना
झूला डारो रे हाँरी।

1. *रेसम डोर चंदन के पलना रामा*
कि मोरे रामा झूले हाँ हाँ हाँरी सखी री

उदाहरण के लिये-

झूला-ताल-दीपचंदी :-

गिर गई मोरे महाराज
झुलना झुलत बेंदी गिर गई।
1. *कीने गड़ा दई नोनी बिंदियां*
किन ने जड़ा दिये जड़ाऊ
झुलना

भादों क्वार :

सावन के बाद भादों क्वार का महीना आ जाता हैं भादों में कृष्ण भगवान जी का जन्म माना जाता है और उन्हीं से संबंधित कई जनम के गीत बधैया वगैरह गाई जाती है।

सुहगिनों का व्रत तीज आता है जिसमें स्त्रियाँ शिवजी और गौरा जी की पूजा अर्चना करती है और रात्री जागरण कर शिव पार्वती के गीत भजन गाती है।

भादों का गीत तीजा समय का :

भादों तिथि तीजा त्यौहार आज सखी
गौरा गुन गावे। घर-घर फुलहार निहार,
आज सभी गौर गुन गावे।
1. कागज के फूल लगे संग में कदूल हैं,
खेल व खिलौना रहे झांकी में झूलके
दर्पण की चमक है अपार (आज)

भादों के बाद क्वार का महिना आता है जिसमें फिर से नवदुर्गा आ जाती हैं भगवान श्रीराम जी की राम नवमी मनाई जाती हैं इसके बाद दशहरा आ जाता है।

कार्तिक :

इस महीने में दीपावली का त्यौहार भी आ जाता हैं एवं दीपावली नृत्य भी अहीर जातियों के लोगों द्वारा किया जाता है। कार्तिक के महीने में महिलायें मिलकर स्नान करती है तथा आस-पास के राधा-कृष्ण की पूजा की जाती है। स्त्रियां मिलजुलकर कार्तिक मास के गीत गाती है तथा पूजन, अर्चन, भोग लगाती, नृत्य करती हैं।

इसके बाद अगहन का महीना आता है जिसमें देवठान एकादशी आती है। जिसमें देवों का जागरण होता जाता है और शादी व्याह आरंभ हो जाते हैं। इसके बाद पूस का महीना आ जाता है पूस का महीना सबसे ज्यादा शीतलता वाला माना जाता है। पूस के बाद माघ का महीना आता है, माघ में संक्राति आ जाती है संक्राति में कई तरह के पकवान बनाये जाते है लोग इस समय दर्शन करने तीर्थ यात्रा पर जाते है और लंबा रास्ता तय करने के लिये लमटेरे गाते है। लमटेरे अर्थात लंबी टेर लगाकर गाये जाने वाले गीत लमटेरे कहलाते है।

उदाहरण के लिये-

लमटेरा :

महादेव बाबा बड़े रसिया हो बड़े रसिया,
माई गौरा से जोड़ बैठे गांठ हो महादेव
बाबा बड़े रसिया हो।

बसंत ऋतु :

इसी माघ के महीने में बसंत ऋतु का आगमन हो जाता है। बसंत ऋतु के आने से कोयल की कूक सुनाई देने लगती है। पपीहा पीहू-पीहू बोलने लगता है। आम के पेड़ में बौर दिखने लगते हैं तरह-तरह के पुष्पों से क्यारियां सुशोभित होने लगती हैं, चारों ओर बसंती रंग की बहार दिखाई देने लगती है और लोगों के मन में उत्साह, उमंगता, प्रसनता झलकने लगती है और बरबस ही गाने को जी करने लगता है- उदाहरण के लिये

बसंती गीत :

दिन ललित बसंती आन लगे,
दिन ललित बसंती।

1. *बोलत मोर पपीहा कोयल*
   आमन व बौर दिखान लगे दिन

बसंत के बाद फाल्गुन का महीना अर्थात् रंगों का महीना आ जाता है। होली के त्यौहार में फाग गाए जाते हैं, रसिया गाते है। होली के मौसम में प्रकृति में भी रंग बिखरने लगते हैं जगह-जगह टेसू के फूल दिखाई देने लगते हैं जो सबका मन मोह लेते हैं-

फाग : *होरी काये श्याम खेलत नैया*
होरी काये श्याम खेलत नैया

रसिया :
आज बिरज में होरी रे रसिया
होरी रे रसिया बरजोरी रे रसिया, आज..

इस प्रकार होली के साथ-साथ फाल्गुन का महीना समाप्त हो जाता है और पतझड़ का मौसम आ जाता है।

श्रमगीतः

काम के साथ गीतों को जोड़ने का काम प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। मल्लाहों मछुवारों, खेत काटने वालों, चलती हुई सेनाओं, गाड़ी, वालों, और न जाने अनेक मजदूर-कर्मियों के गीत है, जो उनकी सांस के साथ लय और ताल में बंधे हुए, होते है, जो न केवल श्रम की कठोरता को कम करते अपितु, उसे लय में साध कर उसे मनोरंजक पूर्ण कार्य बनाने में भी सक्षम सिद्ध होते है।

"Folk song calls the native back to his roots and prepares him emotionally to dance, worship, work fight or make love" xv.....

उदाहरण के लिए-घोसी क्षेत्र के गीत :

घोसी चरवाहा पशुओं को चराने जाता है, जब रास्ते में उसकी भाभी मिल जाती है तो मौज मस्ती में वह यह गीत गुनगनाता है-

"चल भाभी जंगल कू, हम गोट कांकरी खेलेगे।
जब भाभी तोय भूख लगेगी, रोटी वही मंगा देगे।
चल
जब भाभी तोय नींद लगेगी, खटिया वहीं बिछा देगें।" चल

इन गीतों के मामध्यम से चरवाहे व उसके साथियों की थकान दूर हो जाती है।

मल्लाह गीत : समुद्र तटों के इलाके के नाविक शाम के समय घर लौटते लोक गीत गाते हुए अपनी-अपनी नावों को खीचते हैं-

शावा ! शावा !
हई शा !
हई शा ! वे हई ! शा !
जोर लगा के ! हई शा !
नक्का मोड़ो ! हई शा !
पीर ख्वाजा! हई शा !
बेड़ा पार ! हई शा !

इस प्रकार प्राकृतिक वातावरण के साथ हर राज्य का अपना-अपना लोक संगीत है। क्षेत्रीय बोली व साधनों के कारण इसको व्यापक करने का माध्यम भी अलग-अलग है।

अतः सांस्कृतिक विरासत ही हमारी पहचान है। अतः इन संस्कारों के विधि-विधानों तथा इन पर गाये जाने वाले पारंपरिक गीतों की सुरक्षा व संरक्षण के प्रति सचेत होना अति आवश्यक हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1. श्रीवास्तव वीणा, भारतीय लोक संगीत, राधा पब्लिकेशनन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2012।
2. शर्मा डॉ. हरद्वारी लाल, लोक-वार्ता विज्ञान, द्वितीय खण्ड उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, प्रथम संस्करण 199.।
3. गर्ग डॉ. लक्ष्मीनारायण, संगीत विशारद, संगीत कार्यालय हाथरस, पच्चीसवां संस्करण 2004।
4. मिश्र डॉ. जितेन्द्रनाथ, भोजपुरी मंगल-गीत, सेवक प्रकाशन, ईश्वरगंगी, वाराणसी, प्रथम संस्करण 2007।

संगीत में स्वर साधना (गायन के परिप्रेक्ष्य में)

श्रेया श्रीवास्तव

संगीत में रियाज का अर्थ अभ्यास करना होता है। रियाज शब्द की उत्पत्ति ऊर्दू भाषा से हुई है। हिन्दी में इसे अभ्यास कहते हैं। संगीत में साधना, रियाज, अभ्यास का एक ही अर्थ है। संगीत की विशेषता यह है कि इसमें साध्य और साधना दोनों ही सूक्ष्म रूप हैं। संगीत की कोई भी विधा हो, गायन, वादन या नृत्य इन तीनों में रियाज का बड़ा ही महत्व है।

साधना का अर्थ है, मन को किसी विषय में एकनिष्ठ भाव से संयुक्त करना। अर्थात किसी साध्य वस्तु की प्राप्ति के लिए जो प्रयत्न किया जाता है उसे साधना कहते हैं। संगीत साधना में इन्द्रियों के समाहित होने, मन के ध्यानस्थ होने तथा परब्रहम के गुणगान में ब्रहम से तादात्म्य स्थापित होने की योग साधना कितनी सुलभ एवं सुन्दर है, इसकी अनुभूति संगीत के अभ्यास द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।

यदि संगीत साधक अपनी कला में माहिर हैं तथा उसने अपनी कला में सही ढंग से प्रतिदिन अभ्यास किया है, तो वह अपनी कला द्वारा प्राप्त सिद्धि से चमत्कृत रूप से समस्त श्रोताओं के मन को एकाग्र कर आनन्द प्रदान करता है। अभ्यास के विषय में कहा गया है कि-

"अभ्यासवैराग्याभ्यां तनिन्नरोधः"

महर्षि पातन्जलि के अनुसार चित्त वृत्तियों का निरोध अभ्यास एवं वैराग्य से होता है, संगीत साधक भी संगीत साधना में अभ्यासरत रहकर निरन्तर साधना करता है।

संगीत में साधना, रियाज, व अभ्यास के अतिरिक्त एक और शब्द होता है "चिल्ला" यह फारसी भाषा का शब्द है। प्रायः संगीत विद्यार्थी अपने जीवन में संगीत के अभ्यास का संकल्प करते हैं। उन दिनों वे अपनी दिनचर्या में आवश्यकता भर आराम करने के बाद, अतिरिक्त समय रियाज में लगाते हैं।

इसे ही चिल्ला खिंचना कहते हैं। चिल्ला की अवधि 40 दिनों की होती है। जो कलाकार इस प्रकार से रियाज करता है उसे सिद्धि प्राप्त होती है। साधारणतः संगीत का विद्यार्थी एक बार चिल्ला के बाद पुनः भी चिल्ला खींच सकता है।

संगीत में स्वर साधना एक महत्वपूर्ण कार्य है और यह कार्य तभी सम्भव हो सकता है जब साधक अपना बल सही दिशा में लगाये। स्वर साधना संगीत की आधारभूत प्रक्रिया है। संगीत के साधारण विद्यार्थी से लेकर उच्चकोटि के कलाकार तक को इसकी आवश्यकता होती है। संगीत के क्षेत्र में कोई कलाकार कितना पारंगत है, यह उसकी स्वर-साधना पर निर्भर करता है। रियाज की अवहेलना करके एक अच्छा गायक या वादक बन पाना असम्भव है। अतएव स्वर-साधना के महत्व को ध्यान में रखते हुए आज के विद्यार्थियों को इसकी प्रयोगात्मक विधि को जानना और व्यवहारिक प्रयोग करना परम आवश्यक है।

स्वर-साधना के लिए कुछ महत्वपूर्ण बातों को ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है-

1- स्वर-साधना के लिए सर्वप्रथम साधक की बैठक सरल और साधना के अनुकूल होनी चाहिए।

शोध छात्रा, संगीत विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

आड़ा-तिरछा बैठना, मुँह ठेढ़ा करना या अकारण हिलते रहने से स्वर उच्चारण में कई दोष आ जाते हैं। पालथी मारकर, एकाग्रचित होकर, बिना हिले-डुले सीधा बैठना चाहिए तथा तानपुरा छेड़ने की प्रक्रिया भी सरल एवं स्वाभाविक होना चाहिए।

2- स्वरों में 'षड्ज' स्वर अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। यह आधार स्वर होता है। षड्ज (सा) स्वर की पहचान हमें ठीक मिले हुए तानपुरे से मिलती है। तानपुरे को छेड़ने से हमें जो प्रमुख स्वर मिलता है उसे सांगीतिक भाषा में सा कहा जाता है। विद्यार्थियों को इसकी आवाज के साथ अपनी आवाज मिलानी चाहिए। सुविधा के लिए इस ध्वनि पर 'सा' शब्द का उच्चारण किया जाता है। परन्तु स्वर की पहचान हो जाने पर आकार में अर्थात् 'ओ' शब्द का ही उच्चारण करना चाहिए। जो स्वर नाभि से प्रेरित होकर कण्ठ से विकसित होता हुआ मुंह द्वारा व्यक्त होता है, वही स्वर स्वाभाविक लगता है। अतः स्वर के प्रस्फुटन में नाभि, कण्ठ और मुंह का संयुक्त योगदान होना चाहिए। यही कारण है कि स्वर-साधक की बैठक का स्वर लगाव पर सीधा प्रभाव पड़ता है। स्वर लगाते हुए अपने श्वांस को यथासम्भव लंबा करना चाहिए तथा उचित बल से इसका उच्चारण करना चाहिए। इससे आवाज में एक स्थिरता आती है। जितनी देर श्वांस रहे, आवाज तानपुरे के स्वर से बिल्कुल घुली-मिली रहनी चाहिए। आवाज का ऊंचा-नीचापन हर रोज के अभ्यास से स्वतः अपनी जगह ढूंढ लेता है और वांछित स्वर मिल जाने पर एक गहन रंजकता का बोध होता है। प्रत्येक बार स्वर लगाने पर इसी स्थिति को बनाये रखने की कोशिश करनी चाहिए। अब निरन्तर इस क्रिया के करने से स्वर लगाव की प्रक्रिया में जहाँ आवाज के ऊंचे-नीचे की पहचान करना आवश्यक है, वहीं उसे सही स्थान पर स्थापित करके टिकाऊ बना देना, स्वर का ऊपर-नीचे हिलने नहीं देना, उसका उचित बल के साथ घनत्व बनाये रखना आदि बातें बहुत उपयोगी सिद्ध होती हैं। जब ये सब क्रियाएँ काबू में आ जाएं तो सांस को यथासम्भव ज्यादा देर तक रोककर रखने का अभ्यास करना चाहिए।

3-'षड्ज' स्वर के लगाने के पश्चात् सप्तक के अन्य स्वरों की बारी-बारी से पहचान करनी चाहिए। 'सा' स्वर से एक निश्चित अन्तराल पर रे, ग, म, प, ध तथा नि स्वर स्थित रहते हैं। इनकी जानकारी किसी योग्य शिक्षक के पास बैठकर करनी चाहिए। सर्वप्रथम पूर्वांग स्वरों सा रे ग म को लगाने के बाद उत्तरांग स्थित स्वर प ध नि सां को जानना चाहिए। इस प्रकार के ज्ञान से सम्पूर्ण सप्तक के शुद्ध स्वरों का व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त हो सकेगा। शुद्ध स्वरों के ज्ञान के बाद विकृत स्वरों (कोमल, तीव्र) के स्वर ध्यानों का ज्ञान करना चाहिए।

4- एक सप्तक के कोमल तथा तीव्र स्वरों के स्वरांतरालों की स्थिति के ज्ञान के उपरान्त विशेष स्वर साधना आरम्भ होती है, जिसे षड्ज-साधना कहा जाता है। इस साधना को तभी किया जा सकता है जबकि सप्तक के स्वरों के स्थानों का सही ज्ञान हो जाए।

षड्ज-साधना में मध्य सप्तक के षड्ज(सा) को लगाने के पश्चात मन्द्र स्थित स्वरों को लगाया जाता है। मन्द्र स्वरों में क्रम से उतरते हुए प्रत्येक स्वर पर यथा सम्भव देर तक रूकना चाहिए । इस प्रकार मन्द्र सा स्वर तक जाना चाहिए। मन्द्र षड्ज स्वर को लगाने के लिए जल्दबाजी से काम नहीं लेना चाहिए बल्कि धीरे-धीरे कई दिनों के निरन्तर अभ्यास के बाद मन्द्र षड्ज तक आना चाहिए। साधना के आरम्भिक दिनों में मन्द्र 'प' तक आना चाहिए। इसके कुछ दिनों के पश्चात् मध्यम, गन्धार तक तथा कई दिनों के निरन्तर अभ्यास के पश्चात् धीरे-धीरे ऋषभ तथा षड्ज स्वर तक उतरना चाहिए। जब मन्द्र 'सा' पकड़ में आ जाए तो इस पर न्यास के समय को प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा करके बढ़ाना चाहिए। आरम्भ में एक मिनट तक 'सा' पर रूकना भी लाभदायक रहेगा तदोपरान्त प्रतिदिन अभ्यास से यह क्रिया 10 से 15 मिनट तक भी की जा सकती है। मन्द्र षड्ज के इस स्वर लगाव की प्रक्रिया षड्ज-साधना कहलाती है।

यह साधना कठिन अवश्य है परन्तु अत्यधिक उपयोगी भी है। इसे संगीत के प्रत्येक विद्यार्थियों को प्रतिदिन समय एवं सुविधानुसार अवश्य करते रहना चाहिए। षड्ज-साधना प्रातः नित्यकर्म से निवृत होकर आरम्भ करनी चाहिए। प्रातः काल कण्ठ की तंत्रियां सिकुड़कर आराम की स्थिति में होती हैं। अतः जो

स्वर सुबह-सुबह निकलते हैं वे स्वाभाविक रूप से मन्द्र सप्तक के होते हैं। इसलिए यह समय षड्ज-साधना के लिए उपयुक्त होता है। दिन की तीव्रता के साथ में खिंचाव आ जाता है। अतः प्रातः काल के अतिरिक्त और किसी समय षड्ज-साधना के परिणाम ठीक नहीं होंगे।

षड्ज-साधना में मन्द्र, मध्य व तार सप्तक तीनों स्थानों के स्वरों का लगाव आलाप तथा तानों में सहज हो जाता है। इससे स्वर का घनत्व बढ़ता है, टिकाव आता है तथा सुरीलापन बढ़ता है। इसके साथ ही षड्ज-साधना से कण्ठ दोषों से भी मुक्ति मिलती है। षड्ज-साधना के बाद धीरे-धीरे मध्य सप्तक फिर तार सप्तक के स्वरों का अभ्यास करना चाहिए।

5- स्वरों को साध लेने के पश्चात् स्वर-अलंकारों को साधना चाहिए। अलंकार ऐसी स्वर साधना है जिसमें स्वर, लयबद्ध योजना को प्राप्त होते हैं। अतः अलंकारों की साधना से जहाँ स्वर की एक सुन्दर योजना तैयार होती है, वहीं लय पक्ष की भी पुष्टि हो जाती है। आरम्भ में साधारण अलंकारों का अभ्यास करना चाहिए, फिर धीरे-धीरे कठिन तथा क्लिष्ट प्रकार के अलंकारों की ओर अग्रसर होना चाहिए। अलंकारों की इस साधना से तानों के कई प्रकार स्वतः ही बन जायेंगे। जिन्हें रागों में आसानी से प्रयोग किया जा सकता है।

उपर्युक्त बातों में स्वर-साधना को निर्धारित करने वाले तत्त्व विद्यमान हैं। यदि आज संगीत का विद्यार्थी अच्छे आचार-विचार, खान-पान, उत्तम व्यवहार तथा चिन्तन, मन की एकाग्रता, लगन तथा संयम से इनका व्यवहारिक प्रयोग करे तो इसमें कोई संदेह नहीं है कि कल एक आदर्श तथा उच्चकोटि का संगीतकार बन सकता है।

साधना के विषय में कहा गया है कि-
'सतु दीर्घकालैरन्तर्य सत्कारसेवितो'।

अभ्यास काल में साधक को उकताना नहीं चाहिए, उसे ये दृढ़ विश्वास रखना चाहिए कि किया हुआ अभ्यास व्यर्थ नहीं जायेगा। संगीत साधक को साधना काल में धैर्य की परम आवश्यकता होती है। कई बार एक राग या ताल की साधना करते-करते उकताहट आना स्वाभाविक है, परन्तु निरन्तर धैर्य पूर्वक संगीत का अभ्यास करने से सफलता अवश्य प्राप्त होती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

1- श्रीवास्तव आचार्य गिरीशचन्द्र, तालकोष, प्रथम संस्करण 1996 ई0
2- शर्मा डॉ. उमाशंकर, संगीत का योगदान मानव जीवन के विकास में
3- वर्मा चमनलाल, संगीत पीयूष निधि, प्रथम संस्करण 1998 ई0

संगीत और समाज

डॉ नूतन कुमारी

संगीत का समाज से घनिष्ठ संबंध है। दोनों में अन्योन्याश्रय संबंध है अर्थात् एक के बिना दूसरे का अस्तित्व सम्भाव्य नहीं है। व्यक्ति समाज की एक इकाई है। यदि वह संगीत का सफल कलाकार होता है तो उससे समाज स्वस्थ एवं समृद्ध होता है। संगीत कलाकार अपनी कला के सृजन द्वारा समाज में मानवता और सभ्यता को प्रतिष्ठापन करता है। अपने व्यक्तिगत जीवन को उत्कृष्ट बनाकर समाजिक जीवन को सफल बना लेता है।

संगीत हमारे समाज में मनोरंजन की कला के रुप में ही नहीं रहा बल्कि समाज की रक्षा और उसके नवनिर्माण में भी कला का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

समाज में प्राणीमात्र की उत्पत्ति संगीतमय वातावरण एवं संगीतमय तत्वों से परिपूर्ण होती है। भावुकता से हीन कोई कितना ही कठोर क्यों न हो संगीत से विमुख होने का दावा नहीं माना जा सकता। संगीत मानव समाज की कलात्मक उपलब्धियों और सांगीतिक तथा सांस्कृतिक परम्पराओं का प्रतीक है। यह आदिम काल से जनजीवन के आत्मिक और सुखानुभूतियों की ललित अभिव्यक्ति का मधुरतम माध्यम रहा है। प्रकृति के कण-कण में संगीत-सरिता का कर्णप्रिय कलकल निनाद व्याप्त है।[1]

संगीत का भारतीय समाज एवं संस्कृति से अटूट संबंध है। चराचर को व्यामोहित करने की शक्ति संगीत में है और प्रकृति के विभिन्न उपादानों से ही मानव को संगीत की प्रेरणा मिली। भारत में संगीत धर्म एवं समाज से जुड़ा था, समाज संगीत की क्रीड़ा स्थली है, इसलिए संगीत एवं संगीतज्ञों का प्रभाव भी समाज एवं संस्कृति पर पड़ना स्वाभाविक है।[2]

महान कलाकार देश-काल की सीमाओं से ऊपर उठकर सार्वभौमिक समाज का प्रतिनिधित्व करता है, वह जीवन की अपूर्णता को पूर्ण करता है। कला के माध्यम द्वारा उस समाज के प्रत्येक वर्ग को सद्व्यवहार, सदाचार, चरित्र निर्माण, देशभक्ति की शिक्षा देकर उस समाज और उसके द्वारा निर्मित राष्ट्र को समृद्धशाली और उदार भावनाओं से युक्त करता है। विश्व की सभी पतनोन्मुखी समाजों से संबंधित जनमानसों को उद्बोधित करके नवीन चेतना प्रदान करना, कला के द्वारा ही संभव हुआ है।[3]

संगीतज्ञ अपने कलात्मक प्रदर्शनों द्वारा समाज में संगीत का अनुकूल वातावरण उपस्थित करता है। सामाजिक प्राणी अनेक संघर्षों तथा जीवन की जटिल समस्याओं में उलझे रहने के कारण अत्यन्त चिन्ता से व्याकुल हो जाते हैं। उनकी इस व्याकुलता और अशांति को दूर करने में संगीत कला अत्यन्त सहायक सिद्ध होती है। कला के विकास के साथ-साथ सभ्यता का विकास होता है। समाज में संगीत कला की उन्नति से सभ्य व्यक्तियों की संख्या में अभिवृद्धि होती है जिससे समाज की शक्ति प्रबल हो जाती है। सामाजिक प्राणियों में नैतिकता की भावना संगीत कला के विकास से ही उत्पन्न होती है। संगीत कला के प्रदर्शन तथा श्रवण से मनुष्य को जो सुख अनुभव होता है, वह आन्तरिक होता है। इसलिए संगीत

पूर्व शोध छात्रा, संगीत विभाग, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय भागलपुर

कला का वरिष्ठ साधक संसार के सभी सुख-साधनों को तुच्छ एवं तिरस्कृत समझता है तथा उन सुख-साधनों के प्रति उसका राग-द्वेष नहीं रह जाता। फलतः समाज में धीरे-धीरे नैतिकता का विकास होता है और संगीत द्वारा समाज का चारित्रिक उत्थान होता है।

समाज की आर्थिक दशा सुधारने में भी संगीत अत्यन्त सहायक होता है। अच्छे संगीत कलाकार बड़े-बड़े विद्यालयों में संगीत के प्राध्यापक पद पर नियुक्त होकर उच्च वेतन प्राप्त करते हैं और अपने सफल संगीत प्रदर्शनों द्वारा समय-समय पर पर्याप्त धनोपार्जन करते रहते हैं। बड़ी-बड़ी संगीत गोष्ठियों एवं संगीत सम्मेलनों में अपनी संगीत कला के प्रदर्शनों द्वारा समुचित धन का उपार्जन कर लेते हैं। इतना ही नहीं, अर्थोपार्जन के साथ-साथ समाज में उनका सम्मान भी होता है। कोई भी संगीतकार समाज में भूखा नहीं मर सकता। इस प्रकार समाज की आर्थिक उन्नति में संगीत का काफी योगदान है। जिन कलाकारों में संगीत कला की ईश्वरीय देन है उनसे समाज को अत्यधिक लाभ पहुँचता है। संगीत कला के प्रेमी निरंतर संगीत-साधना में संलग्न एवं तत्पर होने के कारण अनेक कुरीतियों, अनिष्ठ एवं दोषों से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। वे संगीत-साधना के अतिरिक्त सांसारिक प्रपंचों से दूर रहा करते हैं। इस प्रकार संगीत-साधना द्वारा समाज का न केवल आर्थिक विकास अपितु नैतिकता और मानवता का भी विकास होता है।[4]

प्रेम और एकता का जन्मदाता धर्म और धर्म का जन्मदाता संगीत है। हमारे ऋषियों ने समाज को सुव्यवस्थित बनाने के लिए धर्म का उपदेश दिया है, जिस धर्म की उपलब्धि हमें संगीत कला के द्वारा होती है। अतः संगीत से केवल मानव जाति ही नहीं अपितु समस्त देव, गंधर्व, किन्नर आदि खुश होते हैं। देवताओं की तुष्टि से मनुष्य का परम कल्याण होता है और सामाजिक प्राणियों में धार्मिक भावना उत्पन्न होती है। समाज के सभी स्त्री-पुरूष प्रेम और एकता के सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं। अतः संगीत कला के माध्यम से हम किसी भी स्थान पर धार्मिक भावना का विकास कर सकते हैं जिससे वह जाति-पाति एवं ऊँच-नीच के भेदभाव से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार संगीत द्वारा आध्यात्मिक विकास एवं सामाजिक भावात्मक एकता स्थापित होती है।

जिस प्रकार संगीत से समाज की उन्नति होती है उसी प्रकार समाज से संगीत की उन्नति होती है। समाज की सुव्यवस्था से ही बड़े-बड़े कलाकारों को प्रोत्साहन प्राप्त होता है। इन दोनों दृष्टियों से संगीत और समाज में घनिष्ठ संबंध है। दोनों एक-दूसरे से अनुप्राणित हैं।

संदर्भ

1. कुलकर्णी श्रीमती वसुधा, भारतीय संगीत एवं मनोविज्ञान - पृ0- 8
2. बनर्जी डॉ. नमिता मध्यकालीन संगीतज्ञ एवं उनका तत्कालीन समाज पर प्रभाव - पृ0-127
3. भार्गव डॉ. सरोज, सौन्दर्यबोध एवं ललितकलाएँ - पृ0- 1.5
4. पाठक पंडित जगदीश नारायण संगीत निबंध माला - पृ0- 34-36

भारतीय संगीत के मौलिक चिन्तनों का दार्शनिक अनुशीलन

डॉ. राकेश रंजन

भूख-प्यास, नींद, कामवासना-ये मौलिक प्रवृतियाँ तथा हर्ष-शोक, भय, क्रोध, प्यार-ये भावनाएँ पशु-पक्षियों तथा मनुष्य में समान रूप से होने पर भी मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी विवेक-बुद्धि, विचार-शक्ति या जीवन को विशेष दृष्टिकोण से देखने की क्षमता अथवा ''दर्शन'', जो उसे व्यावहारिक जीवन की अनुभूतियों से प्राप्त होती है। अपनी इस शक्ति का वह हर समय, हर समस्या में, हर कार्य या अनुष्ठान में प्रयोग करता है, ठीक उसी प्रकार, जैसे वह देखना बंद नहीं करता। नेत्र हैं, तो हर समय जगत् की वस्तुओं का दर्शन करता है, यहाँ तक कि सोते समय भी स्वप्न देखता रहता है। बाह्य चक्षु क्रियारत न हों तो अंतर का दर्शन करने लगता है।

'दर्शन' शब्द का सीधा अर्थ भी देखने से सम्बन्धित है - 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाए। देखने-योग्य वस्तु क्या है? इसी जिज्ञासा में दर्शन की उत्पत्ति मानी जाती है। अनादिकाल से भारतीय चिंतन-परंपरा में यह जिज्ञासा रही है - मनुष्य क्या है, कैसे उत्पन्न हुआ, कहाँ से आया, मनुष्य जिसका एक क्षुद्रतम अंश है, उस जगत् की सृष्टि कैसे हुई? इसका स्रष्टा कौन है, जड़ या चेतन? उससे मनुष्य का कोई संबंध है? संबंध कैसे स्थापित किया जा सकता है? क्या मार्ग है? इन शंकाओं, प्रश्नों, जिज्ञासाओं के समाधान में ऋषि-मुनियों ने अनेक मार्ग खोजे तथा विभिन्न सिद्धान्त स्थापित किए, जो विभिन्न- ''दर्शन'' कहलाए।

सिद्धांत-स्थापन की सामान्यतः दो विधियाँ मानी जाती हैं - 1. निगमन (Deductive) - सामान्य या स्थापित सिद्धांत के आधार पर विशेष की खोज या विश्लेषण, जैसे - मनुष्य मरणशील है, राम भी मनुष्य है, अतः वह भी मरणशील है। 2. आगमन (Inductive) दृश्य-जगत् में एक से अनेक द्रष्टान्तों को देखकर किसी सामान्य सिद्धांत पर पहुँचना, जैसे-सभी मनुष्यों और पशु-पक्षियों को मरते देखकर यह सिद्धांत स्थापित करना कि जो जन्म लेता है, वह मरता है। मनुष्य जन्म लेता है, अतः मनुष्य मरणशील है। भारतीय और पाश्चात्य विचारधारा में इनकी क्रम से प्रधानता है। स्थूल के आधार पर सूक्ष्म की खोज पश्चिमी विचारधारा की विशेषता है, जबकि हमारे यहाँ सूक्ष्म की तह तक जाकर फिर स्थूल की ओर लौटते हुए विश्लेषण करने की परंपरा रही है।

'दर्शन' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है - 1. किसी विषय को देखने की पद्धति यानी तत्व को जानने का क्या दृष्टिकोण है, इसे 'दर्शन' कहा जाता है और 2. किसी विशेष दृष्टिकोण से देखने पर जो सिद्धांत स्थापित होते हैं, उनका समग्र रूप भी 'दर्शन' है। पहला दर्शन का सामान्य अर्थ है। पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार 'हर विषय का अपना दर्शन' होता है। इसमें 'दर्शन' शब्द सामान्य अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। लेकिन भारतीय 'दर्शन' दूसरे अर्थ के रूप में समझे जाते हैं। यह सही है कि हर विषय के अध्ययन का अपना दृष्टिकोण रहता है,

सचिव, भारतीय संगीत कला अकादमी, बोकारो स्टील सिटी, झारखण्ड

जो उस विषय का 'दर्शन' कहलाता है। किंतु एक सर्वमान्य स्थापित दृष्टिकोण से भी हर विषय को देखा जा सकता है। यहाँ भी अंतर इसलिए है कि पाश्चात्य विचारक 'अनेकता में एकता' के सिद्धांत को लेकर चलते हैं, जबकि भारतीय ऋषि 'एकता में अनेकता' खोजने के लिए ही सतत प्रयत्नशील रहे हैं। भारत में हर विषय, कला, शास्त्र के अध्ययन में दृष्टिकोण यही रहा कि वे आत्मोन्नति अथवा आत्म-साक्षात्कार का साधन कैसे बन सकते हैं।

संगीत-शास्त्र का कोई अलग दर्शन नहीं रहा, लेकिन चूँकि प्राचीन शास्त्रकारों के जीवन पर किसी न किसी दर्शन का गहरा प्रभाव था, इसलिए जीवन की अनुभूति उनके लेखन में भी व्यक्त हुई। संगीत-शास्त्र पर मुख्य रूप से योगतंत्र, वेदांत, न्याय तथा सांख्य का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

संगीत - शास्त्र का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ भरत का 'नाट्यशास्त्र' है, जो वास्तव में संगीत - शास्त्र का नहीं, बल्कि नाट्य के क्रियात्मक पक्ष का शास्त्र है। रंगमंच पर नाट्य प्रस्तुत करने से संबंधित सभी विषयों का व्यावहारिक क्रियात्मक निरूपण इसमें किया गया है। ग्रंथकार ने आरंभ में कह दिया है कि जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का कलात्मक अनुकरण ही 'नाट्य' है, इसलिए उसमें सभी ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग तथा कर्म का समावेश है। नाट्य की सिद्धि में संगीत सबसे अधिक सहायक है और उसे भली प्रकार सम्पन्न किया जा सके, इसी दृष्टि से संगीत-शास्त्र का निरूपण हुआ है। संगीत के परवर्ती शास्त्र-ग्रंथों में संगीत को दार्शनिक तत्वों से जिस रूप में सीधे जोड़ा गया है, वह रूप 'नाट्यशास्त्र' में नहीं है। लेकिन इस बात के पर्याप्त प्रमाण इस ग्रंथ में है, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'नाट्यशास्त्र' पर दर्शन का गहरा प्रभाव है। 'महेश्वर' की स्तुति से ग्रंथ का आरंभ, पंचम वेद के रूप में 'नाट्यवेद' की स्थापना करके उसकी उत्पत्ति-संबंधी कथा का वर्णन (सत्ययुग के बीत जाने पर त्रेता में वैवस्वत मनु की संतान के काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्यादि से पीड़ित होने पर देवताओं द्वारा ब्रह्मा जी से ऐसे खिलौने की माँग करना, जो अन्य बातों के साथ धर्म, अर्थ, यश, उपदेश भी दे और तब ब्रह्मा जी द्वारा 'नाटयवेद' की रचना), 'नाट्यवेद' के लिए 'ऋग्वेद' से 'पाठ्य', 'यजुर्वेद' से 'अभिनय', 'सामवेद' से 'गीत' और 'अथर्ववेद' से 'रस' का ग्रहण, धर्म अर्थ-कामादि पुरूषार्थों के साधन का अनेक बार उल्लेख, रसों के वर्णदिवतादि का निरूपण, शुद्ध गीतकों के उदाहरण-गीतों में (जिनका नाट्य से पहले पूर्व रंग विधि में प्रयोग होता था), शंभु महादेव की स्तुति - ये सब दार्शनिक प्रभाव का संकेत देते हैं। किंतु यह सही है कि लेखन-शैली दार्शनिक नहीं है।

'नाट्यशास्त्र' में उल्लिखित भरत के सौ पुत्र-शिष्यों में कोहल प्रमुख कहे जा सकते हैं, क्योंकि 'नाट्यशास्त्र' के अंतिम अध्याय में भरत का कथन है - 'शेषं प्रस्तारतंत्रेण कोहलः कथयिष्यति'। कोहल के केवल खंडितांश ही यत्र-तत्र उद्धरणों के रूप में प्राप्त हैं। लेकिन मतंग ने 'स्वर-निर्णय' प्रकरण में (वृहद्देशी, पृष्ठ 12) कोहल के दो उद्धरण दिए हैं, जो इस प्रकार हैं :-

आत्मेच्छया महितलाद् वायुरूद्यन्निधार्यते।
नाडीभित्तौ तथाकाशे ध्वनीरक्तत: स्वरः स्मृतः।।

तथा

ऊर्ध्वनाडीप्रयत्नेन सर्वभित्तिनिघट्टनात् ।
मूर्च्छितो ध्वनिरामूर्ध्नः स्वरोऽसौ व्यापकः परः।।

इनमें स्पष्टतः 'योगतंत्र' के अनुसार स्वर की उत्पत्ति बताई गई है। कोहल का मूल ग्रंथ उपलब्ध न होने से नाद-स्वर आदि के निरूपण में जिस तंत्र-पद्धति का उन्होंने अवलंबन किया होगा, उसके संपूर्ण दर्शन तो नहीं होते, लेकिन मतंग ने अपने तंत्र-संम्मत निरूपण की पुष्टि में उसे उद्धृत किया है। इसी से स्पष्ट है कि यह परम्परा मतंग से पहले से चली आ रही है।

मतंग के 'वृहद्देशी' में 'योग-दर्शन' का प्रभाव अधिक स्पष्ट दिखाई देता है, जहाँ शास्त्र-निरूपण आरंभ करने से पहले 'नाद' तत्त्व की विवेचना की गई है। 'वृहद्देशी' के आरंभ में ही 'ध्वनि', ध्वनि से 'बिंदु', बिंदु से 'नाद', नाद से 'द्विविध मात्रा' (स्वर-व्यंजनरूपा) तथा षड्जादि स्वर-इस क्रम में स्वरों की उत्पत्ति बताई है। ध्वनि, बिंदु, नाद, मात्रा

आदि सभी संज्ञाएँ सीधे योग-दर्शन से ली गई हैं। देशी-उत्पत्ति-प्रकरण में ध्वनि को 'परायोनि' - मूल कारण - बताते हुए स्थावर-जंगम संपूर्ण जगत् को ध्वनि से आक्रांत बताया है।

संगीत का मौलिक उपकरण 'स्वर' है, जो आहत नाद से उत्पन्न होता है। नाद की उत्पत्ति 'प्राण' और 'अग्नि' के संयोग से होती है। 'प्राण' 'ब्रह्मग्रंथि' में रहता है, जो ब्रह्म का स्थान है। वह ब्रह्म इस संपूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति, वर्धन और संहार का कारण है। महेश्वर नाद-रूप हैं, उनकी 'पराशक्ति (जिसे योग में 'चिति', 'चित्-शक्ति' आदि भी कहा है) नाद-रूप है। ब्रह्मा-विष्णु-महेश भी नाद-रूप हैं। नाद के बिना न स्वर है, न गीत है, न वाद्य है, न नृत्य है, यहाँ तक कि जगत् का संपूर्ण व्यवहार ही नाद पर अवलंबित है, इसलिए नाद के बिना कुछ नहीं है और नाद से ही सब-कुछ है, जीवन में चेतना का प्रतीक भी स्पंदन रूप 'नाद' है, संपूर्ण सृष्टि ही 'नादात्मक' है।

नाद की उत्पत्ति, धारण और विलय का आधार शरीर है, पुरूषार्थों का साधन भी यही देह है, सूक्ष्म शरीर में जन्म-जन्मांतरों से संचित संस्कारों के भोग का उपाय भी यह मानव-शरीर है, सच्चिदानंद, स्वयंज्योति, निरंजन, निराकार, निर्विकार, अज, अनश्वर, विभु, अद्वितीय, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, परब्रह्म के अंश-जीव - का निवास भी इसी नरतन में है तथा संगीतादि कलाओं की साधना भी इसी शरीर से संभव है। शरीर की इस महत्ता के कारण गर्भ में आने से लेकर जन्म होने तक की सब अवस्थाओं का, पंचप्राण, धातु, गृहा, अस्थि, स्नायु, रक्त-प्रवाहिका शिरा-धमनी, षट्चक्र, ब्रह्मग्रंथि आदि का निरूपण करके इस प्रकार की देह से 'भुक्ति-मुक्ति' का साधन, ध्यान, एकाग्रता आदि उपाय, उपायों की दुष्करता, अनाहत नाद में सुख का साधन होते हुए भी रक्तिविहीनता, अतः आहत नाद के श्रुति-स्वर आदि सुकर, लोकरंजक, भवभंजक उपाय के द्वारा भुक्ति- मुक्ति का एकत्र साधन बताया। 'संगीत-रत्नाकर' के स्वरगत प्रथम अध्याय के इस पिंडोत्पत्ति-प्रकरण में पिंड-निरूपण स्थूल भौतिक या वैज्ञानिक आधार पर नहीं, बल्कि वेदान्त-दर्शन के अनुसार हुआ है। इस ग्रंथ के प्रणेता आचार्य शाङ्गदेव वेदान्त के प्रकांड पंडित और आयुर्वेदाचार्य थे। पिंडोत्पत्ति-प्रकरण में उनका यह उल्लेख इसका प्रमाण है -

'अस्मद्विरचितेऽध्यात्मविवेके वीक्ष्यतांबुधैः'।

इसी ग्रंथ में नाद-स्थान आदि के प्रसंग से नादोत्पत्ति की विधि, 'नाद' शब्द की व्युत्पत्ति, नाद-भेद, नादों के स्थान, श्रुति-संख्या बाईस होने का कारण आदि का जिस ढंग से निरूपण किया है, वह योग का ही प्रभाव है और उसमें मतंग से काफी समानता है, यथा :-

आत्मा विवक्षमाणोऽयं मनः प्रेरयते मनः।
देहस्थं बह्निमाहंति स प्रेरयति मारूतम् ।।
ब्रह्मग्रंथिस्थितः सोऽथ क्रमादूर्ध्वपथे चरन्।
नाभिहृत्कंठ मूर्धास्येष्वाविर्भावयति ध्वनिम् ।।
नादोऽतिसूक्ष्मः सूक्ष्मश्च पुष्टोऽपुष्टश्च कृत्रिमः।
इति पंचभिधा धत्ते पंचस्थानस्थितः क्रमात् ।।
नकारं प्राणनामानं दकारमनलं विदुः ।
जातः प्राणाग्निसंयोगात्तेन नादोऽभिधीयते।।
व्यवहारे त्वसौ त्रेधा हृदि मन्द्रोऽभिधीयते।
कंठ मध्यो मूर्ध्नि तारो द्विगुणश्चोत्तरोत्तरः।।
तस्य द्वाविंशतिर्भेदाः श्रवणाच्छ्रुतयो मताः ।
हृद्यूर्ध्वनाडीसंलग्ना नाड्यो द्वाविंशतिर्मताः ।।
तिर्यश्च्यस्तासु तावत्यः श्रुतयो मारूताहतेः ।
उच्चोच्चतरतायुक्तः प्रभवन्त्युत्तरोत्तरम् ।।

(1/3/3-9)

आत्मा में 'मैं ध्वनि उत्पन्न करूँ' - यह इच्छा होने पर वह मन को प्रेरित करती है, मन देह में स्थित अग्नि पर आधात करता है, जो मारूत (वायु) को प्रेरित करता है, तब ब्रह्मग्रंथी में स्थित वायु क्रम से ऊपर को उठती है और नाभि, हृदय, कंठ, मूर्धा और मुख में ध्वनि का आविर्भाव करती है। यह ध्वनि अथवा नाद पाँच प्रकार का होता हैं - अतिसूक्ष्म, सूक्ष्म, अपुष्ट, पुष्ट और कृत्रिम - जो क्रमशः पाँच स्थानों में स्थित होता है (ये स्थान हैं - अतिसूक्ष्म नाभि में, सूक्ष्म हृदय में, अपुष्ट तालु में, पुष्ट कंठ में और कृत्रिम मुख में)। नाद में दो वर्ण हैं - 1, 'न' और 2. 'द'। 'न' प्राणवायु का और 'द' अग्नि का द्योतक है। इन दोनों के यानी प्राण और वायु के संयोग से बना होने के कारण इसकी 'नाद'- संज्ञा

सार्थक होती है। संगीत के व्यवहार में इसके तीन प्रकार है। हृद्‌यगत नाद को 'मंद्र', कंठस्थित को 'मध्य' और मूर्धा में स्थित नाद को 'तार' कहा जाता है, जो क्रमशः दुगुने-दुगुने ऊँचे हैं। इस नाद के बाईस भेद हैं, जो सुने जाने के कारण 'श्रुति' कहलाते हैं। हृदय और ऊर्ध्वनाड़ी (सुषुम्ना) से संलग्न बाईस नाड़ियाँ है, जो तिरछी हैं और ऊपर की ओर बढ़ते हुए जिनकी लंबाई क्रमशः घटती जाती है। उनके भीतर के आकाश में वायु द्वारा आघात होने पर श्रुतियाँ उत्पन्न होती हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारतीय संगीत-शास्त्र में बाईस ही श्रुतियाँ माने जाने का आधार स्थूल नहीं, अत्यंत सूक्ष्म है। इन्हें वैज्ञानिक स्थूल उपकरणों की सहायता से तो अब भी सिद्ध नहीं किया जा सका है, लेकिन यौगिक प्रक्रिया तथा अंतः प्रेरणा के आधार पर भारतीय महर्षियों ने सहस्त्रों वर्ष पूर्व ही सिद्ध करके इन्हें दार्शनिक शैली में प्रतिपादित भी किया था।

तांत्रिक मंत्रों में 'बीज' कहने की पद्धति के समान की संगीत के स्वरों का संबंध भी 'बीजों' से जोड़ा गया। मंत्रों में किस देवता की उपासना है, यह बताने के लिए वर्णों (स्वर तथा व्यंजन) के आठ वर्ग बनाए गए - 1. अवर्ग, 2. कवर्ग, 3. चवर्ग, 4. टवर्ग, 5. तवर्ग, 6. पवर्ग, 7. यवर्ग तथा 8. शवर्ग। 'अवर्ग' में सारे अ-इ-उ आदि स्वर, 'कवर्ग' में क-ख-ग-घ-ङ- ये पाँच वर्ण, इसी प्रकार 'चवर्ग' से 'पवर्ग' तक, 'यवर्ग' में य-र-ल-व तथा 'शवर्ग' में श-ष-स-ह यों वर्णों का विभाजन हुआ। प्रत्येक का संबंध अलग-अलग देवता से स्थापित करके बीज का नाम दिया तथा मंत्र या देवता कहने के बजाय बीज का उल्लेख कर दिया गया, जैसे - 'अ' का 'हरि' बीज है यानि 'अ' बीज-मंत्र विष्णु की उपासना में प्रयुक्त होता है।

संगीत में इनका संबंध सबसे पहले मतंग ने स्थापित किया, जो नीचे उद्धृत किया गया है :-

वर्गाष्टकं तु संप्राप्य अकादि यशांतकम् ।
वर्णमात्रासमायुक्तमुद्धरेत्स्वरसप्तकम् ।।
अष्टमस्य तृतीयं तु हरिबीजसमन्वितम् ।
आर्यस्वरं स्वरज्ञस्तु उद्धरेत्सप्रयत्नतः ।।
सप्तमस्य द्वितीयं तु कामबीजसमन्वितम् ।
उद्धरेत्तुस्वरं नित्यं सौरभेयं मनोहरम् ।।
द्वितीयस्य तृतीयं तु हरिबीजसमन्वितम् ।
समुद्धरेत्तुतीयं तं सरसं स्वरमुत्तमम्।
षष्ठस्यापि हि वर्गस्य अंतिमं चादिसंयुतम् ।
अविनष्टं विजानीयान्मध्यमस्वरमुत्तमम् ।
तदादि प्रथमोपेतं स्वरं संविद्धि शोभनम् ।
व्योमसंख्यासमायुक्तमोष्ठस्थानसमुद्‌भवम् ।।
पंचमस्यापि वर्गस्य चतुर्थ चादिभूषितम् ।
कोदंडद्वगसंभूतमुद्धरेत्स्वरमुत्तमम् ।।
अकारान्तान्तसंभिन्नं पंचमांन्त समुद्धरेत् ।
ब्रह्मस्थानसमुद्‌भूतं सुतारध्वनिसंयुतम् ।।
आगमस्थःस्वरोद्धार एवं तावत्प्रदर्शितः ।

इसमें क्रम से 'स, रे, ग, म, प, ध तथा नि' इन स्वर-संज्ञाओं के 'बीज' बताए हैं। 'स,ग,म,प और ध' अकारांत होने से बीज-मंत्रयुक्त हैं यानी 'विष्णु' से संबंधित हैं तथा 'रे, नि' इकारांत होने से कामबीजयुक्त हैं अर्थात् 'शक्ति' से सम्बद्ध हैं।

स्वर और श्रुति के संबंध की चर्चा करते हुए उनमें तादात्म्य, विवर्तत्व, कार्य-कारण, परिणामता, अभिव्यक्ति आदि संबंधों का खंडन-मंडन-निरूपण, न्यायदर्शन के जाति-व्यक्ति, मुख-दर्पण, मृत्पिंड-घट, दूध-दही, प्रदीप-घट आदि दृष्टांतों तथा भ्रांति-ज्ञान आदि अन्य विशिष्ट शब्दों का प्रयोग मुक्त हृदय से किया गया है ('वृहद्देशी', श्लोक 31-45)। विभिन्न सिद्धांतों के प्रतिपादन में प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, संभव, अभाव, अर्थापत्ति प्रमाणों का प्रयोग संगीत के शास्त्र-ग्रंथों में स्थान-स्थान पर दिखाई देता है तथा न्याय-दर्शन की परिभाषाओं का प्रयोग तो संगीत-शास्त्र में ही क्या, सभी शास्त्रों में सदा होता रहा है।

'सांख्य-दर्शन' के अनुसार, सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व उसका मूल कारण 'प्रकृति' 'साम्यावस्था' में रहती है। प्रकृति के उपादान तत्व-सत्व, रजस् और तम - ये तीन गुण है। इन तीनों का अपने-अपने में कछुए की तरह सिमटकर रहना ही प्रकृति की 'साम्यावस्था'' है। जब उनमें क्षोभ उत्पन्न होता है

यानी हलचल होती है, तब उनमें वैगुण्य आता है और उनके परस्पर मिश्रण से जगत् की सृष्टि होती है। 'स्वर' की व्याख्या करते हुए 'नाट्यशास्त्र' के प्रख्यात टीकाकार दर्शन के प्रकांड पंडित अभिनवगुप्ताचार्य कहते हैं 'शब्दस्वभावां चित्तवृत्ति मध्यस्थतारूपस्वास्थ्यावस्थापरित्य जनेनोपतापयंतो हृद्यतातिशयवशात् स्वतामाक्षिपंतः स्वविषये अभिधानं कुर्वतः स्वरा इत्युक्ताः'। अर्थात् सुननेवाले की मध्यस्थतायुक्त (शांत) चित्तवृत्ति को श्रवणमाधुर्य के कारण स्वास्थ्यावस्था (साम्यावस्था) से छुड़ाकर, पिघलाकर अपने रूप में ढ़ाल लेता है, इसलिए 'स्वर' कहलाता है। सांख्य की प्रकृति की साम्यावस्था में गुण-क्षोभ के परिणामस्वरूप होनेवाली जगत्-सृष्टि और चित्त की साम्यावस्था में श्रवण-माधुर्य से होनेवाले विगलन के कारण स्वर-सृष्टि में बहुत साम्य है।

एक बीज, उससे उत्पन्न एक अंकुर तथा उसी से वटवृक्ष की विशाल सृष्टि व्यवहार में यही उत्पत्ति-क्रम है। एक ब्रह्म, उसी से उत्पन्न पंचभूतादि विभिन्न तत्त्व तथा उनसे जगत् की अनंत सृष्टि-दर्शन में भी सृष्टि की उत्पत्ति का यही रूप रहा है। उसी प्रकार एक नाद-तत्त्व, उसके विभिन्न रूप सप्तस्वर और उनसे संगीत की अनंत सृष्टि-व्यवहार दर्शन और संगीत-इनमें भी अत्यधिक साम्य है।

दर्शन के प्रतिपादक आचार्यों ने व्यावहारिक जीवन में से ही तत्व प्राप्त किए और जीवन को उन्नत बनाने के लिए ही उनका निरूपण भी किया। शास्त्र-ज्ञान व्यवहार या उपासना के लिए था, जिसमें एकाग्रता यानी 'ध्यान' आवश्यक था। उपासना-मार्ग में, आरंभ में निर्गुणोपासना की कठिनता के कारण और उसकी योग्यता प्राप्त करने के लिए भी सगुण की उपासना विहित मानी गई है। योग में भी मन, बुद्धि, चित्त की शुद्धि तथा इंद्रिय-निग्रह के बाद मूर्ति आदि पर ध्यान केंद्रित करने की विधि है तथा वज्र, अंकुश, कुशिल, पाश, चारभुजा, सिंह का वाहन आदि प्रतीकात्मक लक्षणों से युक्त देवी-देवता हैं। संगीत में 'राग' भी ब्रह्म की भाँति अमूर्त, अदृष्ट तत्त्व है, उसपर ध्यान एकाग्र कैसे करें? इसी के समाधान में रागों के भी ध्यान बनाए गए, जिनमें रागों की कल्पना देवी-देवताओं के रूप में रागों के भी ध्यान बनाए गए, जिनमें रागों की कल्पना देवी-देवताओं के रूप में करके वही लक्षण दिए, जो यौगिक ग्रंथों में थे। महाराणा कुंभा-कृत 'संगीतराज' में देशी रागों के राग-ध्यानों में यह योग-परंपरा अत्यंत स्पष्ट रूप से उभरी है। मतंग के मूल ग्रंथ में भी इसी प्रकार के राग-ध्यान रहे होंगे, ऐसा अनुमान किया जाता है, क्योंकि कुंभा ने अपने ग्रंथ में राग-ध्यान के प्रकरण में मतंग का बार-बार उल्लेख किया है, यद्यपि उपलब्ध पाठ में से वह अंश लुप्त है। फिर भी देवी-प्रकरण के आरंभ में देवी-देवताओं का जो मंगलाचरण है, वह विशुद्ध तांत्रिक ढ़ंग का है, यथाः-

बंधूकाभां त्रिनेत्राममृतकरकलाशेखरां
रक्तवस्त्रां पीनोत्तुंग
प्रवृत्तस्तनभरनमितां यौवनारम्भरूढाम्
सर्वालंकारभूषां सरसिजनिलयां
बीजसंक्रांतमूर्तिं
देवीं पाशांकुशाभ्यामभयवरकरां
विश्वयोनिं नमामि।।

('वृहद्देशी', पृष्ठ 140-141)

एक ओर संगीत का शास्त्र दर्शन से प्रभावित है, तो दूसरी ओर शास्त्र-निरूपण की शैली में भी दार्शनिक शैली का प्रभाव है।

संदर्भ-सूची :-

1. मतंग, वृहद्देशी, पृ 12
2. शारंगदेव, संगीत रत्नाकर, पिंडोलत प्रकरण
3. वहीं, श्लोक 1/3/3-9
4. मतंग, वृहद्देशी
5. वही, पृष्ठ-140-141

संगीत और योग

रजनीश विश्वकर्मा

चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है, कर्ता होते हुए अकर्ता रहे, ज़िन्दगी रखता हुआ भी मर मिटे, अपने से अलग देखता हुआ भी औरों को अपना अंग समझे ऐसा साम्यावस्था को पहुंचा हुआ योगी, मनुष्यत्व पद को पा लेता है, बस यही मनुष्यत्व सबसे उंची व अन्तिम अवस्था है। यही वास्तव में योग है, संगीत मानव समाज की एक कलात्मक उपलब्धि है। यह लयकारी सांस्कृतिक परम्पराओं का एक मूर्तिमान प्रतीक है और भावना की एक उत्कृष्ट कृति है अमूर्त भावनाओं को मूर्त रुप देने का माध्यम है संगीत।

अपरा विधाओं में संगीत का स्थान सर्वोच्च है जहॉ यह एक ओर हमारे मनोरंजन का साधन है वही दूसरी ओर यह योग साधना सहित आत्म साक्षात्कार या ईश्वर दर्शन की भी सरल सहज तथा सरस माध्यम भी है इस प्रकार योग साधना से सम्पन्न संगीत को ही मार्गी संगीत की संज्ञा दी गई है।

भारत की सभ्यता और संस्कृति उसकी अपनी निजी उपज है भारतीय संगीत और योग वैदिक काल से ही आध्यात्मिक धरातल पर आसीन रहा है क्योंकि योग व संगीत दोनों को ब्रहम चिन्तन का साधन स्वीकार किया गया है। सामान्यतया योग का अर्थ है स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाना।

संगीत कला भी एक योग है, जो सिद्धि योग साधना से प्राप्त होती है वही सिद्धि संगीत साधना से प्राप्त होती है। योगी ध्यान तथा समाधि द्वारा ब्रहम नाद को प्राप्त करता है इसी तरह संगीत साधक संगीत में प्रयोग होने वाले तत्त्व स्वर, लय तथा नाद द्वारा अपने ध्यान को ईश्वर उपासना में लगाता है तब वह अन्तर्मुखी हो जाता है योग व संगीत दो अलग रास्ते हैं परन्तु उनका उद्देश्य एक ही है, मोक्ष प्राप्ति।

आज हम आधुनिक संगीत शास्त्र में आध्यात्मिक तत्वों तथा उससे जुड़े संगीत साधना के विषय वस्तु को बहुत कम देख पा रहे हैं इसका एक मूल कारण यह है कि आज के अधिकतम संगीतज्ञ संगीत साधना केवल व्यवसायिक दृष्टिकोण ये कर रहे हैं जो वास्तव में जनसाधारण के लिए मनोरंजन का साधन मात्र रह जाता है शायद हम भूल चुके हैं कि संगीत केवल मनोरंजन का ही साधन नहीं अपितु यह हमें अमरत्व प्रदान करने वाली अमृत की वह धारा है जिसे सही रूप में साध लेने पर हमारे जीवन में अनन्त शान्ति और परमानन्द की प्राप्ति हो जाए।

अध्यात्म और साधना की न जाने कितनी पद्धतियां हमारे देश ने विकसित की है पर यह देखकर आश्चर्य होता है कि इन सभी का किसी न किसी रूप में भारतीय संगीत से गहरा सम्बन्ध है। यूं तो काव्य, चित्र, वास्तु आदि कलाएं भी अध्यात्म से जुड़ी रही हैं पर उतनी नहीं जितनी कि भारतीय संगीत। दक्षिण भारत में तो आज भी शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में जो कुछ गाया बजाया जाता है उसका सम्बन्ध किसी न किसी रूप में ईश्वर से अवश्य बना रहता है। स्वर और लय न तो देखे जा सकते हैं और न ही इन्हें छुआ जा सकता है संगीत सिर्फ अनुभव की वस्तु है ठीक उसी प्रकार जैसे कि

शोध छात्र, बी.आर.ए.बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

परब्रहम , इससे यह योग साधकों के लिए बड़े काम की चीज साबित हुआ।

योग की नियमित साधना संगीत में भी आवश्यक है प्रातः जागरण तथा साधना में प्रवृत्त होना दोनों ही विधाओं में निर्दिष्ट है सादा जीवन उच्च चरित्र विवेकशील आचरण प्रकृति का सान्निध्य सरल व्यवहार तथा मृदुभाषी होना थोड़ा और संगीत के लिए अत्यधिक उपयोगी है।

योग एवं संगीत ये दोनों विषय मुख्यतया क्रियात्मक है। प्राणायाम अथवा स्वर परिवर्तन एक यौगिक क्रिया है जो कि श्वसन एवं उच्छवास का दिशा निर्देश करता है संगीत के स्वर मन्द्र, मध्य एवं तार इन तीन सप्तकों से लिया जाता है। इस स्वरों के उच्चारण में पेट, वक्षस्थल, कण्ठ एवं मस्तक स्थानों का प्रयोग क्रमशः होता है संगीत की नींव अथवा आधार हमारे श्वसन क्रिया पर निर्भर है उच्छवास की क्रिया को प्रतीक्षित कर उसे व्यवस्थित बना लेना यही गायन कला का आधार स्वरूप है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार वास योगशास्त्र का मूलाधार है उसी प्रकार स्वर भारतीय संगीत का मूलाधार है।

संगीत साधना और योग साधना में निर्देशों प्रशिक्षण तथा तैयारी में समरूपता निम्न तरह से होना चाहिए -

1. सदैव एक ही स्थान पर अर्थात् एक ही केन्द्र बिन्दु पर ध्यान लगाना।
2. सदा एक ही आसन पर बैठकर ध्यान लगाना।
3. सदा एक ही आसन मुद्रा में ध्यान लगाना।
4. सदा निर्धारित समय पर ध्यान लगाना।
5. सदैव एक ही परिधान में ध्यान लगाना।
6. सदा एकान्त में ध्यान लगाना।

संगीत साधना और योग साधना दोनों के लक्ष्य और उद्देश्य एक जैसे हैं। मोक्ष परब्रहम अथवा परमानन्द की प्राप्ति, योग और संगीत में सतत् अभ्यास, लगन और कठिन परिश्रम की आवश्यकता होती है। दोनों में अष्टांग नियमों की अनिवार्यता तथा अनुशासन का महत्त्व समान है।

संगीत-साधना में आध्यात्मिक पक्ष की भूमिका

शोभा कुमारी

जीवन के प्रत्येक पहलू में साधना का व्यापक महत्व है। ब्रह्माण्ड के प्रत्येक जीवों में इसके गुण को देखा जा सकता है। मानव तथा जीवों में गतिशीलता से, साधन-साध्य के तत्वों को अधिकाधिक प्रभावित किया जा सकता है। जब हम इतिहास के पृष्ठों को पलटते हैं तो पाते हैं कि हमारे जीवन का मात्र लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करना है अर्थात् परमात्मा का साक्षात्कार करना है।

इस लक्ष्य की प्राप्ति का सर्वोत्तम माध्यम संगीत है। जिस कारण उसे अध्यात्म के रंग में पूरी तरह रंगा गया है। संगीत मानव-मन को शुद्ध कर संपूर्ण वातावरण में शांति उत्पन्न करता है। संगीत की साधना मानव मन तथा हृदय को आह्लादित कर उसे परमानंद, आनंद की अनुभूति कराती है। वह साधक को अत्यंत कोमल हृदय का बना डालती है। वह अपने इस कोमल हृदय रूपी प्रतिमूर्ति को भावुकता की चादर ओढ़े हमारे समक्ष खड़े रखने में भी सक्षम हैं।

संगीत के लिए अध्यात्म का होना, उतना ही आवश्यक है जितना शरीर के लिए प्राण का होना। साधना करने के लिए भक्ति से बढ़कर कोई मार्ग नहीं यथा-

'मोक्ष साधन सामग्रेयाम् भक्तिसाधन गरीयसी।[1]

संगीत की नींव साधना पर टिकी है। संगीत में श्रुति, स्वर, ताल, राग वाद्य प्रभृति आदि सभी का देवताओं से संबंध स्थापित किया गया है। भारतीय दर्शन ने यहाँ के कलाकारों को अंतदृष्टि दी हैं। जिसके परिणाम स्वरूप ही संगीत की आत्मा को पहचानने में वो समर्थ हुए हैं।

भारतीय संगीतकारों ने अपनी आंतरिक चक्षु, खोलकर इस विषय का मान किया है। साथ ही साथ इसे मोक्ष के साधन का सर्वोत्तम उपाय भी माना है। उन्होंने इसे साध्य कभी नहीं माना वरण, इसे तो साधन का रूप माना है। संगीत की स्वरलहरियों में, साधना के माध्यम से मनुष्य अपने को संतुष्ट कर लेता है तथा उसमें संतोष की भावना उजागर होती है। इस गुण को पाने में अलौकिक सुख की अनुभूति प्राप्त होती है। भारतीय कलाकारों ने संगीत में रची बसी, अमूल्य निधि के रूप में गायन, वादन तथा नृत्य की आत्मा को पहचाना है।

जब हम इसका गहन अध्ययन करते हैं तो पाते हैं, कि, भारतीय विचारधारा सदा से आदर्श की भाव-भूमि पर प्रवाहित होती रही है, तथा उसका प्रयोजन लोक-कल्याण रहा है। हमारे महान मनीषियों ने भी अपने अमूल्य योगदान से भारतवर्ष को नई चेतना प्रदान करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। आज संपूर्ण भारत की एक प्रबल शक्ति के रूप में हमारा शास्त्रीय-संगीत उभरकर सामने आया है। आज शांति की खोज में जहाँ 'विदेशी' दिन-रात भटकते रहते हैं, तथा तनावपूर्ण जीवन से वो बोझिल होकर मानसिक शांति चाहते हैं, वहीं हमारे भारतीय शास्त्रीय संगीत, हमारे संपूर्ण भारतवासियों को अपने माध्यम से शांति की शीतलता प्रदान कराती है। हमारे संगीत ने सदैव से ही विश्व-बंधुत्व की बात कही है, तथा अपनी दोनों बाँहें फैलाये सभी को शांति व सुकुन का पाठ पढ़ाती है। संगीत की कोई अपनी भाषा नहीं होती उसका कोई अपना मज़हब नहीं, उसका कोई धर्म नहीं, वह तो स्वच्छंद बहती

शोध छात्रा, बी.आर.ए.विहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

हुई उस नदी के समान है, जहाँ प्यासी आत्मा को शांति मिलती है तथा उसके पान से आत्मिय सुख मिलता है। हमारा स्वभाव होता है कि हम आनंद और वेदना दोनों को बाँटना चाहते हैं, क्योंकि हम ऐसा महसूस करते हैं, कि आनंद बाँटने से बढ़ता है तथा वेदना बाँटने से घटती है। संगीत में भावों के द्वारा बड़े ही प्यार से दोनों को बाँटा जा सकता है। संगीत ऐसी कला है जिसे बिना बोले भी महससू किया जा सकता है तथा उत्पन्न भावों को आह्लादित मन से रसपान किया जा सकता है। इसके लिए, इसे भाषा में बयां करना उतना ही मुश्किल है जितना की, पत्थर पर दूब जमाना।

हमारे संगीत के मनीषियों ने स्वर, ताल, लय, श्रुति, राग आदि का देवी-देवताओं के साथ संबंध स्थापित किया है, जो हमारे 'नारदीय-शिक्षा' 'प्रतिशाख्य' आदि महान संगीत ग्रंथों में उल्लेखित है। गायन में प्रबंधों की चर्चा करते हुए, महान विद्वान शारंगदेव जी ने 'एला-प्रबंध' में, देवताओं के नामों से जोड़ा है। एला-पदों के सोलह देवताओं के नाम क्रमशः-पद्मालया, पत्रिणी, रंजनी, सुमुखी, शची, वरेण्या, वायुवेगा, वेदिनी, मोहिनी, जया, गौरी, ब्राह्मी, मातंगी, चंडिका, विजया तथा चामुंडा।

यथा-

पद्मालया पत्रिणी चरंजनी सुमुखी शची।[2]
वरेण्या वायुवेगा च वेदिनी मोहिनी जया।।
गौरी ब्राह्मी चमातंगी चंण्डिका विजया तथा।
चामुण्डैलापदेस्वेताः क्रमात् षोडश देवताः।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि, बड़े-बड़े महान संगीतज्ञों ने देवताओं के नामों से संगीत को जोड़ा है अतः संगीत-साधना से ईश्वर को आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। हमारे साधना के वशीभूत होकर हमारे संगीत में आनंद और उल्लास की अभिव्यंजनाएँ, स्थायी, सुखकर तथा अधिक प्रभावशाली होती है तथा वह हृदय के मार्मिक स्थल को छू जाती है। इस प्रकार आध्यात्म से की गई साधना में सृजनात्मक आनंद उपलब्ध होता है। भारतीय गीतों में, निर्गुण तथा ज्ञानपक्षीय गीतों का दायरा बड़ा होता है। उनकी पहुँच किसी व्यक्ति समाज, धर्म तथा संप्रदाय तक ही नहीं, बल्कि वो सबकी धरोहर होते हैं। उनके प्रयोक्ताओं को सर्वदा ही जीवन-संबंधी प्रेरणा मिलती रहती है। संगीत साधना के द्वारा कलाकारों में तीव्र वेदना को अनुभव करने की स्वाभाविक ग्राहकता हो जाती है। कलाकारों की प्रतिभा, स्वच्छंद गति से बहती रहती है।

इस प्रकार संगीत तथा अध्यात्म एक दूसरे के पूरक हैं। संगीत में आध्यात्मिकता होने से वह 'सोने पे सुहागा' कथन को सत्य करता प्रतीत नज़र आता है। संगीत कला में 'समय' एक आवश्यक तत्व के रूप में हमारे समक्ष विद्यमान है। संगीत में साधना कर यह महसूस किया जा सकता है कि, इसमें माधुर्य का संबंध-सुखानुभूति से होती है इंद्रिय सुख को इसकी सुखानुभूति नहीं हो सकती है। संगीत का उपयोग अर्थ-प्राप्ति के लिए अथवा भोग-विलास के लिए करने से परमात्मा से संबंध कभी स्थापित नहीं हो सकता।

आत्मा जब कुछ कहने को आतुर होती है और उसे वह शब्दों में जब बयाँ नहीं कर पाती तो, हमारा संगीत ही एक ऐसा माध्यम है जिससे अपनी भावों की अंतःचेतना तक को कहा जा सकता है। संगीत की साधना कर हम मानवों मे नीति, सदाचार, आदर्श की भावना को अधिक रूप में विकसित कर सकते हैं।

आज आवश्यकता है कि, शास्त्रीयता के सुर में बँधे भक्ति-गीत को और अधिक उभारने की, जिसके अध्यात्मिक शक्ति का मान, सारे जगत् को हो तथा इसकी प्रबल शक्ति से संपूर्ण विश्व का कल्याण हो।

संदर्भ

1 गर्ग लक्ष्मी नारायण, निबंध संगीत, पेज नं. 307
2 गर्ग लक्ष्मी नारायण, निबंध संगीत, पेज नं. 307

भक्ति आन्दोलन में संगीत के विकास के लिए आलवार के सन्तों का योगदान

डॉ. जितेन्द्र कौर

भगवद प्रेम की प्राप्ति के लिए अथवा भगवान के गुणानुवाद द्वारा अपने मानसिक विकारों को शमन करने के लिए जो गीत गाए जाते हैं अथवा वाद्य बजाए जाते हैं भक्ति संगीत कहलाते हैं। जिस प्रकार संसारिक राग अथवा आसक्ति ही उदात्त रूप धारण कर भगवद प्रेम में परिवर्तित होकर भक्ति कहलाती है, उसी प्रकार लौकिक मनोरंजन न होकर भगवद मनोरंजनार्थ गायन वादन हो तो वह भक्ति संगीत कहलाता है।

भक्ति संगीत भजन, प्रार्थना, कीर्तन तथा स्तुति के रूप में प्रचलित है। इसमें काव्य-पक्ष की अपेक्षा भाव-पक्ष का बाहुल्य रहता है। प्रत्येक का अपना विशिष्ट स्थान है। किसी में भावों की उच्चता, विचारों की गहनता तथा जीवन की गहन अनुभूति और उसका विश्लेषण विद्यमान रहता है, कोई जीवन व जात के बीच बहुत ही सुंदर सामंजस्य पैदा करता है, किसी में सम्पूर्ण समर्पण है तो किसी में मनुष्य मात्र के लिए प्रेरणादायक अपरिमित शक्ति छिपी हुई है।

संगीत का जन्म भक्ति भावना से हुआ है और इसी में इसका निरन्तर पल्लवन और विकास भी हुआ है। संगीत में ईश्वर से साक्षात्कार कराने की असीम शक्ति निहित है। संगीत के स्वर मन को एकाग्र करके इतना अधिक लीन, तन्मय और स्थिर कर देते हैं कि हृदय की समस्त चंचल वृत्तियाँ केन्द्रभूत होकर अन्तर्मुख हो जाती हैं और इधर उधर भाग नहीं पाती। अतः चंचल चित्तवृत्ति के निरोध, साध्य के साथ एकीकरण और भक्ति में तन्मयता लाने के लिए संगीत के स्वरों में तल्लीन होना अनिवार्य है। स्वरों में गति होती है यह गति सुसंयत श्रृंखलाबद्ध होती है। इसके माध्यम से मानव का मन अक्षुण्ण बना रहता है। यह आसपास के संघर्ष और कोलाहल पूर्ण वातावरण द्वारा विशृंखल नहीं होने पाता और सहज में अपने ध्येय को प्राप्त कर लेता है।

इन्हीं गुणों के कारण संगीत को सभी ने भक्ति का श्रेष्ठतम उपादान माना है। विश्व की विभिन्न जातियों के विभिन्न धर्मों में संगीत को उपासना का प्रधान अंग माना गया है। मंदिरों एवं गुरूद्वारों में सुबह से शाम तक जो कीर्तन भजन नाना प्रकार के वाद्यों के साथ किया जाता है उसमें संगीत ही एकमात्र आधार होता है। इसी प्रकार गिरजाघरों में घंटा और मस्जिदों में अजानों में भी संगीत ही काम कर रहा है। मजारों और खानकाहों में नातों और कव्वाली द्वारा उस अल्ला का ही गुणगान सदियों से किया जाता रहा है। भक्ति और संगीत के अटूट सम्बन्ध के विषय में अगर कहा जाए कि संगीत भक्ति के लिए ही है तो अतिशयोक्ति न होगी। जिस प्रकार शरीर का स्पन्दन प्राण है उसी प्रकार संगीत का स्पंदन भक्ति है और भक्ति का संगीत। संगीत भक्ति के साथ जुड़े रहने के कारण ही अपने इस पवित्र रूप को प्राप्त कर सका। इतिहास गवाह है जब-जब संगीत ने विषय-वासनाओं का समावेश खुद में किया तब-तब इसकी पवित्रता भंग हुई।

अन्य विधाओं की तरह संगीत को भी सात्विक, राजस, औश्र, तामस इन तीनों भागों में बांटा जा

एसोसिएट प्रोफेसर, गायन विभाग, खालसा कॉलेज फॉर वीमेन्स, अमृतसर

सकता है। सात्विक संगीत में ही भक्ति संगीत की गणना की जाती है। यह चित्रवृत्तियों का निरोध करने के लिए नादोपासना करने वाली मीरा, सूरदास, नानक आदि भक्तों का कंठहार है। भक्ति व विरक्ति भावों की प्रधानता ही उसकी विशेषता है।[1]

1985 ई0 - 1533 ई॰ के बीच उत्तरी भारत में भक्ति आन्दोलन ने जोर पकड़ा। भजन कीर्तन के रूप में संगीत का जगह-जगह उपयोग होने लगा। साथ ही साथ बंगाल में चैतन्य महाप्रभु एवं अन्य भगवद् भक्तों ने संकीर्तन का प्रचार किया। इन कीर्तनों के द्वारा भारतीय संगीत की आत्मिक सुषमा पर्याप्त मात्रा में ऊपर उभर कर आई और भारतीय संगीत की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि सुदृढ़ हुई।[2] भक्ति आन्दोलन ने हिन्दुओं को पुनर्जीवन प्रदान किया। इस समय हिन्दू लोग ईरानी अरब तथा अफगान लोगों के क्रूर आक्रमणों का सामना कर रहे थे। इन परिस्थितियों के कारण हिन्दुओं की धार्मिक, अध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक पहचान मानो अंधकार में खो गई थी। भक्ति आन्दोलन ने हिन्दु संस्कृति के पुनर्जागरण का कार्य आरम्भ किया।[3]

पन्द्रवीं से सत्रहवीं शताब्दी के मध्य सगुण व निर्गुण उपासना के रूप में भक्ति आन्दोलन चला। सगुण भक्ति की दो धाराएं राम भक्ति और कृष्ण भक्ति, और निर्गुण भक्ति की दो धाराएं ज्ञान मार्गी और प्रेम मार्गी के रूप में पल्लवित हुई।[4]

धर्म के प्रति लोगों में श्रद्धामय चेतना लाने का कार्य उस समय की मांग थी। सम्भवतः यही उद्देश्य भक्ति आन्दोलन के सन्तों की दृष्टि में था। उस कार्य में निसंदेह ही संगीत ने एक अति महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। मीरा, सूर, तुलसी नानक, कबीर आदि संतो ने अपने विचारों को काव्य का रुप देकर संगीत के माध्यम से सजाया, संवारा एवं साधारण जन के कल्याणार्थ उसका प्रचार प्रसार किया। भक्ति मार्ग पर चलते हुए संगीत इनके लिए ईश्वरोपासना का सर्वश्रेष्ठ साधन था।

इस काव्य में अनेक ऐसे संगीतज्ञ उत्पन्न हुए है जिन्होंने अनेक प्रकार से संगीत की सेवा की। इस प्रकार मध्य काल के प्रारम्भ में संगीत में जो गिरावट या लड़ाखड़ाहट आ गई थी वह इस समय स्थिर होकर सुव्यवस्थित होने लगी थी।[5]

डॉ॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार भक्ति आन्दोलन के उदय का श्रेय दक्षिण के आलवन भक्तों को है। वैष्णव भक्ति में समन्वय की भावना के कारण उसका प्रभाव सम्पूर्ण भारत पर पड़ा। विद्वानों का विचार है कि इसी के परिणाम स्वरूप आर्यों एवं द्रविडों का भी समन्वय हुआ। इस काल में भक्ति परम्परा का विकास उत्तर की तुलना में दक्षिण भारत में अधिक हुआ। दक्षिण के आलवार भक्तों ने पौराणिक भक्ति को सरंक्षण प्रदान किया।[6]

वैदिक काल में जो संगीत था वह पूर्ण रुपेण संस्कृत भाषा में था जो आम जनता की समझ से परे था।

आलवार सन्तों ने सर्वप्रथम जनसाधारण की मांग के अनुसार उसे प्रादेशिक भाषा तमिल में रचा और जनता के समक्ष रक्खा जिस कारण भक्ति संगीत का विकास तेजी से हो सका। तमिल में छठी से नवीं शताब्दी तक जिस काव्य का निर्माण हुआ वह पूर्णरूपेण भक्ति काव्य है। यह काल तमिल साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल के नाम से प्रसिद्ध है। वैष्णव धर्म के आचार्यो ने अपने धार्मिक सम्प्रदायों तथा सिद्धांतों का प्रसार उत्तरी भारत में भी किया।

आलवार

दक्षिण भारत में वैष्णव आचार्यो को आलवार कहा जाता था। यह एक तमिल भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है, भगवत भक्ति में लीन व्यक्ति। ये भक्त अधिक विद्वान् नहीं थे पर ये उच्चकोटि के साधक थे तथा आध्यात्मिक साधना में लीन रहते थे। इनका रहन-सहन सीदा-सादा था और ये अपनी नम्रता, सरलता के लिए विख्यात थे।[7]

जो भक्ति संगीत या भक्ति का स्वरूप आज हमारे सामने है उसे ये रूप देने में आलवार भक्तों का बहुत बड़ा योगदान है। आलवारों से पूर्व जो वैदिक परम्परा थी उसमें यज्ञादि और कठिन परिश्रम से ईश्वर अथवा मोक्ष प्राप्ति की व्यवस्था थी। आलवारों ने इस कष्ट साध्य परम्परा के साथ उपनिषद् और गीता को भी पूर्ण रूप से हृदयंगम किया। आलवारों के सम्मुख बौद्धों और जैनों की नास्तिक परम्पराएं भी थी। आलवारों ने इन सबको समझा अवश्य होगा और वैदिक भक्ति के रूप को सुधार कर युग

की मांग के अनुसार उसमें परिवर्तन कर जनता के सामने रख दिया यहीं इनकी सबसे बड़ी देन थी।[8] आलवार भक्तों का विश्वास था कि जब भक्त अपने को असहाय पाकर भगवान की शरण में जाता है तभी भक्ति का उदय होता है। कोई भी व्यक्ति भगवान की शरण में जाकर अपने अपराधों की क्षमा मांग ले तो भगवान उसे अपना लेते हैं। ऊंच-नीच, स्त्री-पुरुष, धनी-निर्धन सभी भगवान की दृष्टि में समान है।

आलवारों ने कई शताब्दियों पूर्व भारत वर्ष में स्थापित भक्ति को मधुर भावना से जोड़कर जन आन्दोलन का रूप दिया। आलवारों ने भक्ति का मार्ग बड़े ही सरल रूप में जनसमाज के सम्मुख रखा इन्होंने संस्कृत भाषा को न अपना कर अपने सिद्धांतों का प्रसार तमिल प्रदेश की जन भाषा में किया। इन भक्तों द्वारा रचे गए पद भी तमिल भाषा में है। आलवारों के शिष्य स्थान-स्थान पर जाकर इन भक्ति गीतों को गाकर भक्ति का प्रचार करते थे। इन पदों का लिखित संकलन नवीं शताब्दी में नाथ मुनि ने किया था इसलिए इस बात की सम्भावना है कि जब तक इन पदों को लिखित रूप में संग्रहित किया गया तब तब बहुत से पद नष्ट हो गए थे। आलवारों की रचनाओं का संग्रह दिव्य प्रबंधम् कहलाता है। उसमें 4000 गीत संग्रहीत हैं। दिव्य प्रबन्धम को भक्ति आन्दोलन का आदि ग्रन्थ माना जाता है। प्रबन्धम् में आलवारों के पद मूल रूप में रखे गए थे। पीछे वैष्णव विद्वानों ने उन पर टीकाएँ भी लिखी। इस प्रकार प्रबन्धम् भक्ति आन्दोलन का आदि ग्रंथ बन गया।[9] डॉ॰ हरवंश लाल शर्मा ने अपने ग्रंथ भागवत दर्शन में भी इस बात को स्वीकार किया है कि भक्ति आन्दोलन को दिशा देने वाला ग्रन्थ प्रबंधम् ही है। डॉ॰ आयंगर ने भी इस बात को बलपूर्वक कहा है कि आलवारों ने ही सर्वप्रथम भक्ति आन्दोलन को एक नया रूप दिया। इस भक्ति मार्ग में और कुछ करने की आवश्यकता नहीं थी केवल भाव-विह्वल हृदय से ईश्वर की शरण में प्रपत्रि भाव से अपने को समर्पित कर देना था। तमिल प्रदेश की तत्कालीन परिस्थितियों ने ही इन भावुक भक्त कवियों को जन्म दिया। जाति-पाति पर इनका विश्वास नहीं था। साधारण रूप से आलवारों द्वारा प्रतिपादित भक्ति आन्दोलन को वैष्णव मत से जोड़ा जाता है किन्तु आलवारों के साथ नायनमीरा की भी भक्ति का, जो उपास्य की दृष्टि से शैव थे बहुत महत्व है। वैष्णव, आलवार और शैव नायनमार दोनों ने ही भक्ति का भावविह्वल रूप में प्रतिपादन किया। दोनों की रचनाएँ जन साधारण की भाषा में थी।[10] दोनों ने ही लौकिक प्रेम को दिव्य प्रेम में रूपान्तरित करने का भरपूर प्रयास किया।

आलवारों की संख्या 12 मानी गयी है।[11] ये 12 आलवार जो इस संदर्भ में अपना विशेष स्थान रखते हैं। आलवार 4थी से 9वीं शताब्दी के बीच हुए।

इस प्रकार आलवार सन्तों ने जिस भक्ति संगीत का उत्थान किया उसकी शुरूआत शंकराचार्य कर चुके थे। परन्तु संगीत के क्षेत्र में आलवार सन्तों का योगदान भुलाया नहीं जा सकता।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. संगीत पत्रिका, जनवरी, 1970, पृ0-31
2. जोशी उमेश भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0- 196
3. यमन अशोक कुमार संगीत रत्नावली- पृ0-103
4. सक्सेना प्रो॰ मधुवाला , सक्सेना राकेश वाला - संगीत मधुबन, पृ0-109
5. शर्मा भगवत शरण भारतीय संगीत का इतिहास - पृ0-79
6. यमन अशोक कुमार संगीत रत्नावली, पृ0-104
7. डॉ॰ सुमन, मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन का सामाजिक विवेचन, पृ0-9
8. मोहम्मद डॉ॰ मलिक वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, पृ0- 56
9. मोहम्मद डॉ॰ मलिक वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, पृ0-61
10. मोहम्मद डॉ॰ मलिक वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, पृ0-54-55
11. गुप्त आशा भक्ति-सिद्धांत, पृ0- 70

संस्कृत नाटकों का अभिन्न अंग : पूर्वरंग

पी. मेदिनी होम्बल

पुरातन युग में जब प्राचीन भारत अराजकता से भर चुका था, जब मनुष्य सत्य असत्य, उचित अनुचित को भूलकर अधर्म के मार्ग पर चलने लगे थे, जब वैदिक क्रियाएँ, यज्ञ, दान, दया और ईश्वर भक्ति अर्थहीन हो गई थी, जब ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, लोभादि के भाव मानव हृदय को इतना संकुचित कर चुके थे कि प्रेम, आनंद, सहृदयता लुप्त हो चली थीं और युद्ध एक ऐसी सामान्य घटना बन चुकी थी कि सभी मानवता से परे अंधकार में रहने लगे थे, तब देवताओं ने मनुष्य को पुनः धर्म के सही मार्ग पर लाने और मानवता का महत्व समझाने का निर्णय किया।

किंतु वे जानते थे कि मनुष्य को क्रोध से डरा धमका कर सही मार्ग पर नहीं लाया जा सकता और इसीलिये उन्होंने सोचा कि इन बुरे विचारों से मनुष्य को दूर करने के लिये किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता है जो न केवल उनका मनोरंजन करे वरन् उन्हें नैतिकता का पाठ भी पढ़ाये। इसी विचार के साथ उन्होंने परमपिता ब्रह्मा से एक ऐसा क्रीडानीयकम् बनाने का निवेदन किया जो दृश्य व श्रव्य दोनों हो, जिसे स्त्री पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र-क्षत्रिय सभी जान, समझ और पढ़ सकें और जो ज्ञानवर्धक हो। यह सुन कर परमपिता ब्रह्मा ध्यानमग्न हो गये और ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद को एकत्रित किया तथा इन वेदों के सार को संग्रहित कर उन्होंने पंचम वेद के रूप में नाट्यवेद का निर्माण किया।

देवेन्द्र के आग्रहानुसार यह नाट्यवेद भरत मुनि को समझने और अपने सौ पुत्रों व शिष्यों सहित प्रयोग करने हेतु प्रदान किया गया। ब्रह्मदेव ने सौम्य भावों की प्रस्तुति हेतु 24 अप्सराओं का निर्माण भी किया और गायन-वादन में भरत मुनि का सहयोग करने का कार्य स्वाति मुनि, नारद मुनि व गंधर्वों को सौंपा गया। इस प्रकार से इन्द्र के ध्वज महोत्सव में सबसे पहले नाट्य का मंचन संभव हुआ। किंतु प्रस्तुति के मध्य में दैत्यों ने देवों की असुरों पर विजय की गाथा के प्रस्तुतिकरण को अपमानजनक समझ उत्पात मचाना प्रारंभ कर दिया जिसे पितामह ब्रह्मा ने शांत कराया।

उन्होंने दैत्यों को समझाया कि नाट्यवेद सभी के लिये है केवल देवों के लिये नहीं और यह सभी जनों के अच्छे और बुरे कर्मों का प्रदर्शन करता है। तत्पश्चात् देवशिल्पी विश्वकर्मा ने ब्रह्मदेव की आज्ञानुसार एक नाट्यमण्डप का निर्माण किया और सभी देवी देवताओं को हर दिशा से उसकी रक्षा का कार्यभार सौंपा गया। तब पुनः नाट्य का मंचन प्रारंभ हुआ किंतु इस बार इसमें एक महत्वपूर्ण परिवर्तन था। नटराज भगवान शंकर ने पहला नाट्य मंचन देखा था और पाया कि उसे और अधिक सौंदर्यपूर्ण बनाया जा सकता है। अतः उन्होंने भरत से नाट्य के प्रारंभिक अंश में नृत्य का प्रयोग करने के लिये कहा।

उन्होंने भरत से कहा कि 'करणों, अंगहारों, चारि और रेचकों सहित मेरे द्वारा निर्मित शुद्ध नृत्त का प्रयोग न केवल नाट्य के प्रारंभिक गीतों के अर्थ को समझाने में सहायता प्रदान करेगा वरन् संपूर्ण नाट्य प्रस्तुति को और अधिक सौंदर्यपूर्ण भी बनायेगा।' भरतमुनि ने सहर्ष नटराज शंकर की बात स्वीकार

असिसटेन्ट प्रोफेसर, भरतनाट्यम विभाग, इंदिरा कला संगीत वि०वि०, खैरागढ़

की और शिव के प्रमुख गण तण्डु मुनि ने उन्हें इस नृत्त की शिक्षा प्रदान की। इसी कारण यह नृत्त ताण्डव के नाम से जगप्रसिद्ध हुआ। देवी पार्वती ने भी अपने द्वारा निर्मित सौम्य व सुकुमार प्रस्तुतियों के लिये उपयुक्त नृत्त लास्य की शिक्षा भरतमुनि को प्रदान की। नाट्य का यह प्रारंभिक अंश जिसमें नृत्त का समावेश किया गया पूर्वरंग के नाम से जाना जाता है।

केवल गीतों द्वारा इसकी प्रस्तुति के कारण इन गीतों के अर्थ को समझना कठिन था किंतु शिव पार्वती के नृत्त के साथ पूर्वरंग का स्वरूप ही बदल गया और ये न केवल और अधिक सुंदर हो गया वरन् पूर्वरंग के गीतों में वर्णित कठिन अर्थों को भी सरलता से दर्शकों तक पहुँचाने लगा। कहा जा सकता है कि यह नृत्य का प्रारंभिक स्वरूप था जहॉ से चलते हुए आज हमें यह विभिन्न रूपों में प्राप्त होता है। धरती पर आने के पश्चात् यह नृत्य स्वतंत्र रूप से भी प्रचलित हुआ। नाट्यशास्त्र की टीका करते हुए आचार्य अभिनव गुप्त शिव का वंदन करते हुए कहते हैं कि यदि नाट्य संसार रूपी है तो आराध्य शिव आकाश के रूप में उसके अधिष्ठाता बन विराजमान हैं-

संसारनाट्यनिर्माणे याऽवकाषविधानतः।
पूर्वरंगायते व्योममूर्तिं तां शांकरीं नुमः।।[1]

अर्थात् - हम उस भगवान शिव को नमन करते हैं जो नाट्य में पूर्वरंग के रूप में उसी प्रकार प्रतिष्ठित हैं जिस प्रकार संसार में आकाश प्रतिष्ठा के साथ व्याप्त है।

भरतमुनि द्वारा रचित नाट्यशास्त्र के अनुसार पूर्वरंग के अंतर्गत वे सभी प्रकार की विधियॉ व क्रियाएँ आती हैं जिन्हें मुख्य नाटक की प्रस्तुति से पहले किया जाना आवश्यक है। इनमें से कुछ विधियॉ यवनिका अर्थात् पर्दे के पीछे की जाती हैं और कुछ मंच पर दर्शकों के समक्ष ही प्रस्तुत होती हैं। इस प्रकार से पूर्वरंग की विधियों को दो भागों में विभाजित किया जाता है -

अंतर्यवनिका, अर्थात् पर्दे के पीछे की जाने वाली विधियॉ नौ प्रकार की हैं :-

प्रत्याहारोऽवतरणं तथा ह्यारम्भ एव च।
आश्रावणा वक्त्रपाणिस्तथा च परिघ्रना।।
संघोटना ततः कार्या मार्गासारितमेव च।
ज्येष्ठमध्यकनिष्ठानि च तथैवासारितानि च।।
एतानि तु बहिर्गीतान्वन्तर्यवनिकागतैः।।[2]

1. प्रत्याहार - कुतप अर्थात् वाद्यों का वितरण और वाद्यवृन्दों का उचित स्थान ग्रहण करना।
2. अवतरण - स्त्री व पुरुष गायक तथा अन्य संगीतज्ञों का मंच पर उचित स्थान ग्रहण करना।
3. आरम्भ - विभिन्न स्वर आलापों के अभ्यास द्वारा कंठ को परिगीत अर्थात् गाने हेतु तैयार करना।
4. आश्रावणा - वादन से पूर्व सभी वाद्य-यंत्रों को श्रुतिबद्ध करना।
5. वक्त्रपाणी - वाद्यों को बजाने की विभिन्न शैलियों (वृत्ति) का अभ्यास।
6. परिघट्टना - जो संगीत प्रस्तुत होने जा रहा है उसके अनुरूप ततवाद्यों को एक श्रुति में मिलाना।
7. संघोटना - ताल दर्शाने हेतु प्रयुक्त विभिन्न हस्त क्रियाओं का अभ्यास करना।
8. मार्गासारित - अवनद्ध व ततवाद्यों को एक साथ बजा कर उनकी श्रुति जॉचना।
9. आसारित - कलाओं के विभागों अर्थात् कलाभागों का अभ्यास।

बहिर्यवनिका, अर्थात् पर्दे के सामने की जाने वाली विधियॉ दस प्रकार की हैं :-

प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि तन्त्रीभाण्डकृतानि तु।।
ततः सर्वैस्तु कुतपैः संयुक्तान्यानि कारयेत्।
विघाट्य वै यवनिकां नृत्तपाठ्यकृतानितु।।
गीतानां मद्रकादीनां योज्यमेकं तु गीतकम्।
वर्धमानमथापीह ताण्डवं यत्र युज्यते।।
ततष्चोत्थापनं कार्यं परिवर्तनमेव च।
नान्दी शुश्कावकृष्टा च रगंद्वारं तथैव च।।
चारी चैव ततः कार्या महाचारी तथैव च।
त्रिकं प्ररोचना चापि पूर्वरंगे भवन्ति हि।।[3]

1. गीतक - ईश्वर का गुणगान करते प्रार्थना रूपी गीतों का प्रस्तुतिकरण।

2. उत्थापन - कुछ विद्वान इसे नाटक का प्रारंभ मानते हैं क्योंकि यह नाट्य के आधार का कार्य करता है। इसके सांगीतिक गीत में नाटक की कथा का अंश समाहित होता है।
3. परिवर्तन - परिवर्तन के अन्तर्गत सूत्रधार विभिन्न चारी करते हुए मंच पर चारों ओर घूमता है और रंगमंडप के रक्षक देवी देवताओं का आवाहन कर उनकी वंदना प्रस्तुत करता है।
4. नान्दी - इसके अंतर्गत देवों, ब्राह्मणों व राजाओं का गुणगान व स्तुति की जाती है।
5. शुष्काक्षर्कृष्ट - ध्रुवा शुष्काक्षर अर्थात् अर्थहीन किंतु कलात्मक रूप से सजे कुछ शब्दों का गान जो जर्जर श्लोक की प्रस्तुति के प्रारंभ की सूचना देता है।
6. रंगद्वार - पूर्वरंग के इस अंश के साथ ही वाचिक और पूर्ण आंगिक अभिनय का प्रारंभ हो जाता है अतएव इस अंश को रंगद्वार कहते हैं।
7. चारी - सूत्रधार द्वारा श्रृंगार रस से पूर्ण आंगिक क्रियाओं का प्रदर्शन।
8. महाचारी -सूत्रधार द्वारा रौद्र रस से पूर्ण आंगिक क्रियाओं का प्रदर्शन।
9. त्रिगत अथवा त्रिकृ - सूत्रधार का पारिपार्श्विकों के साथ वार्तालाप जिसमें सांकेतिक रूप से नाटक की भूमिका बाँधी जाती है।
10. प्ररोचना - उचित तथ्यों व कारणों के साथ नाटक की कथावस्तु के वर्णन के पश्चात् सूत्रधार का दर्शकों को नाट्य प्रस्तुति देखने का निमंत्रण।

यदि भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में वर्णित नियमों का पालन किया जाये तो यह सभी प्रारंभिक क्रियाएँ किसी भी संस्कृत नाटक की प्रस्तुति के पूर्व में अनिवार्य रूप से की जानी चाहिये क्योंकि इनसे नाट्यकारों का मंगल सिद्ध होता है। कई शतियों तक इस नियम का पूर्णतः पालन किया गया किंतु समय के साथ संस्कृत नाटकों का मंचन धीरे धीरे लुप्तप्राय हो चला और जब कभी यदा कदा संस्कृत नाट्य मंचन होता तब भी उसका प्रारंभिक भाग पूर्वरंग प्रायः प्रस्तुत नहीं किया जाता। इस प्रकार पूर्वरंग अविस्मरणीय अतीत का अंश बन गया।

कुछ नाट्यकारों ने इस भूले हुए अंश को प्रस्तुत भी किया किंतु उचित विधि का ज्ञान न होने के कारण प्रायः त्रिगत (सूत्रधार, विदूषक व पारिपार्श्विक की बातें) के साथ नृत्य कार्यक्रम में प्रस्तुत किये जाने वाले संस्कृत श्लोकों को पुष्पांजलि के रूप में प्रस्तुत किया गया और धीरे धीरे सभी इसी पुष्पांजलि को ही पूर्वरंग समझने लगे। इस नवीन पूर्वरंग स्वरूप में तो अंतर्यवनिका की क्रियाएँ जैसे वाद्यों को स्वरबद्ध करना आदि भी मंच पर दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत की जाने लगीं।

यह आज भी हम नाट्य व नृत्य कार्यक्रमों के प्रारंभ में देखते हैं जब दर्शक अधीरता से प्रस्तुति के प्रारंभ की प्रतीक्षा करते हैं और संगतकार वाद्यों के स्वर मिलाने में व्यस्त रहते हैं जबकि यह कार्य परदे के पीछे ही संपन्न हो जाना चाहिये। इस विलंब से प्रस्तुति के प्रति दर्शकों की रुचि में कमी आती है। नाट्यशास्त्र के पूर्वरंग भाग में ऐसे कार्यों को विघ्न मानते हुए उनका निषेध किया गया है और स्पष्ट कहा है कि कलाकार व वाद्यकारों को पूर्णतया सज्जित होकर ही मंच पर दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत होना चाहिये। तदापि, अशुद्धियों से यदि परे हटें तो अंतर्यवनिका के अंश किसी न किसी रूप में प्रस्तुत होते ही थे किंतु बहिर्यवनिका के अंशों की प्रस्तुति लुप्तप्राय हो गयी थी।

ये तो महान विदूषी व संगीत शास्त्र की ज्ञाता स्व. प्रो. प्रेमलता शर्मा के अथक प्रयासों का फल है कि पूर्वरंग के बहिर्यवनिका अंश को एक नया जीवन प्राप्त हो सका और वे पुनः संस्कृत नाट्य प्रस्तुतियों का एक अंग बन गये। उन्होंने सूक्ष्म रूप से नाट्यशास्त्र व अन्य नाट्योपयोगी संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन किया, संस्कृत नाटकों को समझा और उन्हें आधार बना कर नाट्यशास्त्रीय नियमों का पालन करते हुए पूर्वरंग का पुनर्निर्माण करने का प्रयत्न किया। उन्होंने कई शुष्काक्षर गान और गीतकों की रचना की जिनकी प्रस्तुति स्वरों और नृत्य रचनाओं द्वारा की जाती थी।

शुष्काक्षर गान ऐसे शब्दों का उच्चारण है जिनका कोई अर्थ ही नहीं है केवल उनकी ध्वनि मधुर प्रतीत

होती है तथा गीतक प्रार्थना रूपी गायन है। पूर्वरंग में प्रायः शुष्काक्षर गान और गीतकों के चार समूह होते हैं। प्रत्येक शुष्काक्षर गान के साथ एक नर्तकी मंच पर श्रृंगार, कलश, पुष्प व दीप लेकर प्रवेश करती है। सर्वप्रथम गीतक के शब्दों के अर्थ का भावाभिनय से परिपूर्ण नृत्य द्वारा प्रस्तुत किया जाता है तत्पश्चात् उन्हीं शब्दों पर शुद्ध नृत्त प्रस्तुत किया जाता है। जब प्रथम नर्तकी शुष्काक्षर गान और गीतक का एक समूह प्रस्तुत कर देती है तब द्वितीय नर्तकी शुष्काक्षर गान और गीतक के दूसरे समूह के साथ मंच पर प्रवेश करती है और दूसरे गीतक को भावाभिनय से परिपूर्ण नृत्य द्वारा प्रस्तुत करती है तत्पश्चात् दोनों नर्तकियॉं एकसाथ दोनों ही गीतकों पर शुद्ध नृत्त प्रस्तुत करती हैं।

यह क्रम चारों नर्तकियों द्वारा चारों समूहों की प्रस्तुति समाप्त होने तक चलता है। प्रत्येक नर्तकी के प्रवेश के साथ शुष्काक्षर गान में एक शब्द बढ़ जाता है और प्रस्तुत हो चुके सभी गीतक और नवीन गीतक पुनः गाये जाते हैं जिस पर मंच पर स्थित सभी नर्तकियॉं पुनः एकसाथ नृत्त प्रस्तुत करती हैं। नृत्य क्रियाओं के मध्य सुंदर रूप से करण, अंगहारों और रेचकों का कलात्मक समावेश किया जाता है। गीतकों के समूहों के मध्य पिण्डीबंधों का भी प्रयोग करते हैं।

गीतक का पहला छंद 9 कला द्वारा निर्मित होना चाहिये जिसमें प्रत्येक कला 4 मात्राओं की हो। गीतक का अगला छंद 8 कला का होना चाहिये जिसे दो बार गाया जाता है तथा इसके बाद पुनः प्रथम छंद गाया जाता है। इस प्रकार पंक्तियों की कला का प्रारूप 8-8-9 का होता है। गीतक का तृतीय छंद 16 कला का होता है और यहॉं 16-16-8-9 के प्रारूप का प्रयोग किया जाता है। गीतक का अंतिम छंद 32 कला का होता है और यहॉं 32-32-16-8-9 के प्रारूप का प्रयोग करते हैं।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि यह प्रारूप क्रमशः पीछे की ओर जाता है अर्थात् नवीन छंदों के पश्चात् पहले के छंद क्रमबद्ध रूप से गाये जाते हैं। प्रत्येक गीतक छंद गायन के मध्य में एक अधिक शब्द के साथ शुष्काक्षर गान गाया जाता है। पूर्वरंग में प्रस्तुति हेतु स्व. प्रो. प्रेमलता शर्मा द्वारा रचित एक शुष्काक्षर गान व गीतक इस प्रकार है[1]-

झंटुम जगतिय वलितक दिगिनिगि तितिचा

(शुष्काक्षर गान)

देवं। वद्यं। मदनां। ग हरं। ललना। र्ध धरं। चन्द्रा। र्ध धरं। शम्भुम्।।

(गीतक 9 कला)

झंटुम जगतिय वलितक दिगिनिगि तितिझल तितिचा

(शुष्काक्षर गान)

घनघन सार। सहोदर सुंदर। शशिकर निकर। शरीरं।। उत्फण फणिगण। वलय शिरोमणि। किरण विभिन्न। तमिस्रम।।

(गीतक 8 कला)

देवं। वद्यं। मदनां ।ग हरं। ललना। र्ध धरं। चन्द्रा। र्ध धरं। शम्भुम्।।

(प्रथम गीतक की पुनरावृत्ति)

झंटुम जगतिय वलितक दिगिनिगि तितिझल कुचझल तितिचा

(शुष्काक्षर गान)

गौरी नयन। विलोल विलोकन। जीवित मदनं। कनक पिशंग।। जटापरि सरगत। गंगा धौत। कपोलं।। चन्द्रापीड़ं। चन्द्रकमण्डित। चारुनिचोलं।। विशद कपोल। तलप्रति बिम्बित। कर्ण विभूशं। गजमुखाण्मुख।। बालक्रीड़ा। विकसित वदनं।।

(गीतक 16 कला)

घनघन सार। सहोदर सुंदर। शशिकर निकर। शरीरं।। उत्फण फणिगण। वलय शिरोमणि। किरण विभिन्न। तमिस्रम्।। देवं। वद्यं। मदनां। ग हरं। ललना ।र्ध धरं। चन्द्रा। र्ध धरं। शम्भुम्।।

(प्रथम व द्वितीय गीतक की पुनरावृत्ति)

झंटुम जगतिय वलितक दिगिनिगि तितिचा तितिझल कुचझल तितिचा

(शुष्काक्षर गान)

सततं सनका। दिक परिगीतं। गीताऽ। गम्यं। गीतगु ।णं पा -। रे सन्ति। ति नी -। र निधिं।। तृतया तीतं। त्रिजगद दीशं। त्रिगुणं द्विगुणं। सगुणं सततं। विमलं विशदं। कलनातीतं। कलानिधिं।। समद मदन मद दमन विभूषित। रति वरदान निदानं।। गज वदनोदित भुजवन लीला। लालन हर्षित वदनं।।

ध्यानागम्यं। ध्येयं सततं। कमलासदनं। परमानंदं।। व्योमकेशं। निर्जित मदनं। सुरनुत चरणं। भवभय हरणं।। वन्दे। शान्तं। शुभदं। नित्यं।

(गीतक 32 कला) गौरी नयन विलोल विलोकन। जीवित मदनं कनक पिशंग।। जटापरि सरगत गंगा धौत। कपोलं।। चन्द्रापीड़ं। चन्द्रकमण्डित चारुनिचोलं।। विशद कपोल तनप्रति बिम्बित। कर्ण विभूषं गजमुख. षण्मुख।। बालक्रीड़ा। विकसित वदनं।। घनघन सार। सहोदर सुंदर। शशिकर निकर। शरीरं।। गौरी नयन। विलोल विलोकन। जीवित मदनं। कनक पिशंग।। जटापरि सरगत। गंगा धौत। कपोलं।। चन्द्रापीड़ं। चन्द्रकमण्डित। चारुनिचोलं।। विशद कपोल। तलप्रति बिम्बित। कर्ण विभूषं। गजमुख षण्मुख।। बालक्रीड़ा। विकसित वदनं।। घनघन सार। सहोदर सुंदर। शशिकर निकर। शरीरं।। उत्फण फणिगण। वलय शिरोमणि। किरण विभिन्न। तमिस्रम्।। देवं वद्यं। मदनांग हरं। ललनार्ध धरं। चन्द्रार्ध धरं। शम्भुम्।।

(प्रथम, द्वितीय व तृतीय गीतक की पुनरावृत्ति)

ये सभी नियम समझने में अत्यंत ही कठिन हैं किंतु स्व. प्रो. प्रेमलता शर्मा जी ने इन नियमों को केवल लिखित रूप में ही नहीं वरन् प्रायोगिक रूप में भी प्रस्तुत कर दिखाया। 1985 ई0 में उज्जैन की कालिदास अकादमी ने पूर्वरंग पर एक संगोष्ठी का आयोजन किया। इस संगोष्ठी में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में कार्यरत स्व. प्रो. प्रेमलता शर्मा, प्रो. कमलेश दत्त त्रिपाठी व श्री प्रेमचन्द होम्बल जैसे उच्च कोटि के कलाकारों ने अभिनय भारती संस्था के माध्यम से अपनी प्रस्तुति दी और प्रायोगिक रूप में पूर्वरंग के भाग को शास्त्रोक्त विधि अनुसार प्रस्तुत किया। इस प्रस्तुति ने संगोष्ठी में उपस्थित दर्शकों का मन मोह लिया और पूर्वरंग के इस नवीन प्रयोग को सर्वसम्मति भी प्राप्त हो गई। इस पूर्वरंग पुनर्उद्धार के प्रयास में प्रो. सी. वी. चंद्रशेखर एवं स्व. प्रो. वासुदेव स्मार्त का सहयोग अविस्मरणीय है।

इस व्याख्यान के पश्चात् आने वाले वर्षों में अभिनय भारती संस्था ने कई अन्य नाटकों का भी मंचन किया जैसे दूतवाक्यम्, कर्णभारम्, मेघदूतम्, अभिज्ञान शाकुन्तलम् इत्यादि। किंतु स्व. प्रो. प्रेमलता शर्मा के निधन के पश्चात् उनकी यह संस्था और रंगकर्मी बिखर गये। इस पर भी एकल स्वतंत्र रूप से कार्य करते हुए सभी रंगकर्मियों ने कई नाटको की प्रस्तुति पूर्वरंग सहित करने का प्रयत्न किया लेकिन जो ज्योति उस महान विदूषी ने जलाई थी उसकी लौ धीमी अवश्य पड़ गई। आज यह हम नवीन कलाकारों के हाथ में हैं कि हम उस पूर्वरंग विधि को पुनः न खो दें जिसे इतने अथक प्रयासों से पुनजीवन प्राप्त हुआ था।

संदर्भ

1 Natyashastra 5th Chapter Purvaranga Vidhanam Abhinava Gupta"s commentary.

2 Natyashastr a 5th Chapter Purvaranga Vidhanam. Shloka No. 9 – 15.

3 Natyashastr a 5th Chapter Purvaranga Vidhanam. Shloka No. 9 – 15.

4 The Alchemy of Love and Wisdom Expressed Through Holistic Life and Works Of Prof. Premlata Sharma. Page-263

भोजपुरी लोकगीतों में लोक संस्कृति

डॉ. राजेश कुमार गुप्ता

लोक-साहित्य के भण्डार में लोकगीतों का स्थान निस्संदेह अत्यन्त उच्च है। पूर्वांग संस्कृति के निम्नतम स्तरों में भी हृदय की अनुभूतियों को संगीतमय शैली में अभिव्यक्त करने के प्रयोग विशेष प्रयत्न किये बिना ही पाये जा सकते हैं। संस्कृति के क्रमिक विकास के साथ मानव की काव्य-चेतना तथा अभिव्यक्ति का भी विकास होता है, और लोकगीतों की शैली तथा भाव-भूमि भी क्रमशः विकसित होने लगती है। लोकगीतों का क्षेत्र स्वयं ही अत्यन्त व्यापक है। मानव जीवन के किसी एक महत्वपूर्ण मूलभाव को सरलतम रूप में व्यक्त करने वाली दो पंक्तियों में पूर्ण छोटा-सा गीत तथा शैली एवं भावों की दृष्टि से विकसित, जीवन के विभिन्न पक्षों को कवित्वपूर्ण, रसमय तथा आलंकारिक ढ़ंग से स्पष्ट करने वाली लोक-गाथाएँ, दोनों मूलतः लोकगीत परिवार के ही हैं।[1]

लोकगीत स्वतः स्फूर्त प्राकृतिक काव्य के अंग है। लोकगीतों में उनके रचयिता अथवा रचना-काल का प्रश्न महत्वपूर्ण नहीं होता, उनका महत्व तो उनकी सहज रसोद्रेक शक्ति तथा सरल सौन्दर्य में रहता है। उनमें एक व्यक्ति विशेष की भावनाओं का प्रतिनिधित्व न कर लोकगीत समुदाय की भावना के कहीं अधिक सच्चे प्रतीक होते हैं। काल और स्थान की सीमा को लॉघ, लोक-गायकों और गायिकाओं के अधरों पर जीवित रहने वाले ये लोकगीत अतीत की परंपरा को वर्त्तमान में भी अंशतः जीवित बनाये रखते हैं। समय के व्यवधान से लोकगीतों के बाह्य स्वरूप में कतिपय परिवर्तन अवश्य होते हैं, किन्तु उनके अनेक मूल भाव तथा अभिव्यक्ति की अपनी विशेष शैली सामान्यतः अपरिवर्तित ही रहते हैं।[2]

लोक साहित्य में गीतों का विशिष्ट स्थान है। लोकगीत अपने शब्द संकेतों के साथ सदैव तैयार रहते हैं, इसी कारण लोकगीत जीवन के अति निकट हैं और जीवन को सुन्दर भी बनाते हैं। खेल- खलिहान, गॉव-नगर, ताल-तलैया, ऑगन-फुलवारी, तीज-त्यौहार आदि को लोकगीत ऐसे सजाते हैं जैसे कोई दुल्हन का पुष्पों से या घर को देसी उपकरणों से सजा रहा हो। कहीं उधार की वस्तु या बनावटीपन नहीं है। लगता है कि किसी यांत्रिक शक्ति से स्वतः संचालित हो रहा है। इनके रचनाकार साधारणजन ही किया करते हैं। शायद इसलिए कि मनुष्य प्राकृतिक रूप से कवि भी है। मनुष्य का स्वभाव गीत है, उसमें प्रवाह है। थोड़े में बहुत कहना चाहता है, भावरस में भींगकर कुछ बोलना चाहता है। वह जल है, बहना चाहता है-निर्मल जल।

भारतीय संस्कृति के विकृत एवं श्रेष्ठ दोनों प्रकार के स्वाभाविक चित्रण लोकगीत में उपलब्ध होते हैं। इनमें न तो अतिरंजना है और न अत्युक्ति। ग्रामीण कवि ने समाज में जो कुछ देखा है एवं अनुभव किया है उसका उसी रूप में वर्णन उपस्थित किया है। इन गीतों में हमें आशिक्षित एवं असंस्कृत भोजपुरी समाज का ज्यों का त्यों रूप देखने को मिलता है, साथ में भारतीय संस्कृति के अनुकरणीय आदर्शात्मक उल्लेख भी है। पुत्रजन्म के समय उछाह एवं उत्सव की परन्तु पुत्री के पैदा होने पर विषम दुःख की अभिव्यंजना इन गीतों में हुई है। भोजपुरी समाज में स्त्रियों का जो स्थान है, बाल विवाह, वृद्ध

व्याख्याता, संगीत विभाग ए. के. गोपालन कॉलेज सुलतानगंज, भागलपुर

विवाह एवं बहु विवाह के कारण किस प्रकार उनका जीवन नारकीय बन जाता है। इसका मर्मस्पर्शी वर्णन इन गीतों में मिलता हैं। सास और बहू, ननद और भावज के शास्वतिक कलह की चर्चा भी दिखाई पड़ती है जिसकी पुष्टि प्रत्यक्ष उदाहरणों से होती है। परन्तु इसके साथ ही भोजपुरी जीवन के उज्जवल पक्ष का भी चित्रण कुछ कम नहीं है। भाई और बहिन का सहज, स्वाभाविक एवं अकृत्रिम प्रेम, जो आज के जीवन में कथा मात्र शेष रह गया है, इन गीतों में पाया जाता है। माता और पुत्री के अलौकिक प्रेम की दिव्य झॉकी इनमें हमें देखने को मिलती है। स्त्रियों के सतीत्व का दिव्य एवं स्वर्गीय दृश्य भोजपुरी लोकगीतों में पाये है। [3]

भोजपुरी लोकगीत मुख्यतः छः प्रकार के हैं- संस्कार, ऋतु, व्रत या त्योहार, जाति क्रिया या श्रम, और विविध गीत। इन गीतों के भेद किया जाएँ तो ये लगभग बत्तीस होते हैं। इनमें अति महत्वपूर्ण-पुत्रजन्म , मुण्डन, विवाह, मृत्यु, कजली, होली, चैती, गोधन, पिडिया, छठी, अहीरों, रोपनी, जॅतसार, झूमर , पूर्वी, निर्गुन और खेल गीत अति प्रसिद्ध है। इन्हीं लोकगीतों में जीवन है, जीवन में गीत। भारतीय जीवन सोलह संस्कारों और सोलह श्रृंगारों से बॅधा है, गीत इन्हें पुष्ट करते हैं। इन गीतों में रस ही रस है- जीवन का रस। पुत्रजन्म के अवसर पर गाया जाने वाला सोहर भला किसे नहीं भाता और बिना गाये तो स्त्रियों क़ो चैन कहॉ। उपस्थित सभी स्त्रियाँ एक सुर लय ताल में ''गावहु ए सखि गावहु, गाइ के सुनावहु हो। सब सखि मिलि जुलि गावहु, आजु मंगल गीत हो।'' गाती है। 'सोहर' शब्द सम्भवतः शोभन या सोहल या सुधर से बना प्रतीत होता है। कहीं 'सोहर' को 'मंगलगीत' भी कहते है। सोहर में प्रसूता और जन्मे शिशु से सम्बन्धित विषयों जैसे-रतिक्रीड़ा, गर्भाधान, दोहद, प्रसव पीड़ा, शिशु की आभा का खास तौर से उल्लेख किया जाता है। न पिगंल शास्त्र न तुक की प्रधानता 'बस एक लय' एक गति-''मचिया जे बइठैली सासू, बहुए से पूछेलीं। ए बहुवा-कवन-कवन तप कइलू बबुआ पावलू सुन्नर हो।'' तुलसी दास 'रामलला नहछू' में सोहर की रचना करते हैं। महाकवि कालिदास भी सोहर की प्राचीनता प्रमाणित करते हैं।

प्रस्तुत गीत के प्रारम्भ में विध्नहरण गणनायक गणेश की वन्दना की गई है। फिर प्रथम महीने से लेकर पुत्रोत्पति तक के दस महीनों में गर्भिणी स्त्री के शरीर पर क्रमशः प्रकट होने वाले विभिन्न लक्षणों और उसकी रूचि-अरूचि का बारीक वर्णन हुआ है। इतना ही नहीं, दाहिने भाग में बच्चे के चलने से पुत्र होने का अनुमान लगाया गया है। ननद भतीजे के आने तथा उस समय खुशी में मिलने वाले नेग को सोच-सोच कर प्रसन्न हो रही है। वह सोहर गाने का संकल्प अपने मन में कर रही है। पुत्रोत्पति के बाद के आनन्दोत्सव का कहना ही क्या! द्रष्टव्य है सोहर गीत :

परथम मास मनाइले, मंगल गाइले हो।
ए ललना, बिधिनिहरन गननायक, मंगलदायक हो।।
परथम मास जब आइल, चित हरखाइल ए।
ए ललना, पुछबों में दिनवा सुदिनवा, त कब दो नहाइब।।
दोसर मास जब आइल, रूप बदलाइल हो।
ए ललना, अंग पीयर मुख दुरहुर, अगम जनाइल हो।।
तीसर मास जब आइल, चित फरियाइल हो।
ए ललना, परानपिया सहनाहक, बोली बड़ भारी हो।।
चउठ मास जब आइल, पिया से बिनती करे हो।
ए ललना, कइले रसोइया ना भावे, त ननद बोलाबष्ए हो।।
पाँच मास जब आइल, सभे साँच मानल हो।
ए ललना, सुतबो में सेजिया सोहावन, बेनिया डोलावन हो।।
छव मास जब आइल, ननद हँसि बोलेली हो।
ए ललना, दहिना बदन पर आगम, होरिला के आगम हो।।
दस मास जब आइल, राजा दसरथ गिरही मंगल हो।
ए ललना, जनम लिहले तिरभूहननाथ '', सभ सुखदायक हो।। [4]

भोजपुरी लोकगीतों में अनेक ऐसे गीत हैं जो हमें संस्कारित करते एवं सीख तो देते हैं, वहीं उलाहने कार्य भी करते हैं। लगता है कच्चे घड़े को पका रहे हों, दीक्षित कर रहे हों। विविध गीतों में

खेलगीत कितना प्राकृतिक है, बालमन का मनोरंजन कितना प्राकृतिक है, बालमन का मनोरंजन कितना स्वाभाविक है। यहाँ किसी खिलौने का काम नहीं है।"

"ताई-ताई पुरिया। घीव में चभोरिया। हम खाई की भउजी खाई। भउजी पतरेंगिया। " बच्चे की मनोवृति, रहन-सहन, शक्ति का ज्ञान इन गीतों से होता है। बच्चे चिढ़ाते भी हैं- "चोकर के लिट्टी कसइली के दाल। ए बनरा तोर गाँडिये लाल।" ऊँट का चिढ़ाना देखें - ए ऊँटवा दुगो बूंटवा दे। भरल बाजार में पइसा ले।" सियार के विषय में बच्चों का स्वर- "एक देखि के लपटी, दुई देखि के झपटी, तीन देखि चलि हे पटाई।" पूरा चरित्र दो पंक्तियों में कहने की विशेषता लिये ये गीत जीवन के कितने करीब हैं- "ओका बोका तीन तड़ोका। लउवा लाठी चन्दन काठी। बाग में बगउवा डोले। सावन में करइली फुले। ओ करइली के नाँव का? इलजइ बिजइल पानवा फुलवा। ढोढ़िया पचक।" इन स्वर प्रधान गीतों का अनुवाद असम्भव हैं। अनायास प्रतीकों का प्रयोग और एक अर्थ और बच्चों का अभिनय आश्चर्यचकित कर देने वाला है- "तार काटो। तरकुल काटो। काटो रे बन खाजा। हाथी पर के घुघुवा। चमकि चले राजा। राजा के रजइया, बाबू के दोपट्टा । होचि मारो, घीचि मारो। मूसर अइसन बेट्टा।"

"चाना मामा, चाना मामा। अरे आवअ पारे आवअ सोना के कटोरवा में। दूध-भात लेले आवअ मोरा बबुआ के मुँहवा के घुटूक से।" माता की लोरी का कोई जोड़ नहीं न कोई उत्तर। दो कड़ी के गीत कितने मीठे हैं। कितना कोमल स्पर्श है। भोजपुरी लोरी के आगे नींद की गोली व्यर्थ हैं। कितना सुखद लगता है लोरी सुनकर सोना—"ए बबुआ तू कथी के, खने सोता खने रूपा, के माई लवंग के, बाप चउवा चन्नन के।"

भोजपुरी गीतों पर एक दृष्टि डालने से पता चलता है कि लगभग हर क्षेत्र के भोजपुरी लोकगीतों के प्रकार एक जैसे हैं। केवल शब्दों में और धुनों में थोड़ा अंतर पाया जाता है। ये क्षेत्रीय भाषाओं की वजह से होता है।

यहाँ तक देखा जाता है कि एक ही प्रकार को दूसरे-दूसरे जातियों में अलग-अलग तरीके से गाया जाता है। जैसे- उसी कजरी के प्रकार का उच्च जातियों में दूसरे तरह का टोन मिलता है और निचली जातियों में दूसरे तरह का टोन मिलता है। और ये भी देखा जाता है कि मर्दों और औरतों के गीत में भी अन्तर होता है। जैसे-वही कहरऊ गीत मर्द दूसरी तरह से गाते हैं। तो औरतों का टोन अलग ही सुनने को मिलता है। [5]

लोकगीत जनता की थाती हैं। स्वतंत्र भारत में लोकगीतों के संरक्षण की आवश्यकता है। आज भी भोजपुरी लोकगीतों की रचना में लगे भोजपुरी के लोककवि अपनी प्रतिभा के साथ संलग्न हैं। ये गीत जनमानस को कहीं न कहीं संवेदनात्मक रूप से अवश्य ही प्रभावित करते हैं। लोकगीतों की रक्षा करना हमारा जनधर्म है और कर्तव्य भी। और यह भी सत्य है कि लोकगीतों से तो सम्पूर्ण लोकसंस्कृति जुड़ी हुई है।

संदर्भ-सूची ग्रंथ :-

1. दूबे, श्याम चरण, मानव एवं संस्कृति, राजकमल प्र., पृष्ठ सं.- 164
2. तथैव- 165
3. उपाध्याय कृष्णदेव, भोजपुरी लोक साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृष्ठ सं.-205
4. तिवारी श्री हंसकुमार, शर्मा श्री राधावल्लभ, स., बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना पृष्ठ सं.- 05
5. सिंह संजय कुमार, भोजपुरी लोक संस्कृति एवं हिन्दुस्तानी संगीत, कनिष्क पब्लिशर्स, पृष्ठ, सं.- 106

मगही लोकगीतों में श्रृंगार रस

राजीव कुमार चौबे

'मगही' शब्द मागधी प्राकृत का अपभ्रंश रूप है। मगही मुख्य रूप से मगध की भाषा है। प्राचीन काल में मगध -क्षेत्र में पटना और गया जिले के क्षेत्र शामिल थे।[1] भारत के यह पूर्वीय भाग में पड़ता था। ऋग्वेद्कालीन आर्यो का कार्यक्षेत्र प्रमुख्यतः सिन्धुघाटी में ही रहा। अपने समय में वे विश्व के सर्वाधिक सभ्य मानवसमूह थे और प्रायः जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने स्पृहणीय प्रगति की थी। सम्पूर्ण समाज को उन्होंने चार वर्णों में बाँट दिया था- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। वर्णों की यह व्यवस्था 'कर्मणा' थी, 'जन्मना' नहीं। पर, बाद में इसमें रूढिवादिता ने घर कर लिया और वर्ण-व्यवस्था 'जन्मना' निर्धारित की जाने लगी। इसके विपरीत क्षत्रियों ने ब्राह्मण-कर्मों का सम्पादन कर 'ब्रह्मत्व-पद' का दावा करना शुरू किया, जिसने इन दोनों वर्णों के मध्य एक ऐसे संधर्ष को जन्म दिया, जो भारत के नवीन इतिहास-निर्माण का आधार बना। अब यह पटना, गया, नालंदा, औरंगाबाद एवं कुछ अंश में हजारीबाग, मुंगेर, पलामू तथा रॉची में बोली जाती है। इसकी उत्तरी सीमा पर मैथिली, पश्चिमी सीमा पर भोजपुरी, उत्तर पूर्वी सीमा पर अंगिका, दक्षिण पूर्वी सीमा पर बंगला तथा दक्षिणी सीमा पर सदानी भोजपुरी बोली जाती है। इस भाषा के लोक गीतों में श्रृंगार के उभय पक्षों का सहज स्वाभाविक वर्णन मिलता है। विवाह के अवसर पर वर और कन्या के घर पर गाये जानेवाले गीतों में संयोग श्रृंगार सम्बन्धी विविध मनोभावों की झाँकी मिलता हे। नव दम्पति के मिलन, हास-परिहास, आनंद-विनोद आदि की इनमें प्रमुखता है। नदी किनारे स्वच्छन्द रूप से मिलते हुए नायक नायिका के वार्तालाप निम्न गीतों में द्रष्टव्य है -

"नदी किनारे गुल्लर के गछिया, छैला तोड़े-गोरी खाय।
छैला जे पूछे दिल के बतिया, गोरी के जिउआ बजाय।
जैसने पिवना पीपर के पतवा, ओयराने चिंकना धीऊ।
ओयसने चिकना गोरी के जोबना, पिया के ललचई जीऊ"।।[2]

वहाँ नायक नायिका के साहचर्य एवं सौंदर्यावर्णन द्वारा प्रेम संकेत की मनोहारी व्यंजना हुई है। विवाहोपरांत नव-वधू जब पहली बार अपने पति से मिलती है, तो उसकी उत्कंठा, लज्जा इत्यादि के कारण शारीरिक प्रतिक्रियाए देखते बनती है-

"जब पिया अयलन हमर अंगनमा,
धमे धमे धमक हइ सगर अंगनमा।"
जब पिया अयलन हमर सेजरिया,
थरे थरे कॉप हइ हमर बारी देहिया।
टपे टप चए लगल-हमर पसेनमा।[3]

यहाँ पति-पत्नी परस्पर आश्रय अवलम्बन हैं। शरीर का कंपन तथा पसीना छूटना सात्विक अनुभाव है। पत्नी का भयभीत होना तथा लजाना संचारी भाव है। इस प्रकार यहाँ संयोग श्रृंगार रस का पूर्ण परिपाक हुआ है।

कोहवर के गीत तो प्रेम और मिलन के मधुमय प्रसंगो से भरे होते हैं। कहीं वर अपनी प्यारी दुल्हन के रूप की प्रशंसा करता है, तो कहीं आभूषण

शोध छात्र, वि. वि. संगीत विभाग कृति. माँ. भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

पहनाकर रूठी हुई प्रिया को मनाता है। कहीं पत्नी के सतीत्व की परीक्षा दी जाती है, तो कहीं रात जल्द बीत जाने के कारण दोनों पश्चाताप करते रह जाते हैं। प्रथम मिलन के बाद कलह, मान-मनुहार आदि से प्रेम की वृद्धि होती है। मगही क्षेत्र की नायिका समाज की कुत्सित दहेज- प्रथा के प्रति सजग दिखाई पड़ती है। जब दुल्हा-दुल्हिन के रूप गुण की प्रशंसा कर उसे बाँहों से लगाना चाहता है, तो दुल्हिन साफ कहती है कि जब वह सुन्दर लग रही है, तो उसके पिता को दहेज के लिए इतना परेशान क्यों किया गया? वह शर्त कराती है कि उसके पिता से वे दहेज नहीं लें। दुल्हन अपनी भावों की अभिव्यक्ति निम्न गीतों के माध्यम से करती है -

"खोलु धनि खोलु धनि, सोबरन देबाड़ हो,
आजु के रतिया सुहावन करि देहु हे।
कहसे हम खोलू परभ, सोबरन किबड़िया हे,
हमरा बाबू से दहेज मत लिह हे।"

मुग्धा नायिका तो अधिक लज्जा करती है, इसलिए वह पति से मिलने के पहले हर तरह से आरजू-बिनती करवा लेती हैं धीरे-धीरे वही जब रस-कला में प्रवीण हो जाती है, तो पति को परेशान होना नहीं पड़ता है। प्रथमावतीर्ण मदन विकारा मुग्धा का यह मनोदशा प्रस्तुत गीतों के माध्यम से व्यक्त किया जा सकता है। द्रष्टव्य है गीत का कुछ अंश -

"दँतवा लगवलूँ हम मिसिया, नयन भरि काजर हे।
डर भर कयलूँ सेन्दुरवा विंदुलिया से साटि ले लूँ हे।
सेजिया बिछयलूँ हम अंगनमा, से फूल छितराइ देलूँ हे।
रसे-रसे बेनिया डोलयलूँ बलम गरे लागलूँ हे।"

नायिका वासक सज्जा है, इसलिए सोलहो श्रृंगार करके सेज बिछाती है और स्वयं पति के गले लग जाती है। मध्या नायिका अधिक लजाती नहीं, वह निर्भीक हो जाती है और भोग-विलास में अधिक रूचि लेने लगती है। जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण निम्न गीतों के माध्यम से व्यक्त किया जा सकता है-

"चउठा पहर रात बीतल, भोर भिनि सरा भेल हे,
भिनसारे लागल सिनेहियि, तो कागा बैरी बोले हे।"[1]

यहाँ नायिका अपनी अतृप्ति का बोध अपने प्रगल्भ वचनों द्वारा पति को करा रही है।

मगही लोकगीतों में उत्तमा नायिकाओं की ही प्रधानता है। यदि उसका पति पर स्त्री से अनुरक्त हो जाता है, तो भी उन्हें वह क्षमा कर देती है, परंतु परकीया इतनी ढ़ीठ होती है कि वह स्वकीया को भी धमकी देने लगती है कि उसके पति को वह हमेशा के लिए हर लेगी । द्रष्टव्य है यह गीत जिसमें नायिका अपनी अभिव्यक्ति व्यक्त करती है-

"लहँगा बेसाहन चललन कवन दुल्हा पएँतर भेल भिनसार हे,
हँसि पूछे बिहँसि पूछे सुगइ कवन सुगइ, कहाँ परभु खेपिल रात हे।
आम तर रसलों, महुइया तर बसलों, चंपा तर खेपली रात हे।
काली कोइल कोरा पइयि सुवलों, बड़ा सुखे खेपली रात हे।
डाँढ़े-डाँढ़े पसिया कोइल बझवले, पाते-पाते कोइल छपाए हे।
ओहि रे आनंद वन अमरित फल खएवों, बोलवो गहागही बोल हे।"

यहाँ कोयल श्यामा परकीया नायिका के लिए प्रतीक बनकर आई है। होली के गीतों में भी परकीया नायिका का वर्णन मिलता है-

"चले के तो रहिया, चलली कुरहिया,से गाड़ि गेलइ ना।
वेओरवा के कटवा से गड़ि गेलइ ना।"[3]

यहाँ केवड़ा पर पुरूष का प्रतीक है, जिसमें काँटे तथा सौरभ दोनों हैं। पर पुरूष से प्रेम करते समय कुछ कष्ट तो उठाना ही पड़ता है। मगही लोकगीतों में वियोग की भी मार्मिक व्यंजना मिलती है। जंतसार, बारहमासा आदि गीतों का वर्ण्य - विषय वियोग श्रृंगार ही होती है। जंतसार गीत में प्रोषितपतिका नायिका की विरह व्यंजना निम्न गीतों के माध्यम से द्रष्टव्य है-

"कउने उमरिया सासु निमिया लगौलन,
कउनी उमरिया गेलन विदेसवा हो राम।
खेलते कूदते बाबू निमिया लगौलक,
रेधिया भिंजइते गेल विदेसवा हो राम।
फरि गेलइ निमिया, लहसि गेलइ डरिया,
तइयो न आयल मोर विदेसवा हो राम।" [4]

यहाँ नायिका रति के लिए आश्रय तथा परदेशी पति आलम्बन हैं। नीम के फल-फूल उद्दीपन विभाव हैं। चिंता, शंका, इत्यादि संचारी भाव हैं। वियोग की मार्मिकता सहज-संबंध है। मगही के विरह गीतों में सर्वाधिक चित्र प्रोषित-पतिका के ही मिलते हैं। लोक कवि ने उसकी विरह-वेदना के वैविध्य-पूर्ण चित्र खींचे है, जो अत्यन्त सरस है।

इस प्रकार मगही लोकगीतों में श्रृंगार रस के उभय पक्षों के मनोहारी वर्णन मिलते है।

संदर्भ-

1. त्रिपाठी पंडित हवलदार, बौद्ध धर्म और बिहार, पृष्ठ सं- 4
2. आर्याणी डॉ. सम्पति, मगही-भाषा और साहित्य, पृष्ठ सं- 212
3. आर्याणी डॉ. सम्पति, मगही-भाषा और साहित्य, पृष्ठ सं- 241
4. तैथव पृष्ठ सं- 235

संस्कृत नाटको में संगीत

श्रुति शाश्वत उपाध्याय

देववाणी संस्कृत विश्व की समस्त भाषाओं में शीर्षस्थानी है। विश्व की इस कल्याणकारी भाषा में दृष्ट ग्रन्थावलियों में समन्वित चारों वेद, उपनिषद् तत्व, दार्शनिक तत्व, सांगीतिक तत्व अथवा कोई भी ऐहिक या पारलौकिक ऐसा उपनिषद् नहीं है जिसका रम्य प्रतिपादन ना किया गया हो। संस्कृत गीर्वाणवाणी में निबद्ध सर्वप्रिय तथा हृदय को अलौकिक आनन्द में आप्लावित कराने वाला सरस एक और विषय है, काव्य कहा गया है-'वाक्य' रसात्मकं काव्य' अर्थात् काव्य वह वाक्य है जो रसात्मक है अथवा जिसकी आत्मा रस है। इस रमणीय काव्य का भी एक रूप अथवा अंश नाटक है। कहा भी गया है-

काव्येषु नाटकं रम्यं अर्थात् काव्यों में नाटक अति रमणीय है।

नाटक की उत्पत्ति भी अन्य शाखाओं की तरह वेद से ही मानी गयी है। ब्रहमा द्वारा निर्मित नाटक को तो स्वयं पंचम् वेद की संज्ञा दी गयी है। यथा-

ऋग्भ्यः पाठ्यं तु साम्भ्यो गीतमाथव्रणाप्रसान।
यणुर्भ्योडभिनयं प्राप्तो नाट्यवेदो हि पंचमः।।

ऋग्वेद से पाठ्य, साम से गीत (संगीत), अथर्ववेद से रस तथा यजुर्वेद से अभिनय लेकर पंचम् वेद नाट्य वेद की रचना हुई। नाटक में हमें सभी प्रकार के भावों तथा अवस्थाओं का सशक्त चित्रण प्राप्त होता है। भरतकृत नाट्यशास्त्र में इस पंचम वेद (नाटक) का अति सुन्दर व स्पष्ट रूप वर्णित है जिसमें संगीत को नाटक का एक आवश्यक अंग माना गया है। नाट्य शास्त्र में संगीत का जो वर्णन हमें प्राप्त हेाता है वह स्वाधीन व स्वतंत्र नहीं है फिर भी संगीत के इस लिखित रूप के आधार पर परवर्ती विद्वानों ने संगीत के अनेक ग्रन्थों की ना सिर्फ रचना की अपितु संगीत के क्रियात्मक पक्ष को भी एक नयी दिशा मिली।

अब तक संस्कृत के जितने भी नाटक लिखे गयें हैं उसमें अनायास ही हमें संगीत के अनेक पक्षों के दर्शन होते है। नाटक का प्रारम्भ ही ईश्वरीय स्तुति अर्थात् मंगलाचरण से होता है।

जिसका पाठ सूत्रधार करता है। जिस प्रकार नाटक का आधार रस है उसी प्रकार संगीत के गायन में राग, पद आदि, वादन में वादन शैली तथा नृत्य में भाव-भंगिमायें भी नृत्यगत विषय के साहित्यानुरूप ही है रस का निरूपण होता है।

नाटक के लगभग सभी तत्व संगीत में तथा संगीत के भी अधिकांशतः तत्व नाटक में दृष्टिगोचर होते हैं दूसरे शब्दों में कहें तो दोनों ही एक दूसरे के पूरक है। संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त होने वाली अति महत्वपूर्ण चतुर्वित्तियाँ कौशिकी, सात्वती, आरभटी तथा भारती यह चारों ही संगीत से भी उतनी ही निकट है जितनी की नाटक से । इसके अतिरिक्त संस्कृत नाटकों के अनेक स्थानों में जैसे कालिदास कृत मालविकाग्निमित्रम् में मालविका का संगीताचार्य गणदास द्वारा अभिनय व संगीत की शिक्षा, मालविका द्वारा चतुष्पदीय छलिक नृत्य व गायन रंगशाला में अनुपम मृदंग वादन। अभिज्ञान-शाकुन्तल में हंसवती द्वारा शुद्ध वीणा वादन तथा गायन। विक्रमोर्वशीयम् में गंधर्व चित्ररथ, अनेक अप्सराओं का वर्णन भरत मुनि प्रणीत आठ रस आदि ऐसे अनेक स्थान हैं जहाँ यत्र-तत्र संगीत के किसी ना किसी रूप के दर्शन हो ही जाते हैं।

सार रूप में कहे तो संस्कृत एवं संगीत दोनों ही हमारी संस्कृति को अक्षुण्य बनाये रखने के लिये अति आवश्यक है परन्तु आवश्यकता है उन रूपों के गहन अध्ययन की जिससे दोंनो को एक नवीन दिशा प्राप्त हो सके।

शोध छात्रा, संगीत शास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

वेदों में लोकसंगीत

चन्द्रजीत वर्मा

लोक तथा वेद के दो पहियों पर ही भारतीय समाज का रथ चलता है। भारतीय वाङ्मय या तो लोकाश्रमी या है या वेदाश्रयी। लोक व्याप्त जन सामान्य की समस्त व्यवहारिक और कलात्मक गतिविधियाँ परंपरानुमोदित तथा संस्कार निष्ठ है। वैदिक काल में सम्पूर्ण भारत संगीतमय था। ऋषियों ने मंत्रो का दर्शन इसी लोक में किया है। अंगिरा ऋषिकृत सम्पूर्ण सामवेद विभिन्न कलाओं के विवेचन पर आश्रित है। वेदों में गायत्री, मालती, जगती आदि छन्द पाये जाते हैं। ऋग्वेद में अनेक प्रकार के वाद्यों एवं नृत्यों का वर्णन मिलता है। वैदिक मंत्रों का पाठ गाकर होता था। ''उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित, 'उच्चै रूदातः' नीचे रूनुदातः' समाहरः स्वरित' इन तीनों का वर्णन 'पाणिनी' ने 'पाणिनी शिक्षा' में किया है।'' योगियों ने भी शक्तियों को ऊर्द्धगामी बनाने में संगीत को सहायक माना हैं। योगियों की भाषा में संगीत नाद योग है। मूलाधार स्थित योनि में कुंडलिनी शक्ति की स्थित मानी गई हैं। यह शक्ति जीव की प्राण शक्ति है।

''सामगान के शुद्ध उच्चारण में नियमों का कठोर पालन करना पड़ता था, जिसे साधारण व्यक्ति नहीं कर पाते थे। इस प्रकार एक ऐसा वर्ग समाज में बना जो मन्दिर आदि में रहकर पूजन आदि कार्य करता था। ब्राह्मणों द्वारा ही यह कार्य होता था। अतः यह एक वर्ग की विशेष सम्पत्ति बन गई, और जनसाधारण इस गान से दूर हो गया। जब सामगान समाज के अन्य वर्ग के लिये दुरुह हो गया तो अतृप्त जनता ने गान का नकल अपने घरों में शुरू कर दिया। अब यह लौकिक गान जातीय एवं ऋतुगीतों के रूप में प्रकट हुआ।

गायन के साथ-साथ वाद्यों का सहचर्य भी उस समय था। तब वाद्यों के अन्तर्गत कर्करी, बाण, आदि वाद्यों का वर्णन मिलता है। उस समय बाण (वीणा) नामक तंत्री वाद्य का अधिक प्रचलन था। अवनद्ध वाद्यों के अन्तर्गत दुर्दर, दुन्दुभि का अधिक उल्लेख मिलता था। ऋग्वेद में कर्करी नामक वाद्य का उल्लेख इस प्रकार है- **'यदुत्पन् वदसिकर्करिः'** यथा 2.43.3। दुन्दुभि के धीर-गम्भीर ध्वनि के वर्णन ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर मिलता है। दुन्दुभि अपनी ध्वनि मात्र से ही शत्रु को परास्त कर देती थी, जैसा कि निम्न मंत्रों से अभास होता है-''स दुन्दभे सजुरिन्द्रेण देवैर्दूराद् दवीयो अपु संघ शत्रून''। उस समय इसका वादन युद्ध में, उत्सव में, जयघोष एवं मंगल कार्यों के लिए होता था। घन वाद्यों में आघाटि वाद्य एवं वंश, शंख बाकुर, तलव और नाड़ी नामक सुषिर वाद्यों का उल्लेख मिलता है।

लोक शब्द ऋग्वेद में तीस बार प्रयोग हुआ है, समस्त पद के रूप में **'लोककृत'** तथा **लोककृत्नुम्'** दो प्रयुक्त हुए हैं सभी स्थलों पर 'लोक' शब्द 'उ' तथा 'उरू' विशेषणों से युक्त है, जिसका अर्थ है - विशाल या विस्तृत। इस प्रकार 'उरू लोक' का अर्थ हुआ-विस्तृत ब्रह्माण्ड। यह विस्तृत ब्रह्माण्ड कई उपविभागों में विभक्त है। ऋग्वेद में इनके तीन विभाग कहे गए हैं- पृथ्वी लोक, अन्तरिक्ष लोक तथा

शोध छात्र, संगीत एवं मन्च कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

द्युलोक। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः एवं सत्यम्। इन सात व्यवहृतियों की भी सात लोकों के रूप में मान्यता है। इन में से तीन व्यवहृतियों - भूः, भुवः और स्वः का उच्चारण आज भी गायत्री मंत्र से पूर्व किया जाता है। ये निश्चय ही तीन लोकों की वाचक हैं। किन्तु प्रचलन में भूः लोक का ही साक्षात् संबन्ध ा मानव जीवन के साथ है।

हम अपने लोक संगीत को वेदों के समक्ष तो नहीं रख सकते परन्तु वैदिक साहित्यों तथा उनके उच्चरित स्वरों में लोक गीतों के बीच ढूढ़े जा सकते हैं। लोक शब्द का प्रयोग **ऋग्वेद** से ही मिलने लगता है। 'ऋग्वेद' एवं 'अथर्ववेद' में इसका प्रयोग दो अर्थों - दिव्य तथा पार्थिव में किया गया है। 'लोकायत-दर्शन का 'लोक' शब्द भी दर्शन के क्षेत्र में एक विशिष्ट अर्थ की ओर संकेत करता है। भरत मुनि के 'नाट्य शास्त्र' में भी लोक-धर्म-प्रवृत्ति की चर्चा है। मतंग मुनि कृत 'वृहद्देशी' में भी 'लोकानां नरेंद्राणां' का उल्लेख हुआ है। अशोक के शिलालेखों में **'अनुवत्तरं सर्वलोक हिताय'** तथा **'नास्तेहि कम्मतरं सर्वलोक हितप्पा'** के प्रयोग द्वारा लोक का विशिष्ट अर्थ सूचित किया गया है। 'लोक' शब्द का प्रयोग वेद के समानान्तर भी मिलता है। 'गीता' का **'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः'** भी लोक और वेद दोनों को स्वीकार करता है। बुद्ध के **'बहुजन हिताय'** और **'बहुजन सुखाय'** में भी लोक की भावना निहित है। 'इमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः ' का 'जन' भी लोक का पर्याय है।

गीता में लोकशास्त्र तथा लौकिक आचारों की बात कही गई है। वहाँ इन लौकिक आचारों को विशेष महत्व दिया गया है। स्वर, लय के आधार से मंत्र की शब्द या चेतना शक्ति जाग्रत रहती है। कृष्ण वैदिक देवता विष्णु के अवतार माने गये हैं। भगवान श्रीकृष्ण के अनुसार - **'वेदानां सामवेदोष्स्मि'**। वेदों का कथन है - **''अंगुष्ठमात्रः पुरूषोंष्न्तरात्मा सदा जनानां हृदयेसत्रिविष्टः।''** कृष्ण भक्ति के जिस रूप ने समस्त भारत को रसों में डुबोया उसका मुख्य केन्द्र वृन्दावन रहा, जिसने कई शताब्दियों तक चित्रकार, कवि नर्तक तथा संगीतकारों को भी प्रेरणा प्रदान की । हवेली संगीत की परम्परा का मूल 'वेद' है। वैष्णवों का यह कथन है कि संगीत भगवान श्रीकृष्ण की देन है। डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल ने कहा है- ''जीवन रूपी संगीत ही नाद ब्रह्म या वाग्देवी की वीणा हैं, जिसके सप्तक में विश्व के आनन्द की सप्त धाराएँ मूर्त रूप में ग्रहण करती हैं।'' वैदिक काल में सामूहिक गान जैसी परंपरा थी। यज्ञ आदि अवसरों पर एकल एवं सामूहिक वेद पाठ तथा वेद गान परम्परा थी। कभी-कभी यह अभिनय एवं अंग संचालन के द्वारा होता था। वैदिक काल में नृत्य परम्परा भी प्रचलित थी जिसका वर्णन ऋग्वेद में उषा की उपमा उस नर्तकी से की गई जो अपने अंगों को धीरे-धीरे प्रकाशित करती है। महाव्रत नामक सोमयाग में कलशधारिणी दासियों का वर्तुलकार समुह नृत्य होता था। जिसका पद क्रम गीत की लय के अनुसार होता था। स्त्रियां यज्ञ कुण्ड के चारों तरफ सिर पर घड़ा रखकर नृत्य करती हुई प्रदक्षिणा करती थी।

वैदिक सूत्रों में जो संग्रह है वे निःसंदेह लोक साहित्य नहीं है। परन्तु उसमें वर्णित कई एक स्थानों पर ऐसा अवसर आता है जब सूक्तों में अपने लोगों द्वारा शुभ अवसरों पर या खुशी के मौके पर गान की परम्परा मिलती है। वैदिक काल में तीन अवसरों से सम्बन्धित गीत की गेयता का प्रमाण मिलता है।- 1. यज्ञ काल 2. सामाजिक कृत्य 3. प्राकृतिक सौन्दर्य

वैदिक युग में जन-जीवन के समक्ष कुछ ऐसे अवसर आते थे जिन पर इन लोक गीतों का महत्व तत्कालीन समाज की दृष्टि से अधिक होता था। ऐसे अवसरों पर यज्ञ कृति, जीवन संस्कार जैसे विवाह, यज्ञोपवीत आदि और प्राकृतिक सौन्दर्य निरूपण अधिक उल्लेखनीय है। यज्ञ प्रवृत्तियों में पुरोहितों में एक विशेष वर्ग **'उद्गाता'** मंत्रों का स्वर उच्चारण में विशेष रूप से दीक्षित होता था। सामान्य जीवन में उत्सव, पर्व एवं समारोह विशेष के अतिरिक्त संस्कार अवसरों पर लोक की, ग्राम्य गीतों की परम्परा अवश्य थी। मानव चिरकाल से ही प्रकृति के सौन्दर्य का उपासक रहा है कदाचित् इसी कारण से वैदिक मंत्र में जो सूत्र उषा के सम्बन्ध में

गाये गये हैं वे कवित्व पूर्ण होते हुए भी बड़े ही रूचिकर हैं।

वेद में वर्णित देवता जिनकी ऋचाएँ ऋषियों द्वारा अनुभूत मानी गई है उसमें प्राकृतिक देवी-देवता जैसे- अग्नि, वरूण, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, लोकपाल, दिग्पाल आदि स्तुत्य हैं। वे ही देवी देवता लोक जीवन द्वारा पूजित एवं अर्चित हैं। इसके अतिरिक्त आगे बढ़ने पर वनदेवी, वनदेवता, नदी, वृक्ष, पर्वत आदि को देवी-देवता मानकर उसकी पूजा अर्चना आरम्भ हो जाती है। इस प्रकार प्रकृति के साथ मानव सदैव संघर्ष करता रहा हैं, वहीं से इसने समूह के महत्व को समझा और सामूहिक होने के बावजूद भी जहाँ उन्हें पराजय मिला उसे पूजित मानकर उस पर विश्वास कर लिया, जैसे नदी, वन, प्राकृतिक आपदा, रोग दुःख आदि। अर्थात वेद वर्णित देवी-देवता एवं लोक प्रचलित देवी-देवता में पूरा-पूरा सामंजस्य दिखाई देता है। इसलिए वेद का संबन्ध केवल दिव्य तत्वों के साथ मान लिया गया है, और जिस वाङमय शब्द पद्य, गद्य व गान के रुप में एक विशिष्ट रूप वेद के साथ जुड़ गया है, वही लोक कहलाता है। इस दृष्टि से विकास के साथ ही 'वेद और लोक' ये दो रुप ग्रहण किये जाते हैं। कालान्तर में इसी पद्य, गद्य तथा गान का ऋक् यजुष् तथा साम रूप **'वेद'** कहलाया। इसके अतिरिक्त शब्दात्मक साहित्य एवं गान के लिए **'लौकिक'** शब्द प्रयुक्त होने लगा।

ऋग्वेद की ऋचाओं में 'सहिंता पाठ' और 'पद पाठ' दो रूप उपलब्ध है। प्रथम के द्वारा शब्दों की योजना और द्वितीय के द्वारा शब्दों के स्वर उच्चारण की व्यवस्था इंगित है। चिहनों द्वारा स्वरों के त्रिस्थान इंगित हैं -उदात्त, अनुदात्त, स्वरित। इस प्रकार वेद की ऋचाओं का पाठ स्वर एवं लय के साथ करने की परम्परा आज तक विद्यमान है। ऋग्वेद जो सबसे प्राचीन वेद माना जाता है उसमें सांगीतिक तत्त्व विद्यमान हैं। सामवेद तो संगीत का ही वेद माना जाता है। कालान्तर में वेद भी सप्त स्वरों में गाये जाने लगे। उसी तरह लोक संगीत जो आज भी पुराने या आदिवासी जन-जातीय क्षेत्रों में परम्परा रूप से चली आ रही हैं उनमें भी तीन, चार, या पाँच स्वर ही प्रयुक्त होता है।

सामवेद में जिस प्रकार स्तोभाक्षरों का प्रयोग होता है, उसी प्रकार लोक संगीत में भी भला, हाँ अरे, रामा, हरी, बलमा, सजना, रो, री, आदि सार्थक निरर्थक शब्दों का प्रयोग रहता है। इस तरह स्तोभाक्षरों की दृष्टि से समानता है। वैदिक साहित्य का अनुभव तथा-कथित वर्ग ही कर सकता था। उसका पाठ आम आदमी के बस का नहीं था, न ही उसके विशेष अर्थों को समझने की उनमें शक्ति थी। साधारण जनता अपने मनोभावों को प्रकट करने के लिये कोई न कोई साहित्यिक आश्रय अवश्य लेती रही होगी। वेद की भाँति इसका विषय आध्यात्मिक एवं कर्मकाण्डी नहीं रहा होगा। वैदिक युग में **'समन'** नामक एक प्रकार के मेले का उल्लेख मिलता है। इन मेले का मुख्य उद्देश्य वर-वधू की खोज करना था। इन समनों में सामूहिक गायन, वादन एवं नृत्य एक आवश्यक अंग था।

वेद मानव के व्यक्तित्व को भौतिक धरातल से उठाकर सत्यलोक के धरातल तक पहुँचाने का मार्ग प्रशस्त करता है। वैदिक मंत्रों के साथ एक पवित्र धारणा जुड़ी थी। लेकिन लोक काव्य के साथ ऐसी कोई बात नहीं थी। इनका तो स्पष्ट मानव रचित कृतियों में स्थान था। वैदिक साहित्य में पदों को **'ऋचा'** या **'मंत्र'** कहा गया है। परन्तु इनमें **'गाथा'** शब्द कुछ पदों या गीतों की ओर संकेत करता है। प्राकृत में आकर गाथा एक विशेष छन्द बन गया। शतपथ ब्राह्मण में हमें इस प्रकार की कुछ गाथाएँ मिलती है। यह प्रथा महाभारत तथा प्राकृतिक ग्रन्थों में भी मिलती है। जातक गाथाओं में भी अनेक गाथाएँ हैं। इसमें अधिकांश गाथाएँ लोकगीतों के अंश रही होगी, ऐसा माना जा सकता है। शनैः-शनैः वैदिक संस्कृति जन सामान्य के जीवन संज्ञान होता गया। समृद्ध नागरिकों की संख्या बढ़ने और ग्रामों के साथ इनका व्यवधान बढ़ने लगा। नगर, राजाओं, राज पुरूषों और श्रेष्ठियों के आवास बन गये, गाँव कृषि जीवी लोगों और उनके सहायकों के निवास भूमि बनते गये। कवि, गायक, चित्रकार, शिल्पी राजाओं के यहाँ आश्रय पाने के लिये अपनी कला को दिन-प्रतिदिन निखार लाने का प्रयत्न करने लगे।

दूसरी ओर गाँव के जनता को न तो इतना समय था और न इसकी जरूरत। दिन भर परिश्रम करने के बाद वह मन बहलाव के लिये नृत्य गीत आदि करके शारीरिक थकान मिटाते थे। संस्कृत कवियों के ग्रन्थों में ग्राम्य वर्णन के समय लोक गीतों के परंपरा के संकेत मिल ही जाते हैं। **कालीदास** ने रघु-दिग्विजय के साथ शालि गोपिकाओं के द्वारा गेय गीतों का वर्णन किया है। लोक गीतों के इस परंपरा का वर्णन भारवि के **किरातार्जुनीयम्** तथा माघ के **शिशुपाल वधम्** में भी मिलता है। महाकवि वाण ने भी **हर्ष चरित** तथा चन्द्रापीठ कथा में जन्म के अवसरों पर मंगल गीतों के गाये जाने का वर्णन किया है।

इस प्रकार वैदिक साहित्य में 'आकर्षण' को लोक संगीत का प्रमुख तत्व माना गया है। ऋग्वेद में नानाविध गीतों, वाद्यों तथा नृत्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। ये नानाविधगीत साम गान के अतिरिक्त हैं, इसलिए उनको लोकगीत कहना उचित होगा।

संदर्भः-

1. लाल डॉ0 तेजनारायण, मैथिली लोक गीतों का अध्ययन।
2. पाठक श्री जगदीश नारायण, संगीत शास्त्र मीमांसा।
3. श्री शिवशरण, संगीत निबंधावली।
4. गन्धर्व कुमार, लोक संगीत।
5. गर्ग लक्ष्मी नारायण, निबंध संगीत।
6. जोशी डॉ0 उमेश, भारतीय संगीत का इतिहास।
7. कपूर विजय, भोजपुरी क्षेत्र में प्रचलित गीत विधाओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन।
8. त्रिपाठी श्रीमती रंजना, पूर्वी उत्तर प्रदेश के लोकगीतों का संगीत शास्त्रीय अध्ययन।
9. शर्मा डॉ0 पंकज माला, वेद में लोक गीत-'संगीत' (वैदिक संगीत अंक)।
10. देवांगन तुलसी राम, भारतीय संगीत शास्त्र।

"सिनेमा और साहित्य का रिश्ता 'वक्त के सांचे बदलने' की दास्तान है .....!"

डॉ. रावेन्द्र कुमार साहू

"कुछ लोग थे कि वक्त के सांचे में ढल गए
कुछ लोग थे कि वक्त के सांचे में बदल गए।"
- मखमुर सईदी

सिनेमा और साहित्य का रिश्ता 'वक्त के सांचे बदलने' की दास्तान है। हिन्दी सिनेमा के अतीत इतिहास पर गौर करें तो कहीं-कहीं वह भारतीय साहित्य के ढाँचे में ढला है तो कहीं साहित्य को अपने ढांचे में ढलने के लिए प्रेरित किया है और इसी में दोनों की सार्थकता है। आज से एक दशक पहले तक लोग गर्व से कहते थे कि हमारा बेटा/बेटी सिनेमा नहीं देखते हैं लेकिन आज वे ही गर्व से बेटे/बेटियों से पूछते हैं कि तुमने मदर इण्डिया/थ्री इडियट/पीपली लाइव/रंग दे बसन्ती/चेन्नई एक्सप्रेस/दबंग देखा कि नहीं? क्योंकि आज सिनेमा के बिना ' वेसुवादी, बेसुवादी दुनिया' लगती है।

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान शिमला में एसोसिएटशिप के दौरान गुन्टूर आन्धप्रदेश से आये हुए प्रो. 'अल्लू गौरी शंकर राव' लगभग हिन्दी से अनभिज्ञ थे लेकिन हमेाा एक गाना गुनगुनाया करते थे - 'चाँद सी महबूबा होगी मेरी ऐसा मैंने कब सोचा था, लेकिन तुम बिल्कुल वैसी हो जैसा मैंने सोचा था" मेरे द्वारा उनकी गायन शैली पर प्रश्न करने पर उन्होंने बताया कि दक्षिण के लोगों ने हिन्दी की किताबों से ज्यादा हिन्दी भाषा सिनेमा के गीतों से सीखा है। भारत का दक्षिण ही क्या, रसिया से लेकर यूरोप के सुदूर देशों तक में राजकपूर से लेकर अमीर खान तक के फिल्मी गीत कहीं भी सुने जा सकते हैं।

सिनेमा के आविष्कार का श्रेय थॉमस अल्वा एडिसन को जाता है और यह 1883 ई0 में मिनेटिस्कोप की खोज के साथ जुड़ा हुआ है। 1894 ई0 में फ्रास में पहली फिल्म बनी ' द अराइवल ऑफ ट्रेन'। सिनेमा की तकनीक में तेजी से विकास हुआ और जल्दी ही यूरोप और अमेरिका में कई अच्छी फिल्में बनने लगीं।

भारत में पहली मूक फिल्म बनाने का श्रेय दादा साहेब फाल्के को जाता है। यह फिल्म थी 1913 में बनी - " राजा हरिश्चन्द्र'। इसके बाद के दो दशकों में कई और मूक फिल्में बनीं। इनके कथानक धर्म, इतिहास और लोक गाथाओं के इर्द-गिर्द बुने जाते रहे। 1931ई0 में पहली बोलती फिल्म बनी - ' आलम आरा ' इसके बाद बोलती फिल्मों का दौर शुरू हुआ। आजादी के बाद जहाँ एक तरफ भारतीय सिनेमा ने दशे के सामाजिक यथार्थ को गहराई से पकड़कर आवाज देने की कोशिश की, वहीं लोकप्रिय सिनेमा ने व्यावसायिकता का रास्ता अपनाया। एक तरफ पृथ्वीराज कपूर, महबूब खान, सोहराब मोदी, गुरूदत्त जैसे फिल्मकार थे तो दूसरी तरफ सत्यजित राय जैसे फिल्मकार।

" सत्तर के दशक तक सिनेमा के मूल में प्रेम, फतासी और एक कभी न हारने वाले सुपर नैचुरल हीरो की परिकल्पना रही। कहानियों में कुछ न कुछ संदेश देने की भी कोशिश हुई लेकिन बहुत ही अव्यवहारिक तरीके से। सत्तर और अस्सी के दशक में कुछ फिल्मकारों ने महसूस किया कि सिनेमा जैसे सशक्त संचार माध्यम का इस्तेमाल आम लोगों में

सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, शासकीय स्वशासी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सतना (म.प्र.)

चेतना फैलाने, उसे व्यावहारिक जीवन की समस्याओं से जोड़ने और अन्याय के खिलाफ एक कलात्मक अभिव्यक्ति के तौर पर किया जाए। यही समानांतर सिनेमा का दौर था और इस दौरान 'अंकुर', 'निशांत', 'अर्धसत्य' जैसी फिल्में बनी।"[1]

'अस्सी और नब्बे के दशक में मुंबइया सिनेमा पर व्यावसायिकता का नशा इस कदर छाता गया कि फार्मूला फिल्में फिल्मकारों के लिए मुनाफा कमाने का सबसे बड़ा हथियार बन गई। ऐसी फिल्मों के केन्द्र में रोमांस, हिंसा, सेक्स और एक्शन को रखा जाता रहा है। कहने के लिए हर फिल्म में कोई न कोई सामाजिक संदेश देने की औपचारिकता निभाई जाती है लेकिन इनका मकसद महज पैसा कमाना है। ऐसी फिल्मों ने खासकर युवाओं के मन में बहुत गलत प्रभाव छोड़ा है।"[2] और इसका कारण बहुत हद तक बाजारवाद की अंधी दौड़ में शामिल होना था। आज हम बाजार से बच तो नहीं सकते लेकिन उसके स्पेश का निर्धारण अवश्य कर सकते है। प्रभाष जोशी का मानना है

" बाजार नाम की संस्था आदिम समाज के लिए भी रही है, और आज के समाज के लिए भी है। इसलिए बाजार से बैर करके आप अपना समाज और अपना जीवन चला सकें, इसकी संभावना नहीं है। लेकिन जब बाजार मनुष्य की नियति तय करे तो इसका मतलब यह है कि अब तक मनुष्य का जो सेवक रहा है, वह मनुष्य का मालिक होना चाहिए। बाजार मनुय का बहुत अच्छा सेवक है। कोई पाँच हजार साल से उसकी सेवा कर रहा है। शायद उससे भी ज्यादा वर्षों से कर रहा है। अगर वो मनुष्य की नियति तय करेगा तो उसमें एक मूल खोट आने वाला है, क्योंकि बाजार भाव से चलता है, बाजार मूल्य से नहीं चलता और मूल्यों के बिना किसी भी मानव समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है। मानव समाज भाव से नहीं चल सकता, मूल्य से ही चल सकता है। मानव समाज को मूल्य से चलना है। अब जो बाजार की शक्तियां दुनिया में इक्ट्ठा हुई है उससे आप कैसे निपटेंगे? मुझे कई लोगों ने कहा कि यह तो हिन्दुस्तान है जो जाजम की तरह बिछने के लिए तैयार है, नहीं तो जहाँ-जहाँ बाजार गया है वह उस देश के समाज की शर्तो पर गया है। पर हमने एक कमजोर देश की तरह से अंतर्राष्ट्रीय बाजार को स्वीकारा है। इसलिए अब हमारे यहाँ जाजम की तरह बिछ जाने का लगभग कुचक्र चल रहा है।"[3]

दरअसल इस कुचक्र को तोड़ने का माद्दा हमारी फिल्मों में आज भी है। जो हमें राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बांधती है। जरूरत इस बात की है कि जिसे हम हिन्दी सिनेमा कहते है। उसे हिन्दुस्तानी सिनेमा के रूप में देखा-सुना जाना चाहिए तभी वह राष्ट्रीय अस्मिता एवं जातीय अस्मिता को सार्थकता प्रदान कर सकेगी फिल्म समीक्षक प्रहलाद अग्रवाल का मानना है कि - "सिनेमा नजर से नजर का खेल है। यह जिसे हम हिन्दी सिनेमा कहते हैं, वस्तुतः हिन्दुस्तानी सिनेमा है जो समूचे हिन्दुस्तान में और जहाँ-जहाँ हिन्दुस्तानी मूल के लोग निवास करते हैं, उनको भावनात्मक रूप से एक सूत्र में जोड़ने का काम करता है। हिन्दी भाषा जितनी सुगमता से फिल्मों के गानों के माध्यम से विभिन्न भाषाभाषियों के बीच में पहचानी गई, उतनी अन्य किसी माध्यम से नहीं। इसकी निर्मिति में भी हिन्दी भाषा-भाषी लोगों की जगह पंजाबी, मुस्लिम, बंगाली, गुजराती, मराठी और यहाँ तक कि दक्षिण भारतीय भाषा-भाषी लोगों का कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण योगदान है। इसी तरह इसकी भाषा और सांस्कृतिक संरचना भी पंचमेल है। इसमें हिन्दुस्तान भर में बोले जाने वाले शब्द और तमाम जातीय-प्रजातीय शब्द और आचार-व्यवहारों का समन्वय भी देखने को मिलता है। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि हिन्दी सिनेमा ने भारतीय संस्कृति के मूलमंत्र अनेकता में एकता को सही अर्थो में प्रस्तुत किया है।"[4] और इसका एक कारण यह भी है कि बहुत हद तक हिन्दुस्तानी सिनेमा लोकानुमुखी है। आम आदमी का है जिसमें - "फिल्मी परदे पर एक गरीब, बेबस अनाथ बच्चा बड़ा होकर अपनी कुंठाओं को आवेश में प्रकट करना सीखता है। अपने जैसे किसी बेबस को पिसता और पिटता देखकर उसका खून खौलता है। वह विद्रोह करता है। सवाल करता है। जबाब मांगता है। आम होकर भी वो खास इसीलिए है कि वो किसी खाई, किसी गड्ढे की परवाह नहीं करता। जब वो एक साथ दस-दस गुंडों को पीटता है तो

असल जिंदगी की न जाने कितनी दमित और शोषित जिंदगियां सुकून पा जाती है। शून्य से उठा यह आम सा आदमी जब-जब शिखर को ललकारने का दुस्साहस करता है और जीतता है, तब-तब मन में आनन्द की एक लहर उठती है। 'लावारिस', 'दीवार', 'कुली', 'हिन्दुस्तानी', 'ए वेडनेसडे', 'नायक', 'आक्रोश', 'अर्धसत्य', 'अंकुर', 'मंथन', 'सिंहम', 'प्रतिघात', मुन्नाभाई एमबीबीएस', 'थ्री इडियट' आदि सैंकड़ों फिल्में हैं, जिनसे समाज को भरपूर कैथेरसिस मिला है। क्या हुआ अगर सच्चाई बिल्कुल अलग है? क्या हुआ कि समाज में पुरानी के साथ नित नई खाइयां बढ़ रही है? क्या हुआ कि एक दुनिया भूख में डूबी है और दूसरी ऐश्वर्य में? क्या हुआ अगर ये सुख इस धरती का नहीं कल्पनाओं में भोगा गया सुख है? अगर ये दर्द से कराहते चेहरों पर एक इंच मुस्कान और घुटते हुए मन में एक मुट्ठी राहत बिखेर पा रहा है तो तनाव से घिरे इस समय में ये आम आदमी के लिए सबसे बड़ी दवा है।"[5]

सिनेमा, साहित्य की दृश्य अभिव्यक्ति है और हजार कहन पर एक झलक भारी होती है लेकिन हम इस तथ्य को नजरअंदाज नहीं कर सकते हैं कि सिनेमा के केन्द्र में जहाँ मनोरंजन होता है वहीं साहित्यकार के केन्द्र में उसका 'उद्देश्य 'समाज' होता है, इसीलिए जब साहित्यकार की कविता, कहानी, उपन्यास को पटकथा के रूप में बदला जाता है तो उसका साँचा/ढाँचा बदल जाता है, चाहे वह राजेन्द्र यादव सारा आकाश प्रेमचन्द (गोदान, सद्गति), रेणु (तीसरी कसम) या काशीनाथ सिंह (काशी का अस्सी) हो सबका स्वरूप बदला है। हाँ, इस प्रक्रिया में कुछ साहित्यकार पत्र/पत्रिकाओं के माध्यम से भी अपना योगदान सिनेमा में देते रहे हैं - " साठ और सत्तर के दशक में अलग-अलग धाराओं की फिल्मों के कारण सिनेमा पर लेखन की विविध धाराओं का प्रादुर्भाव भी हुआ। 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'दिनमान', 'सारिका', 'नवभारत टाइम्स' जैसे प्रकाशनों ने नई धारा के सिनेमा पर गंभीर और विश्लेषणात्मक सामग्री को स्थान दिया और इस तरह ज्यादा से ज्यादा दर्शक सिनेमा की ओर आकृष्ट हुए। जब सार्थक सिनेमा आंदोलन अंगड़ाइयाँ ले रहा था, तब इन पत्र-पत्रिकाओं ने अपनी विशिष्ट सामग्री की सहायता से इस आंदोलन को संबल प्रदान किया। यही वह दौर था, जब मनोहर श्याम जोशी, मनमोहन सरल, सतीश बहादुर, विनोद भारद्वाज, विष्णु खरे, प्रयाग शुक्ल, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और रघुवीर सहाय जैसे रचनाकार सिनेमा पर लगातार लेखन करने लगे। उनके प्रतिबद्ध लेखन ने व्यावसायिक सिनेमा को खण्डित किए बिना कला सिनेमा की खूबियां, उसकी अहमियत और उसके इरादों से व्यापक दर्शक समुदाय को अवगत कराया।"[6] साथ ही इस सिनेमाई दौर में पं. नरेन्द्र शर्मा, कवि प्रदीप, शैलेन्द्र, कमलेश्वर, प्रसून जोशी एवं गुलजार साहब के गीतों ने हिन्दुस्तानी सिनेमा को एक नया मुकाम दिया है।

सिनेमा और साहित्य के रिश्ते के बीच आज हम इस बात को नजर अंदाज नहीं कर सकते कि यूरोप आदि के देशों में सिनेमा पर जितना शोध कार्य हुआ है उसका दसवाँ भी हमारे यहाँ नहीं हुआ है। बौद्धिक वर्ग इस दिशा में दृष्टि नहीं दे रहा है। हम माने या न माने लेकिन यह आज की युवा पीढ़ी का कटु सत्य है कि सिनेमाई नायक आज उसके तेजी से आदर्श बनते जा रहे हैं। इसलिए विनोद भारद्वाज की चिन्ता जायज है - " विश्वविद्यालयों, उच्चाशिक्षा संस्थानों में फिल्म पत्रकारिता, फिल्म समीक्षा आदि का प्रशिक्षण- पढ़ाई आदि बेहतर क्यों न बनाई जाय? लोकप्रिय फिल्मों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण क्यों न किया जाय? 'जय संतोषी माँ' की सफलता पर भी एक संपूर्ण और गंभीर अध्ययन हो सकता है हिन्दी पत्रकारिता में संपादक फिल्म माध्यम को आदर नहीं दे पाए हैं, स्व. विद्यानिवास मिश्र सरीखे विद्वान जब 'नवभारत टाइम्स' के संपादक बने थे तो एक बातचीत में उन्होंने मुझसे कहा था - 'फिल्म आज भी लुच्चे लफंगों का माध्यम है', राजेन्द्र माथुर सरीखे सुयोग्य संपादक ने 'नवभारत टाइम्स' में एक बार फिल्म समीक्षा का संकट आने के बाद अपने निजी सहायक को उनके 'फिल्म प्रेम' के कारण बाकायदा राष्ट्रीय दैनिक का फिल्म समीक्षक बना दिया था। वैसे तो इस देश में पानवाला भी योग्य 'क्वालीफाइड' फिल्म समीक्षक है। मास कम्युनिकेशन की कक्षाओं में छात्रें के साथ फिल्म पत्रकारिता पर खुले संवाद में मैंने कई बार अनुभव

किया है कि छात्र जो चाहते है वह उन्हें अक्सर मिल नहीं पाता है। जब वेनिस विश्वविद्यालय की छात्र गोविंदा पर और वहाँ की एक वरिष्ठ अध्यापिका शशि कपूर पर शोधकार्य कर सकती है या ब्रिटिश विदुषी या चोपड़ा के पंजाबी रोमांस की शैली पर पूरी पुस्तक लिख सकती है, तो हम इस उर्वर प्रदेश को अकादमिक दुनिया का अधिक ठोस हिस्सा क्यों न बनाएँ?''[7]

सिनेमा समाज का प्रतिबिम्ब है और साहित्य समाज का दर्पण ही नहीं दीपक भी है इसलिए सिनेमा और साहित्य का अभिन्न संबंध है। सिनेमा का भविष्य उज्ज्वल है, आर्थिक ही नहीं बल्कि सामाजिक दष्टि से भी एक ओर जहाँ वह उद्योग का रूप लेता जा रहा है और रोजगार की अनन्त सम्भावनाएँ प्रदान की है वहीं दूसरी तरफ इसके सामाजिक सरोकारों ने समाज को झकझोर कर रख दिया है। अमीर खान द्वारा 'सत्यमेव जयते' में उठाये गए मुद्दों ने अभिनेता और उसके सरोकारों को पुनपरिभाषित किया है - ''ब्रिटेन के मशहूर दार्शनिक 'जार्ज बर्नाड शा' ने एक बार सिनेमा का भविष्य रेखांकित करते हुए कहा था - 'आने वाले दिनों में देश की चेतना, देश के आर्दा और आचरण की कसौटी वही होगी, जो सिनेमा की होगी।' हो सकता है कि जॉर्ज बर्नार्ड शा का यह कथन अक्षरशः सही न हो, लेकिन इससे हमारे समाज पर सिनेमा के प्रभाव को समझा जा सकता है। हमारी मानसिक संरचना के विकास में जितना असर सिनेमाई नायकों का होता है, उतना शायद किसी और का होता हो। सुनहरे परदे की अभिनत्रियाँ हमारे ख्वाबों में आती हैं। इसी तरह सलमान खान जैसे अभिनेता स्त्रियों की कल्पनाओं में बसते हैं। नायकत्व के पतन के इस दौर में ये बात कितनी दूर तक जाएगी, इस बारे में तयशुदा तौर से कुछ नहीं कहा जा सकता है, लेकिन सिनेमा के परदे पर उभरने वाली 'लार्जर देन लाइफ' की इमेज दर्शक के मन में एक ख्वाब जगा जाती है। इसमें दो राय नहीं!

भले ही भविष्य के सिनेमा में पारंपरिक अर्थों में नायकों का अंत हो जाए, लेकिन नायकत्व रहेगा। नायकत्व यानी अच्छाई की प्रवृत्ति। अच्छे और बुरे के संघर्ष से ही सिनेमा बनता है। ये संघर्ष और द्वन्द्व ही सिनेमा की भाषा और व्याकरण को रचता है। जितना बड़ा संघर्ष और द्वन्द्व होगा, उतना ही बड़ा सिनेमा या सिनेमाकार होगा।''[8] फिलहाल। हमें इसी संर्घा और द्वन्द्व के सिनेमा से प्यार करना चाहिए। मुहब्बतें करनी चाहिए क्योंकि **''कोई प्यार करे, तुमसे करे, तुम जैसे हो वैसे करे, तुम्हें बदलकर जो प्यार करे, वो प्यार नहीं सौदा करे और साहिब प्यार में सौदा नहीं होता।''**[9]

संदर्भ -

1. सिंह नामवर अध्यक्ष, भाषा सलाहकार समिति, - 'अभिव्यक्ति और माध्यम'-, प्रकाशक-राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षक परिषद दिल्ली, संस्करण-प्रथम, जुलाई-2006, पृ0-20
2. सिंह नामवर अध्यक्ष, भाषा सलाहकार समिति,- 'अभिव्यक्ति और माध्यम'- प्रकाशक-राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद दिल्ली, संस्करण-प्रथम, जुलाई-2006, पृ0-21
3. जोशी रामशरण संपादक - ' मीडिया और बाजारवाद', लेख-प्रभाष जोशी-'हिन्दी समाज और राष्ट्र राज्य', प्रकाशक-राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली, संस्करण-दूसरी आवृत्ति-2010 ई0 पृ0-25,26
4. अग्रवाल प्रहलाद अतिथि सम्पादक- वसुधा-'हिन्दी सिनेमा बीसवीं से इक्कीसवीं सदी तक, अंक-81, पृ0-23
5. श्रीवास्तव आलोक संपादक - 'अहा! जिन्दगी सिनेमा विशेषांक-दैनिक भास्कर समूह की प्रस्तुति', अंक-10, जून-2013 ई0, पृ0-43
6. श्रीवास्तव आलोक संपादक - 'अहा! जिन्दगी सिनेमा विशेषांक-दैनिक भास्कर समूह की प्रस्तुति', अंक-10, जून-2013 ई0, पृ0-58
7. यादव राजेन्द्र सम्पादक - 'हंस', लेख-विनोद भारद्वाज- 'सिनेमा के शताब्दी वर्ष में सिर्फ दस सवाल', फरवरी-2013 ई0, पृ0-88
8. आलोक श्रीवास्तव संपादक - 'अहा! जिन्दगी सिनेमा विशेषांक-दैनिक भास्कर समूह की प्रस्तुति', अंक-10, जून-2013 ई0, पृ0-13
9. 'मुहब्बतें' फिल्म का संवाद।

मध्यकालीन संत कवियों की संगीत यात्रा

डॉ. अश्विनी कुमार सिंह

जब सत्चित आनंद स्वरूप परमात्मा ने इस सृष्टि की रचना की होगी तो इस संसार की अथवा इस प्रकृति को सवाँरने, सजाने की दिव्य कल्पना कैसी होगी? इसकी कल्पना मानव मस्तिष्क की सोंच से उपर है, क्योंकि कहीं तो ये धरती सोलह श्रृंगार से सजी नवयौवना स्त्री की भाँति अपनी छवि बिखेरती हुई बरबस अपनी ओर खींचती और आकर्षित करती है तो कही थार की मरूभूमि जहाँ कोसो दूर तक पानी और पेड़-पौधों का नामो निशान तक नहीं। कहीं हिमालय जैसी ऊँची और बर्फीली चोटियाँ तो कही समुद्र की असीमित सीमा, सृष्टि की आदि से दृष्टि की अन्त तक, समुद्र की कहीं सीमा नहीं दिखती, कहीं नदी किनारे से पानी भरकर जाती पनिहारियों के पायल की झनकार तो कहीं मंदिर में बज रहे घंटियों की रणकार के साथ शंखनाद और मंत्रोच्चार करते भक्त-गणों की पुकार सुनकर खुद ब खुद सिर ईश्वर के चरणों में झुक जाता है। कहीं खेतों में दूर तक लहराते हुए हरे-हरे धान और गेहूँ के पौधे और बीच-बीच में सरसों के सुहावने सुंदर पीले फूलों की क्यारियाँ मानों हरे रंग की साड़ी में पीले फूलों की कसीदाकारी की गर्म हो, कहीं आम और महुए की पेड़ों से भरे बगीचों में कोयल की कूँक तो कभी पपीहे की पुकार सुनते हुए झूलों पर हिचकोले खाती हुई किशोरियाँ कजरी की धुन में आनंद विभोर होकर झूम रही होती हैं, कहीं फूलों के उद्यान में नन्हें-नन्हें बच्चे डगमगाते पैरों से दौड़ लगाते और होठों पर बाल सुलभ मुस्कान के साथ अपने माता-पिता की ओर दौड़ते हुए ऐसे दिखते हैं जिसका वर्णन हम शब्दों में नहीं कर सकते मानो सारी जीवन की खुशियाँ हमने उनके चेहरे पर एक क्षण में पा लिया हो और ईश्वर ने निश्च्छल रूप का दर्शन उनके चेहरे पर होता है।

अर्थात इन सभी ह्रदय स्पर्शी वातावरण को ये मानव मन देख कर सोंचने पर विवश हो जाता है कि 'जिसकी रचना इतनी सुंदर वो कितना सुंदर होगा'[1] और फिर उस रचनाकार की तलाश में इंसान अग्रसर होता जाता है। उस परमशांति, परमआनंद को पाने के लिए मानव ने भले ही रास्ते अनेक बनाए हों लेकिन मंजिल एक ही होती है। अपने आज तक के अनुभव में मैंने यही देखा कि इन्सानों की प्रकृति ऐसी होती है कि वो कभी संतुष्ट नहीं दिखा है। जिसे सभी भौतिक सुख सुविधायें मिल जाती है वो मन की शांति पाने के लिए विकल्प होता है और जिसके पास ये सारी सुविधायें नहीं है वो अपने जीवन यापन के लिए भौतिक साधनों को जुटाने के लिए दिन रात एक कर के जी तोड़ मेहनत करता है फिर भी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती है और एक के बाद एक समस्याएँ आती ही रहती है। जिसे भौतिक और मानसिक शांति मिली वो शरीर से इतने रोग ग्रस्त हो गए कि सारी सुख-सुविधायें बेकार लगने लगी और अंततः इंसान ईश्वर की ओर उन्मुख होता गया। कोई जप-तप ध्यान के द्वारा ईश्वर को पाना चाहता है तो कोई मंदिर-मस्जिद-गुरूद्वारे में जाकर अपने इष्ट के साथ साक्षात्कार करना चाहता है और ऐसे में स्वतः आत्मा से संगीत के बोल प्रार्थना और भजन के रूप में प्रस्फुटित होकर विकल मन को शांत करते हुए मानव की आत्मा परमात्मा में विलीन होने के लिए

अधीर हो जाता है तथा उस अधीर और व्याकुल मन से जो करूण पुकार निकलती है वो मानव मन अर्थात् गायक के साथ-साथ श्रोताओं को भी परम शांति प्रदान करती है और इस तरह से आत्मा परमात्मा एकाकार हो इस सांर रूपी भव-सागर को संगीत के माध्यम से पार होकर पदम पद को पा लेता है और युगों-युगों तक भक्त, कवि एवं भक्त संगीतज्ञ के रूप में उसकी पहचान रहती है, जैसे भक्त सूरदास, तुलसीदास, स्वामी हरिदास, कबीरदास, मीराबाई ऐसे अनेकों नाम हैं जिनके पद आज भी गाए जाते हैं।

सोलहवीं शताब्दी संगीत और काव्य के उत्थान और समन्वय का स्वर्ण युग था। इस युग में भक्त भावना जन-जन के ह्रदय से मानो बाहर निकलने को विवश थी। भक्ति आंदोलन अपनी परिपक्व अवस्था में पहुंच चुका था। इसलिए उसका प्रभाव समाज, राजनीति, धर्म और संस्कृति पर छाया हुआ था। इसी काल में संगीत और भक्ति मिलकर सम्राट तक के ह्रदय पर हावी थे वह भी भक्ति संगीत से अछूते न रहे। बड़े-बड़े भक्त कवियों ने संगीत के माध्यम से जन जागरण का जैसे बीड़ा उठा लिया था। इसी समय में सूरसागर के रचयिता एवं गीतिकाव्य का प्रकाण्ड विद्वान भक्त सूरदास, भक्त संगीतकार स्वामी हरिदास, रामचरित मानस के यशस्वी रचयिता गोस्वामी तुलसीदास, नारी स्वतंत्रता की प्रतीक मीराबाई, हरिवंश आदि द्वारा भक्ति पूर्ण काव्य प्रचार से संगीत कला भगवान प्राप्ति का साधन बन अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गई।[2] कुछ भक्त संगीतज्ञों के विषय में संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा जिन्होंने भक्ति और संगीत को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया।

स्वामी हरिदासजी- संवत 1537 भाद्र पक्ष शुक्ल अष्टमी संवत वि. को स्वामी हरिदासजी का जन्म हुआ था।[3] माँ गंगा एवं पिता आशुधीर मुल्तान पंजाब के निवासी थे। माता-पिता धर्म निष्ठ तथा महात्माओं से आदर और अनुराग करने वाले भक्त थे।

स्वामी हरिदासजी[4] ने जीवनपर्यन्त संगीत की साधना की और संगीत को अलौकिक आनंद से उठा कर ईश्वरोपासना के उच्च सिंहासन पर बैठाया। यह किंवदन्ति प्रसिद्ध है कि सम्राट अकबर के अनेक निमंत्रणों के बाद भी स्वामी हरिदास दरबार में नहीं उपस्थित हुए तब सम्राट अकबर को छदम बेश धारण करके तानसेन के साथ उनका गायन सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वह भी जब तानसेन ने कुछ अशुद्ध गायन उनके समक्ष किया तो गुरू होने के नाते उसे शुद्ध रूप देने के लिए जो गायन उन्होंने किया उसका दिव्य रूप सम्राट ने सुना और वह धन्य हो गया।

आपकी रचनाएँ जो केलिमाल में संग्रहित है उसमें ठेठ देशज भाषा और भावना की गइराई हैं। सभी रचना संगीत की दृष्टि से अति उत्तम है। उसमें तत्कालिन वाद्य यंत्रों का प्रयोग है-

काहू के हाथ अघौटी काहू के बीन
काहू के मृदंग काऊ गहे तार
काहू के अरगना छिरकत रंग रहयौ[5]

एक स्थान पर उनका सखि भाव देखते ही बनता है एकांत निकुंज में परस्पर श्रृंगार करने की चेष्टा में जिस पास्परिक रीझ और प्रीति की विभोरता की छटा व्यंजित होती है-

एक समै एकांत बन में करत
सिंगार परस्पर दोई।
वे उनके वे उनके प्रतिबिंवन देखत,
रहत परस्पर भाई।

स्वामी हरिदास की श्यामा और कुंजबिहारी जी का मेल बहुत ही सुंदर है जिसके सामने अन्य गुणीजन फीके लगते है।

हमारे भारत देश को धर्म प्रधान देश कहा जाता है। धर्म के द्वारा मानव मन के विकृतियों का परिष्कार होता है जिससे ह्रदय में सत्य, शील और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा होती है। 'वसुधै कुटुम्बकम्' इस धर्म का मूल मंत्र है। अहिंसा इसका आधार है। भक्ति के द्वारा स्वामी हरिदास जी ने संपूर्ण भारतवर्ष को एक सूत्र में जोड़ दिया। आज भी भारत के कोने-कोने से स्वामीजी के निधि वन में उनकी समाधि पर पुष्पांजलि देने लोग आते है।

मीराबाई- आज पूरे भारत वर्ष में मीराबाई को कौन नहीं जानता, इनके पद हर भजन-कीर्तन में सुनने को मिलता है। बचपन में ही मां का स्वर्गवास हो जाने के कारण इनका पालन-पोषण इनके दादाजी ने किया। इनका विवाह उदयपुर के महाराणा सांगा के प्रथम पुत्र भोजराज से हुआ।[6] ऐसा कहा जाता हैं कि उनके पति के मृत्यु के बाद श्रीकृष्ण की भक्ति में इतनी समर्पित हुई की लोक-लाज की परवाह किए बिना वृंदावन में आ गई और कृष्ण को ही अपना पति-प्रेमी अर्थात् अपना सर्वस्व समझा तथा उनके प्रेम में पागलों की तरह एकतारा लेकर गाती और भक्ति रचनाओं का निर्माण करती। उनकी भक्ति संगीतमय थी। वो गायन, वादन और नृत्य तीनों विधाओं में निपुण मीराबाई अपने इष्ट गिरिध ार गोपाल की प्रेम-दीवानी थी, उनकी भक्ति का माध यम भजन कीर्तन और नृत्य था और इसी माध्यम के कारण वो पूरे भारतवर्ष में प्रसिद्ध हो गई। आज मीराबाई के भजन और उनकी भक्ति भाव से कौन परिचित नहीं है।

तुलसीदास- भक्त कवि तुलसीदास को आज किसी पहचान की जरूरत नहीं है। उनकी 'रामचरित मानस' आज हर घर में धार्मिक ग्रंथ के रूप में विद्यमान है। हमारे समाज में आये दिन मानस पाठ का आयोजन किया जाता है। उनकी ये रचना पूरी तरह से संगीतमय है। इनकी दृष्टि में काव्य और संगीत एक दूसरे के पूरक थे। बादशाह अकबर के दरबार में अनेक संगीतकार होते हुए भी भारतीय संगीत का आध्यात्मिक पक्ष इतना उच्च कोटि का और श्रेष्ठ न हो सका जितना की इस काव्य रचना के आ जाने के बाद हुआ।[7]

गोस्वामी तुलसीदासजी के कृतियों में शास्त्रीय संगीत का भी प्रभाव था। कृष्णगीतावली में इक्कीस रागों का प्रयोग किया गया है। केदार, कान्हारा, ध नाश्री, बिलावट, नट, आसवरी, गौरी, मल्हार, ललित, कान्हड़ा, तोड़ी, गौरी, विभास, भैरव, चचरी वसंत आदि।[8]

गोस्वामीजी के गीतों को बड़े ही सरल और सुगम ढंग से तालबद्ध किया है। इस सरल और सहज भाव के कारण ही रामचरित मानस इतना सफल और लोकप्रिय हो सका।

कबीरदास- आपका जन्म 1398 ई0 में बनारस में हुआ। ऐसा कहा जाता है कि किसी विधवा ब्राह्मणी के यहाँ पैदा हुए और मुसलमान दम्पति के यहाँ उनकी परवरिश हुई। आप एक शक्तिशाली पुरूष एवं मार्गदशक थे। साथ ही हिन्दु-मुसलमान की एकता को बनाए रखने वाले मानवता के पुजारी थे। शब्द और साखी लिखकर उन्होंने हिन्दु-मुसलमान दोनों को एक करने का प्रयत्न किया। दोनों संप्रदायों को एक सा महत्व दिया और दोनों धर्म के अनुयायियों ने उनकी प्रशंसा की। वो कहते थे कि मैं न हिन्दु हूँ और न मुसलमान हूँ मैं एक पाँच तत्वों का बना हुआ शरीर हूँ-

हिन्दु कहो तो में नहीं, मुसलमान भी नहीं।
पाँच तत्व को पोटला गैवी खेलै माहि।।

कबीर साहब हमारे समाज के लोगों का ध्यान ऐसे विश्व धर्म की ओर दिखाना चाहते थे। जिसमें न कोई हिन्दु और न कोई मुसलमान हो, न कोई ब्राह्मण, न कोई शुद्र हो, न छोटा हो, न बड़ा हो-

वही महादेव वही मोहम्मद-ब्रह्मा, आदम कहिए।
को हिन्दु को तुरूक कहावे एक जमी पर रहिए।।
वेद कितावें पढ़े वे, कुतुब के मौलाना वे पांडे।

बेगरी-बेगरी नाम धरायो एक मटिया के मांडे।।
कबीर साहब ने निर्गुण उपदेश दिया जिसमें उन्होंने भगवान को निराकार माना और इस प्रकार हिन्दु-मुसलिम एकता स्थापित करने का प्रयास किया।

आपके भजन बोलचाल की भाषा में लिखे गए, जिसका साहित्य और भाषा से कोई सरोकार नहीं था। वो एक ईश्वर को मानने वाले थे, उनके भजनों में सिर्फ मानवता के लिए संदेश छुपा होता था।

मन लागो यार फकीरों में जो सुख पावे नाम भजन में। सो सुख नाही अमीरी मे। भला बुरा सबको सुन लीजै। करि गुजरान गरीबी में। प्रेम नगर में रहनि हमारी। भला बनी आई सबूरी में।। हाथ में कूंडी बगल में सोटा। चारों दिसा जगीरी में।। आखिर यह तन खाक मिलेगा। काहे फिरत मगरूरी में।।

कहत कबीर सुनो भाई साधो। साहिब मिले सबूरी में।।

संदर्भ-

1. शर्मा डॉ. सुनीता, भारतीय संगीत का इतिहास-, पृ0-145
2. भार्गव डॉ. सत्या, राष्ट्रीय एकता में संगीत की भूमिका, पृ0-51
3. बनर्जी नमिता, मध्यकालीन संगीतज्ञ एवं उनका तत्कालिन समाज पर प्रभाव-प्राक्कथन से।
4. बनर्जी नमिता, मध्यकालीन संगीतज्ञ एवं उनका तत्कालिन समाज पर प्रभाव- प्राक्कथन से।
5. भार्गव डॉ. सत्या, राष्ट्रीय एकता में संगीत की भूमिका, पृ0-63
6. भार्गव डॉ. सत्या, राष्ट्रीय एकता में संगीत की भूमिका, पृ0-66
7. भार्गव डॉ. सत्या, राष्ट्रीय एकता में संगीत की भूमिका, पृ0-67
8. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ0-819

Applied Ethnomusicology : A New Dimension to Indian Music

*Dr. Sudha Sahgal

Abstract:

Indian Music has always been emerging and developing through cultural backgrounds of specific regions. Terms for various types of music have been evolved to streamline the styles such as Shastriya Sangeet, Upshastriya Sangeet, Lok- Sangeet, Sugam Sangeet etc. In academic and research spheres any such terms other than Musicology (derived from west) are not given or propounded but in western countries for cultural music (folk based studies) a stream named "Cultural Musicology"was proposed to study in various folk studies in 1870s which was later re-evolved as "Comparative Musicology"in 1900s and finally took shape as "Ethnomusicology" 1950s and stayed for decades. Nowadays its application is being enforced in practice in several streams and streamlined offshoots where wizards name some areas as "multi-culture musicology", "multi-musicology", "inter-cultural musicology" etc. For the study and research of Indian music, we do not proceed alike but we are certainly working on ethnomusicological perspectives (unknowingly) and undoubtedly can proceed in the area of Applied Ethnomusicology. This paper is focusing on the possibilities of applied ethnomusicology.

Keywords:

Culture, Music, Ethnic, Application, Indian perspective.

Before enunciating and proposing certain perspectives about " Applied Ethnomusicilogy" , I should rather connote ethnomusicology first. Ethnomusicology is the study of music " in" and " as" culture . It is the area of research emerged in western countries after the study of musicology. Musicology's traditional subject has been the history and literature of Western art and music whereas ethnomusicology was developed as the study of all music as a human social and cultural phenomenon. The primary harbinger to ethnomusicology, comparative musicology, emerged in the late 19th century and early 20th century. Comparative musicology and early ethnomusicology tended to focus on "non-Western music" that was transmitted through oral traditions. But, in more recent years, the field has expanded to embrace all musical styles from all parts of the world. It is an academic field covering multiple approaches to the study of music that

Associate Prof., Music Dept. Dayalbagh Educational Inst,, Agra

emphasize its cultural, social, material, cognitive, biological, and other dimensions or contexts instead of or in addition to its isolated sound component or any particular repertoire.

Areas of Broad Ethnomusicology :

- Study related to people of specific regional background
- Study related to people behaving in specific culture
- Study related to people making music
- Study related to people developing and re-evolving musical instruments
- Study in tribal music , musical stories , musical dramas , musical narrations.
- Study related to people using music in particular events and festivals

Images of Indian Ethnomusical Background

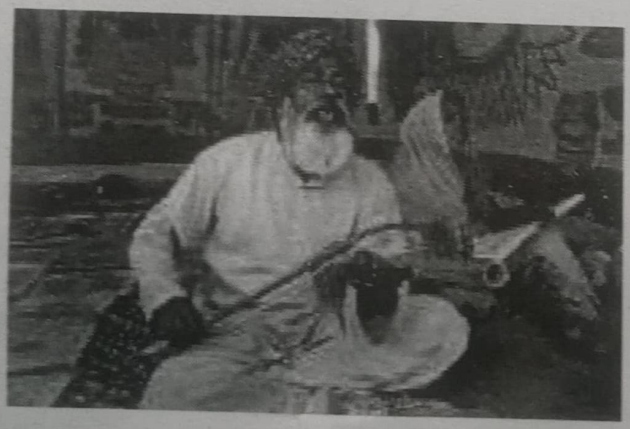

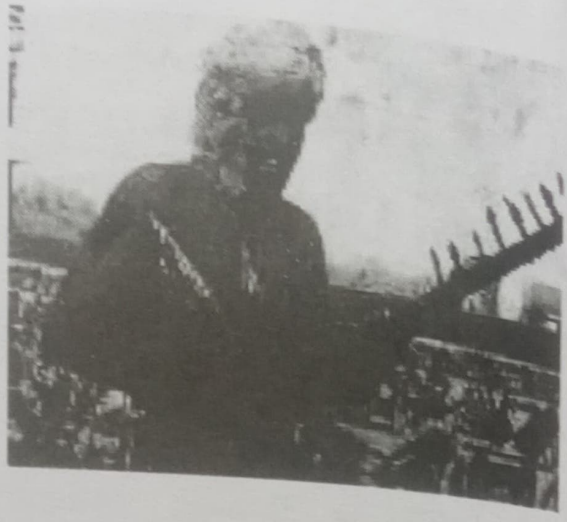

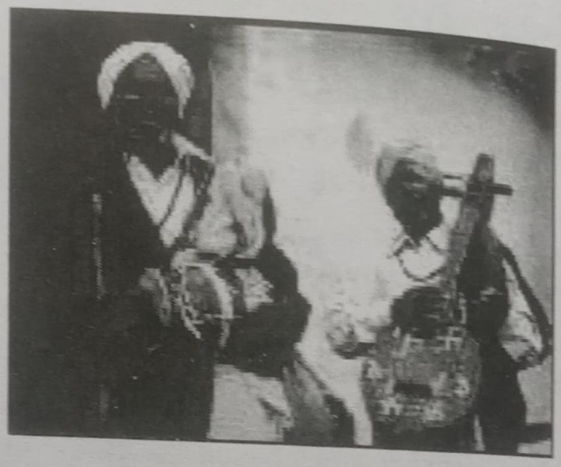

Application of Ethnomusicology as **Applied Ethnomusicology :**

Applied ethnomusicology is the study of the music of nations combining aspects of folklore, psychology, cultural anthropology, and conventional musicology also involving skills from a multitude of disciplines. Nowadays applied ethnomusicology has become a known word in the general lexicon. In western countries the influence of applied ethnomusicology has largely spread to composers, music curators, music educators, anthropologists, musicologists, and the application of ethnomusicology substantiated global music projects with its name and label.

Applied ethnomusicology or its areas can be divided into four groups:

1. People who use ethnomusicology for large interests such as education, making financial gains, pleasure of performance etc.
2. Professionals who act and apply strategies as factors to persuade other professionals to share their knowledge with popularizers of the first group.
3. The musicology representatives that study and apply the music in other contexts in terms of sound and cultural zones.
4. The anthropology representatives that focused on human beings with the stand that "music is culture" and "what musicians do is society."

With the advent of the influence on anthropological researchers within ethnomusicology, the discipline became less data oriented and more of a theoretical discipline. **The blossoming of employing other fields such as linguistics and psychology in helping anthropologists observe the cognitive processes and human behaviors in music making opens wide horizon of Applied Ethnomusicology**

Keeping in view the above mentioned perspectives Applied Ethnomusicology introduces new areas for research

Worldwide / Global Approach –

The application can be universal through applied ethnomusicology by seeking the commonalities between different types of musics and discovering a conceptual framework that include imaginary differences between them. Though ethnomusicologists initially started to question the tentative insight of universals because they were searching for a new approach to explain musicology. Charles Seeger the great ethnomusicologist categorized his interpretation of musical universals by using inclusion-exclusion styled Venn-diagrams to create five types universals or absolute truths of music as

1. unitary–field theory
2. linguocentric predicament,
3. classical speech logic,
4. dialectic and systematic orientations
5. comparison of music as one of the humanities.

Some ethnomusicologists such as Davi P. HYPERLIN "http:en.wikipedia.org/wiki/David_P._McAllester"McAllester argue that there are no complete universals in music due to human variability and complexity but **believe that there are "near-enough"universals, particularly music's seeming ability to revolve around some tonal center and heighten human experience** but even then research areas invited on this preposition. Lot of work can be conducted regarding inter exchange of notations as comparative and collaborative study using **Applied Ethnomusicology : A New Dimension to Indian Music** systematic, dialectic and unitary approches not only in the area of culture but also in the academic study of music of nations .

Exchanging inter – notational conceptual framework

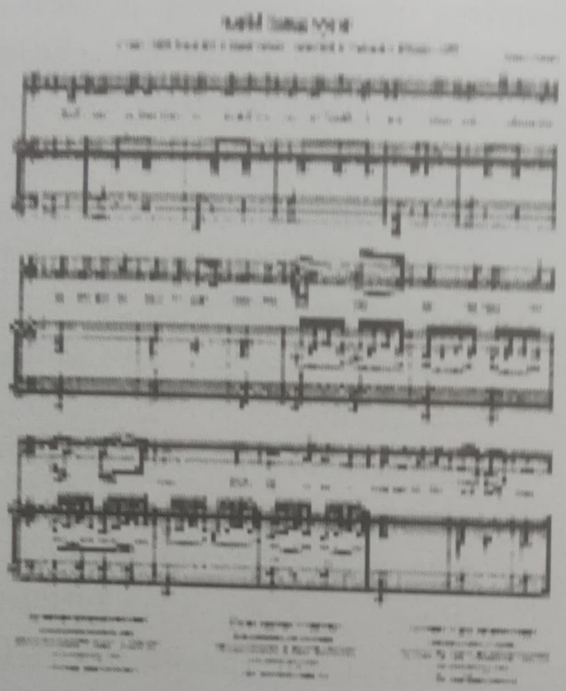

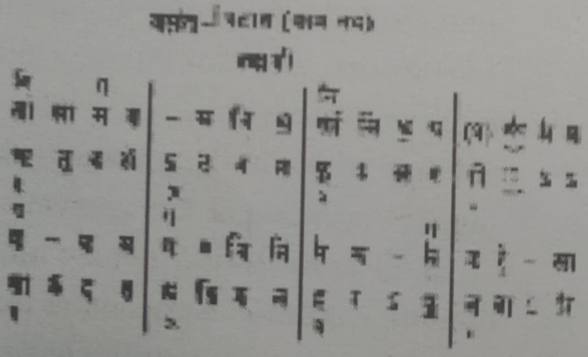

Linguistic and Semiotic Approach -

A number of ethnomusicologists, scholars, musicologist such as Charles Seeger and semiotician Jean-Jacques Nattiez, proposed using methodology commonly employed in linguistics as a new way for ethnomusicologists to study music within the areas of Applied ethnomusicology. This new approach, widely was focused into finding the underlying symbolic structure behind the cultures and their music.

In this regard, many wizards propounded the existence of musical "grammars" in the studies of the theory of music. They connoted that music can not only be studied as a symbol but also represent the language, and therefore semiotic studies can be suggested.

Observing the abstract and non-scientific nature of music, Nattiez suggested that linguistic models and methods can be applied to ethnomusicology to make regional and national music more effective than the scientific method. "The components of applied ethnomusicology, based on the linguistic methods, include the capability to rely in itself as a discipline, rather than continuously adopting resources from other sciences. The complexity of analysis can be drawn through:

- the inclusion of structural dimensions
- diachronic perspectives
- synchronic perspectives
- differentiations among humans and styles, such as people using differently Urdu poetic references along with western analysis—

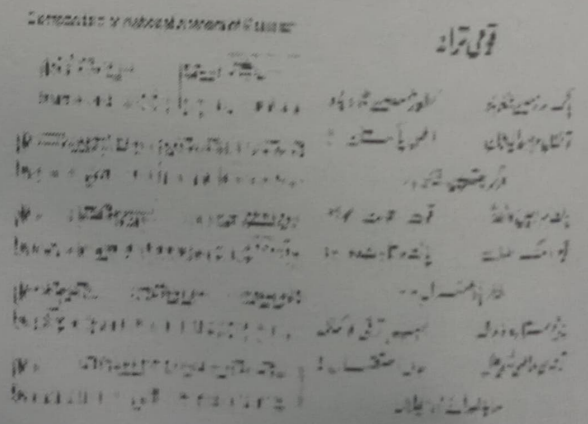

The idea of musical semiotics was common in the1970s but it never acquired

great popularity, and only a few modern ethnomusicologists employ linguistic methods but this area of applied ethnomusicology can be explored with the similarity and dissimilarity of musical cultures.

Epistemological Approach :

Epistemology is the branch of philosophy concerned with the nature and scope of knowledge. It is also referred to as "theory of knowledge". It questions what knowledge is and how it can be acquired, and the extent to which knowledge pertinent to any given subject can be acquired. Since Applied Ethnomusicology is a field that includes and participates in a vast area of other areas –

- it focuses practically on studying people
- it is appropriate to know keenly and examining the issue of "making the unfamiliar, familiar"(a phrase well known in social psychology)
- the "unfamiliar" is epistemologically observed in three different ways-
- two different cultures come into contact and elements of both will not be immediately explicable to the other
- experts within a society produce new musical knowledge, which can later be communicated to the public
- active minorities communicate musically the perspectives and traditions to the majority.

In Indian social and cultural background tribal music can be bring forth with its distinctive features,musical loud nuances and bold expressions.

Making the Unfamiliar as Familiar with Distinctive Musical Features in Festivals

Technological Approach :

The impact of technology is a vital component while observing and conducting applied ethnomusicology. This approach enhances music by discussing its ability to disseminate, change, and influence music around the world. Charactristics of genres, highlighting the difficulties in distinguishing between folk, classical, and popular music by tracing the historical development of the phonograph, radio, cassette recordings, and television within the society. Music has become a commodity in many societies and through technology those commodities can be studied deeply and easily.

Cognitive Approach :

It is an emerging area in applied ethnomusicology. Cognitive psychology, neuroscience, anatomy, and similar fields have attempted to know how music relates to an individual's perception, cognition, and behavior. This is a relatively new approach to the study of music as well as in the field of applied ethnomusicology. Research areas include pitch perception, representation and expectation, timber perception, rhythmic processing, musical event hierarchies , musical performance and ability, musical universals, musical origins, music development, cross-cultural cognition, evolution etc.

The perception of music structurally is the auditory system and able to distinguish different pitches (sound waves of varying frequency) via the complementary vibrating of the eardrum.

Process of analysing music through cognitive measures

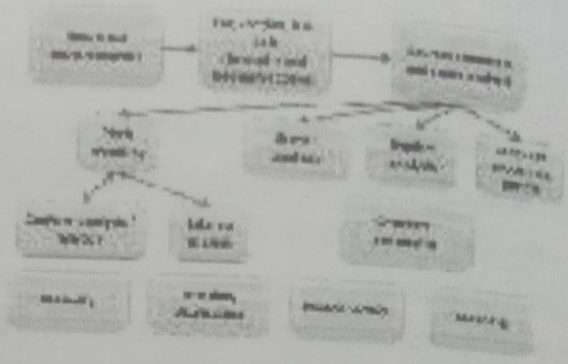

Researcher can also analyse incoming sound signals via pattern recognition mechanism.Cognitively, the work of brain is constructionist when it examines the pitch.Application of ethnomusical traits can be studied under this area regarding the unusual tone application of the singer or orator to composition, analytical judgement of fundamental pitch from a harmonic networking . Studies can be conducted by structred or controlled group through clinical tests and speech variants resulting into various findings—

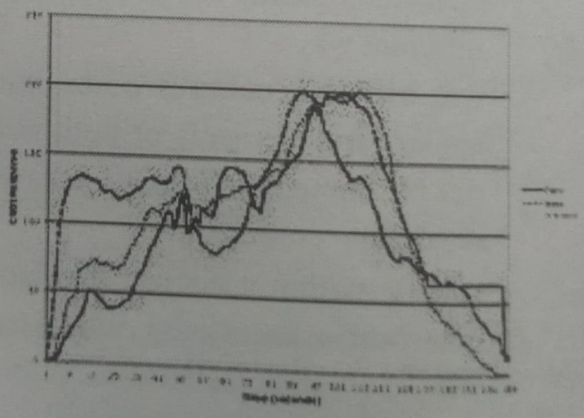

Applied Ethnomusicology : A New Dimension to Indian Music

Researches suggest that much contrary to popular belief, more is yet to be learned such as absolute pitch, perception relating to micro tones, chords assembled in

naturally consonant or dissonant patterns.In relation to pitch, frequency is a universal phenomenon but musical scale construction is culturally specific and seasoning in a cultural scale results in to melodic and harmonic expectations, timbre requirements can be examined based on past correlation of learnt music.

Furthermore ,researchers can attempt to use psychological and biological principles to understand more complex musical phenomena such as performance behavior or the evolution and change of ethnic music. It is generally understood that errors in performance give insight into perception of a music's structure, but these studies are somewhat restricted to composition- analysis or score-reading tradition.Nowadays there are several theories to explain the evolution of applied ethnomusic –

- the ability to produce language in musical spheres
- the capacity to evolve music to enable and promote social interaction
- the insight to evolve ethnomusical traits to increase efficiency of vocal communication over long distances socially and culturally.

In conclusion, it can be summed up that researchers, scholars and students should continue to elaborate on understandings of theories,methods and practices of applied ethnomusicology. It can also be stressed how one conceptualises required theories such as ethnomusicology and applications; how applied work would be operated within methodologies and academic zones and beyond; how this area would be able to address concrete social problems; and how one can regard social responsibility in music, ethnomusic, cultural assimilations, music – making and music tradition. Applying ethnomusicology is a powerful act with regards to socio-cultural genres. It is the discipline that announces the universal appeal. In Indian perspective, it can be sought with tinge of difference due to diversity of cultures, which establishes it more powerfully and observing its universal appeal researches should be conducted in this area to strengthen the strands of national background to global outreach.

References :

1. Merriam, Alan P. 1975. "Ethnomusicology Today." *Current Musicology* 20: 50-66.
2. Seeger, Charles. 1975 [1970]. "Toward a Unitary Field Theory for Musicology." In Studies in musicology, Berkeley: University of California Press.
3. McAllester, David. 1971. "Some Thoughts on Universals in World Music."univ. of Illinois.
4. .Seeger, Charles. 1975 [1970]. "Toward a Unitary Field Theory for Musicology." In Studies in Musicology, Berkeley: Berkeley: University of California Press.
5. Nattiez, Jean-Jacques. 1973. "Linguistics: A New Approach for Musical Analysis?" International Review of Aesthetics and Sociology of Music .

Essence of Spirituality in the Ragas of Hindustani and Carnatic Music Systems

Binathi.G

NADA:

The entire creation of God is based on the Nada Brahma. Mystics say that this creative sound is God Himself in dynamic action. God is the centre of all existence.

"Vibration was the first original aspect of Brahma, the creator. Every impulse, every action on any plane of existence has its origin in the one source."[1]

Inayat Khan, Sufi message

Nada or Sound has been central to the worshipping practices and beliefs on origin of creation in majority of religions and faiths.

SOUND AND MUSIC:

In the words of Swami Prajnanananda[2], "Music originated from the sound (Aahad Naada), which is the product of ether (akasha): "Shabda Akasha

Sambhavah". Sound originates in the living beings, from the friction of air (Prana vayu or Vital breath) and heat energy (agni = will-power). It evolves first in a casual form (Anahad) and then in a gross form (Aahad). When the gross sound emanates from the vocal chord, it is called sound, and when again it is sweet and soothing, it is called **Music or Sangitam"**. Music is a moulded form of sound.

Music is one of the best medium to attain ultimate spiritual ecstasy. The entire creation of God is based on the Nada Brahma. Scientifically this theory is called as BIG-BANG theory.

Raga being the most refined form of sound man has developed and applied, with the unique quality of elevating oneself from sensual level to the transcendental or spiritual planes as revealed by saints and seers throughout the history of mankind like saint Tyagaraja, Sant Kabir etc. who preached in their compositions that NADA, the sound, is ultimate.

Music and spirituality are inseparable elements. Music that we hear (Aahata) is a moulded (soothing) form of sound. Here music of Aahata nada is compared to external music or Aahata sangeet (Apara vidya) and Anaahata Nada i.e. Internal music is compared to Anaahata sangeet (Para vidya).

Music of India is regarded as means of divine contemplation and bliss in that Raga system is the striking aspect of Indian music system.

ESSENCE OF SPIRITUALITY:

Essence of spirituality is that concept which is liberated from physical entity, beyond the limitations of human

Research Scholar, Dept. of Music, Dayalbagh Edu. Institute, Agra

comprehension and which is elevated to transcendental spheres or spiritual sublimity.

SPIRITUAL ESSENCE IN THE RAGAS:

The ragas in which the notes and lyrics transport the artist and the audience's mood from appreciation of art to experiencing pure bliss and unalloyed joy of spiritualism. This is the core or hallmark of any raga. Every raga, other than its physical form, has its own essence in the internal form also that enables the artist and the audience to develop oneness with the Supreme Being.

Music of India is regarded as means of divine contemplation and bliss. Raga system is the striking aspect of Indian music.

Here the objective is to prove that Spiritual essence can be attained through rendition of ragas with bhava that helps an artist or a devotee to reach the heights of spirituality to some extent. Ragas have the quality of expressing the feelings to God without the necessity of language. **"Raga is rasa and rasa is anand"**, therefore, Abhinav gupt, (a successor to Shankaracharya from Kashmir period 950 A.D. to 1025 A.D.) has compared rasa with God i.e. **"Bramhanand Sahodar"** .[3]

Ragas like **"SARAMATI, ABHERI, SINDHU BHAIRAVI"** etc., in Carnatic music system and **"GURJARI TODI, BHAIRAVI, YAMAN"** etc., in Hindustani music are selected to explore the spiritual essence in the ragas and in their swar sangatis. Interviews with domain experts, teachers, professors, artists regarding their Spiritual experiences on selected ragas have been conducted to support the idea. Apart from the selected ragas, general interviews and opinions regarding various ragas of both systems are also taken from renowned artists, learned scholars, professors of both Hindustani and Carnatic music systems supporting the idea.

Some of the interviews taken from renowned Hindustani artists on selected ragas:

Prof.Emeritus.V.Premkumari my esteemed guide and mentor, *(Ex-Head of the Departmentof Music and Ex-Dean Faculty of Arts, Dayalbagh Educational Institute, Agra.) an eminent musician in Hindustani music* **opines on Raga Gurjari Todi,** "Raga Gurjari Todi" if performed to perfection can create wonders and evoke different emotions like benevolence and mercy. The quality of this raag has an overwhelming effect of tranquility, therapeutic value and provides a meditative calmness on the artist as well as the audience.

Especially the combination of notes like R G R S, and when the prayog G M D resting on dhaivat note , M D N D , M G, R G R, S..... type of combinations make it a suitable form for worship".

Renowned Artist in Hindustani Classical Music, Mrs. Mamtadas Gupta mentions on Raga yaman "In the exploration of this raga I feel God's own breath diffused in it. A versatile raag, its wondrous notes without the help of the lyrics can also express myriad expressions and evoke pious vibrations creating serenity in the mind.

The swar combinations like N R G - , G R N M G , N R G, D N R G, R N D S.....gives peace to our mind".

Interviews other than selected ragas:

Prof. Swatantra Bala Sharma, Allahabad University, Allahabad says that she is in total agreement with the view that Ragas have spiritual essence. According to her the Union of words with 'Swar' can

give rise to the feeling of complete devotion. She experiences spirituality or feelings of devotion particularly on rendition of ragas with qualities of serenity, peace and majesty like "Bilaskhani Todi, Bhairav, Malkauns etc. In the tenderness of Bhairavi raag also she experiences feelings of spirituality. In the compositions of raga Bilawal especially of Dhrupad style she experiences the feelings of spirituality deeply. Prof. Sharma also states that feelings of spirituality are particularly aroused in rendering ragas in Madhya laya rather than in Drut laya.

Prof. Sharda Velankar, Dean, Faculty of Performing Arts, B.H.U, Varanasi. Prof. Velankar not only agrees that ragas have essence of spirituality in them, but also says that she has personally experienced this. According to her, spirituality can be experienced more in ragas with minor notes (Komal swaras). She supports this view with an explanation that tenderness is the quality of spirituality itself and this quality cannot be experienced by rendering Shuddha swaras (major notes) in contrast to Komal swaras.

She adds that by using different combination of swaras a deep feeling of compassion and devotion can be aroused. Eg: the method of singing Rishabh swar in Shree raga has a deeper impact. She also feels that one experiences greater spirituality in the ragas like Bhairavi, Malkauns, Bhatiyar etc also the erotic in Thumri compositions elevates to the highest level of love of the devotee for his Lord, thus feelings of Nirgun Bhakti are clearly experienced in such compositions.

Prof. Ravi Kumar Bhatnagar, Dept of Music, Dayalbagh Educational Institute, Agra, opines that ragas and essence of spirituality related in a way that rendition of different ragas evokes different feelings of spirituality. According to him the time at which the ragas are rendered arouses different feelings related to spirituality. He specifies that morning ragas like Bhairav, Bhatiyar, Lalit, Gurjari Todi etc. evoke feelings of calm, peace and serenity which are closely related to prayer. On the other hand evening ragas refers like Kalyan, Darbari, Kedar etc. arouse feelings of restlessness, unquietude leading to yearning, longing and the pain of separation.

Prof. Ravi Kumar feels that Swar-sangatis of particular ragas evoke feelings of spirituality, especially in raga 'Bhatiyar' the swar-sangatis like:

"D M P · · , (P) G $\underline{R}$ · · S" and in Lalit raga the swar-sangatis like:

"N $\underline{R}$ G M M M · · · M G" helps the subject to concentrate with complete devotion.

Interviews conducted with Carnatic artists on selected ragas: An eminent Carnatic musician Mr. Sabari Gireesh *a lecturer in S.V. COLLEGE OF MUSIC AND DANCE, Tirupathi. "Asthana Vidhwan of Kanchi Kaama Koti Peetham"*, states on Raga SARAMATI a janya raga derived from the 20th melakarta **Natha Bhairavi**

"Raga Saramati has got an emotional request in it. This raag has complete divine tinge. It is entirely a spiritual raga with a strong emotional appeal for mercy from God. This raga is specially suitable for spiritual compositions.

The Kritis "MOKSHAMU GALADA" and "MARI MARI NINNE MORALIDA" are more than enough to portray the spiritual essence in Saramati raag

Combinations like: SRGM, PDM, NDM, GS, NDS.....

This raga has a mystical quality and leads one to introspect and paves the way to a rich and divine experience".

Music exponent, Sri. G.Nageswara Naidu ***GRADE-I vocal artist of ANNAMACHARYA PROJECT, TTD, TIRUPATHI,*** conveys his opinion on Raga SINDHU BHAIRAVI.

He mentions that the sweetness simplicity and fragility of this raga makes it an ideal form for worship and also exhibits the deep desire of a devotee for the darshan of the lord.

Combinations like:

S R G M P D N S, S N D P, P N D P, G M P D, N D P, D P M G R, G M P D P M G R, M G R S.....

Interviews other than selected ragas:

"Padma Sri" Shobha raju who has been spending most of her singing career in composing devotional music, opines that much of the depth of feeling, devotion, love and surrender which we find in the Keertanas of Annamacharya is not only because of his powerful poetry but choice of the raga that allows the expression of deep devotional feelings apart from the words. Annamacharya Sankeertanas are therefore complemented by the ragas in which they are sung.

Example: Adiho! Alladivo Sri Harivasamu...famous Keertana of Annamacharya (a vaggeyakara) in Madhyamavati raga.

'Sindhu bhairavi' raga according to her is most suitable for expressing the desire for protection of the Lord and complete love, surrender in His Holy feet ("Saranagati Tatwam").

Shri. Balakrishna Prasad, "Kanchi kamakotipeetha Aasthana Vidwan" Tirupati, drawing a distinction between spirituality and devotion Shri.G.Balakrishna Prasad admits that devotion may pave the path to spirituality. The style of rendering a raga and swar combinations may bring a change in the mood, rasa or emotion that is aroused.

Example: Raga Athaana in Carnatic music is dominant with the Veer rasa. However when the same notes are sung softly at a different rhythm it may create the emotions of devotion and love.

He opines that during a performance when the true artist sings in deep devotion and goes into a trance, this itself become a spiritual experience. Quoting a personnel experience he shared that listening to the swar combinations of raag Bhairavi and Hari Kambhoji he felt a moment of revelation which he says is indescribable.

"Sri Pullela Peri Somayajulu" "Violina Vadya Ratna", "Head of the Department in Violin Retd, Sri Venkateswara Sangeeta Nritya Kalasala (S.V.Music and Dance college), Tirupati".

"Sangeeta gnanamu Bhakti vina"
Sanmargamu galade? manasa! [4]

A Kriti of Saint Tyagaraja in Dhanyasi raga, Meaning: "The knowledge of Music (Sangeeta) bereft of devotion, is valueless and cannot secure salvation". He explains this further by saying that one can achieve the best of the earthly and the spiritual by combining the two faculties of knowledge of music with devotion. He says that many Bhaktas and Saints like the Trinities of Carnatic music were able to experience the highest regions by using devotional music as a medium. Example: the Kriti "Nadopasana" in Begada raag, "Nadasudharasambilanu" in Aarabhi raga, "Nadatanumanisham" in Chittaranjani raag, "Nadaloludina brahmanandamu pondave! manasa" in Kalyana vasanta raag of Saint Tyagaraja are of kritis replete with spiritual content.

Music and Spirituality are inextricably linked into a single whole. Music is the Universal language that leaves no heart

untouched. Music impacts all human life and is present even in the mundane situations. Eg: a mother uses a lullaby to put her child to sleep. Music is also used as a means of inspiration during times of war; it may also relieve stress in times of trouble and suffering. He feels that the opening note of the ragas in the rising tones in Bhageshree raga appears to be a call or direct address to the Lord.

Thereby I signify that Spiritual essence can be attained through rendition of ragas with bhava that helps an artist or a devotee to reach the heights of Anaahata sangeet to some extent.

Example Raag Bhairav in Hindustani music. A composition in Bhairav raag: The soothing swar-sangatis and variations in this raag makes feel everyone that we are spiritually transported.

स्थाई- [5]

मग	निम	ध	ध	पम	प	गम	ग
ध	न	ध	न	मूं	ऽ	र	त
0				3			
रे	-	मग	(म)	रे	-	सा	-
कृ	ऽण	ऽ	मु	रा	ऽ	री	ऽ
x				2			
सा	निध	-	नि	सा	सा	सा	सा
सु	ल	ऽ	च्छ	ऽ	न	गि	रि
0				3			
गरे	-	स	-	सानि	सा	ग	म
धा	ऽ	री	ऽ	छ	वि	सुं	ऽ
x				2			
प	प	ध	-	सां	-	ध	प
द	र	ला	ऽ	गे	ऽ	अ	ति
0				3			
पध	निसां	सारे	सानि	धनि	धप	मग	म
प्याऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	री
x				2			

The note combinations like **GM G R – MG (M) R – S** - effectively highlights the inner feelings of a devotee like Pleasing the Lord, making supplication at His holy feet and extends a serene effect on the artist and audience.

Similarly raag Saramati in Carnatic music portrays highly Bhakti rasa. Through the kritis 'Mokshamu galada' and 'Mari mari ninne' composed by saint Tyagaraja, this raag came to known to all in South. There are very rare compositions in Saramati. Raag Saramati has got an emotional request in it. This raag has complete divine tinge. There aren't any erotic compositions in this raaga. Listening to Tyagaraja's compositions itself gives spiritual mood and such the raaga Saramati and his compositions in it. This raaga is specially suitable for spiritual compositions.

Meaning:[6] Oh All Pervading one! Though I have been incessantly crying out for you, your mind has not been moved by mercy. What was the reason for your rushing to the rescue of Gajendra on the bare hearing of appeal? I have heard of the story of your having presented yourself before Dhruva with all love. What was the secret of your having taken the form of Narasimha for the sake of Prahalada, the son of the enemy of Devas? Pray, tell me of the glory of your having blessed Sugriva who had been guilty of having forgotten the promises he had made.

It is not possible for me to bear this neglect any more. I shall not hereafter listen (to any reason for such attitude).

Analysis: while singing the lines Mari mari nine moralida.. ni manasuna daya raada??? (Oh All Pervading one! Though I have been incessantly crying out for you, your mind has not been moved by mercy?) the composition and the note combinations under these moving lines ; S R G M G G S ; | ; S R G ,|S ;

; ; and especially while singing ni manasuna daya raada the notes: N S ; S R G M ; , P D | N S R G S ; visualizes an emotional request of a devotee and deep prayers to his Supreme being.

Therefore I feel like ragas are the earthly expression of the unheard, celestial music that resounds in the higher realms. Ragas enhances the thought content or emotion. Ultimately this article highlights the essence of spirituality present in ragas.

The spiritually elevated saints of the past recreated these divine sounds on Earth, by creating musical instruments that produce the worldly articulation of these spiritual sounds. In the words of PARAM GURU HUZUR MAHARAJ, in Prem Patra part-4, 65th Bachan

"ALL THE MUSICAL INSTRUMENTS FOUND IN THE WORLD HAVE BEEN MADE BY YOGIS AND YOGESWARAS, AFTER LISTENING TO THE INTERNAL SOUND AND MUSIC WITHIN THEMSELVES, i.e., THE DIVINE SOUND. UNDER THE CIRCUMSTANCES HOW GREAT WOULD BE THE CHARM AND SWEETNESS OF THE REAL SOUND WHICH IS ABSOLUTELY SPIRITUAL, i.e., WHICH EMANATES FROM THE CURRENT OF THE SPIRIT AND HOW GREAT WOULD BE THE ECSTACY AND ABSORPTION PRODUCED BY IT WITHIN THE MIND AND THE SPIRIT".[8]

- Ultimately this work highlights the essence of spirituality present in ragas
- Man can derive spiritual ecstasy through rendition of ragas performed with deep concentration and with purity of mind.
- The sublime divine themes of prayer, meditation and spiritual upliftment can be obtained through music to a considerable extent.

References:

1. John Davidson, "A TREASURY OF MYSTIC TERMS" "Part-1, Vol-1, "The universe of spirituality" published by science of the soul research centre Radhasoami Satsang Beas.
2. Prajnanananda'Swami, A HISTORY OF INDIAN MUSIC, Ramakrishna Vedanta Math, 19 B, Raja Rajkrishna Street, Calcutta – 6, pg no: 19 May – 1963.
3. Raveendranath Bahore, Pt.Madan lal vyas krut, "Bharateeya sangeet ke pramukh sthamb", classical publishing company, New Delhi 2005,
4. Ramlal Mathire, "Bharateeya Sangeet aur sangeetagn," Bohra prakashan, Jaipur 1997.
5. Journal no: 71/2, "SANGEET", Dr. Rajeev verma, Feb.2005, pg no.4.
6. Dr.Raghavan.V, " The spiritual heritage of Tyagaraja, An Introductory Thesis." Published by Ramakrishna Math.

"Prem Patra-4" – Param Guru Huzur Maharaj.

Pt. Vishwa Mohan Bhatt and Mohan Veena

Garima Gupta

Creator of Mohan Veena and winner of the Grammy Award Pandit Vishwa Mohan Bhatt has mesmerized the world with his dazzling musicality, virtuosity, and bewildering command over the Mohan Veena (which has been designed by him). Outstanding features of Bhatt's style are his natural ability to play the 'Tantrakari Ang' and incorporate the 'Gayaki Ang' on the 'Mohan Veena'. With his sheer virtuosity and limitless supply of melodies, he won the highest music award of the world, the Grammy award, along with RY Cooder in 1994 for his world music album "A meeting by the river" establishing him as a star performer innovator and soulful composer. Pt. Vishwa Mohan Bhatt has made an the international attention by his indianization of the sitar, sarod and veena techniques, by giving it a revolutionary design and shape by adding 14 additional strings, with blinding speed and faultless legato.

Pt. Vishwa Mohan Bhatt is undoubtedly one of the most expressive, versatile and greatest slide players of the world. Bhatt has performed extensively in the USA, Canada, U.K., Australia, U.A.E., France, Germany, Belgium, Holland, Lsrael, Switzerland, Norway, Singapore, etc. His performances are highly acclaimed all over the world. Now, here are some of the best press comments, which seems perfect for Pt.Vishwa Mohan Bhatt.

Press comments for Pt. Vishwa Mohan Bhatt

- One of the greatest and most expressive slide players in the world. – Elijah Wald, Acoustic Guitar Magazine (U.S.A)
- Vishwa Mohan Bhatt invented 'Mohan Veena' to put his stamp on classical Indian Music. – Brain Mann (Columbia Daily Trubuine, U.S.A.)
- Culture Ambassador to India. – The Hindu (Hindu)
- Vishwa Mohan Bhatt is an inspiration even to the western Guitarists. – Royger Levesque (Edmonton Journal, Canada)
- Creator of new sound. - Gulf News (U.A.E.)
- Vishwa Mohan Bhatt is the king of slide guitar (Mohan Veena). – Boston Globe (U.S.A.)
- Bhatt is the Guitar man. – Errol Nazarath, the Toronto Sun, (Canada)

A part being a star, performer, Bhatt is master collaborator too. He combined with Chinese Erthur player, Jei-Bing-Chen to

Research Scholar Deppt. Of Instrument Faculty of Per. Arts B.H.U. Varanasi

become the first ever Indian to strike a Jugalbandi with a Chinese artist in the long history of India and China. He has also combined with ace American Dorbo guitar player, Jerry Douglas, with the American country music singer, Taj Mahal and a rare combination with Arabian Ud Player Simon Shaheen. All these recordings have been released in the USA and Europe, and are setting new scale records. He has also composed "Music For Relaxation" for music today. "Meghdootam" (Sung by top-notch Indian singers Hariharan & Kavita Krishnamurty) a Sankrit epic poem has been composed and recorded for the first time by pt. Vishwa Mohan Bhatt. He has composed music for the Bollywood art movie 'Bawandar' and his music has been incorporated in the Hollywood movie 'Dead Man Walking'. He has recently recorded a music album for his son, Saurabh V Bhatt, which has been appreciated all over the world.

The Mohan Veena is a stringed musical Instrument used in Indian classical music. It derives its name from its inventor, the Grammy Award winner Pt. Vishwa Mohan Bhatt who resides in Jaipur India.

The Mohan Veena-

The Mohan Veena is a highly modified Concord archtop, which Pt. Vishwa Mohan Bhatt plays lap-style. It has 20 strings viz. 3 melody strings, 5 drone strings coming off the peghead, and 12 sympathetic strings strung to tuners mounted on a place of wood add to the side of the neck. The melody strings are on what we would be consider the trible side of the neck and the drone strings are on the bass side. The drone strings are lower in height than the melody strings to allow for unrestricted playing of the melody strings.

The sympathetic strings run underneath the melody and drone strings to yet another level on the bridge. The tuning varies according to the rage being played. A 'Tumba' (gourd) is fixed on the back side of the neck of the finger board for better sound as well as for holding the Mohan Veena. The instrument has a carved spruce top, mahogany back and side, a side mahogany neck, a flat, fretless, rosewood fingerboard.

The Mohan Veena is under tremendous tension, estimated, total strings pull to be in excess of 500 pounds. It is due to his high tension the tone tuners incredible with the sympathetic ringing out and strengthening each note played. This is a loud instrument made to cut through in situation with low amplification.

Reference:-

- Internet Sources.
- Proceeding- published by Dayalbagh Educational Instituite, Agra.
- Newspaper- The Hindu.

संपादक
भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका)
दरभंगा

प्रिय महोदय,
भैरवी के एक वर्ष (2 अंक) ...../-रूपए/तीन वर्ष (6 अंक) ...../-रूपए/पाँच वर्ष (10 अंक) ...../-रूपए/आजीवन ...../-रूपए का चैक/ड्राफ्ट संलग्न कर रहा हूँ। कृपया मुझे वार्षिक/तीन वर्ष के लिए/पाँच वर्ष/आजीवन के लिए ग्राहक बना लें और मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भिजवाएँ।

(हाँ, अगर आप दिल्ली के बाहर का चेक हमें भेज रहे हैं तो कृपया बैंक कमीशन के 40/- रूपए उसमें अतिरिक्त जोड़ दें यानि चेक हमें 240/- रूपए का भेजें।)

यहाँ से काटिए

नाम .....
पता .....
.....
.....
.....
टेलीफोन नं. .....

चेक/ड्राफ्ट **संपादक, भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका)**, दरभंगा के नाम पर ही बनाएँ और निम्नलिखित पते पर हमें भेजने की कृपा करें :

प्रधान सम्पादक
डॉ. पुष्पम नारायण

प्रकाशक : मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004
दूरभाष - 06272 248340
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

अंक आप भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका) के नाम मनीआर्डर भेजकर भी मंगा सकते हैं या फिर वी.पी.पी. से।

विदेश में :
हवाई डाक : एक प्रति 10 अमेरिकी डॉलर/ब्रिटिश पाउंड
समुद्री डाक : एक प्रति 5 डॉलर/3 पाउंड